संवर्ग–1 : भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन

इकाई–1 : भारतीय शासन अधिनियम 1919

संरचना

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 1919 के अधिनियम पारित होने के कारण

- 1.2.1 1909 के अधिनियम की असफलता
- 1.2.2 साम्प्रदायिक चुनाव व्यवस्था की शुरुआत
- 1.2.3 प्रथम विश्व युद्ध का शुरू होना
- 1.2.4 होमरूल आन्दोलन का शुरू होना
- 1.2.5 कांग्रेस लीग योजना
- 1.2.6 भारतीय जनता में जागृति आना
- 1.2.7 समाचार पत्रों व साहित्य की भूमिका

1.3 1919 के अधिनियम की विशेषताएँ

- 1.3.1 गृह सरकार
- 1.3.2 गवर्नर जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद्
- 1.3.3 केन्द्रीय विधानमण्डल
- 1.3.4 साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति का विस्तार
- 1.3.5 नरेश मण्डल की स्थापना
- 1.3.6 केन्द्रीय व प्रांतीय कार्यकारिणी में अधिक भारतीयों को लेने की व्यवस्था
- 1.3.7 वयस्क मताधिकार का विस्तार
- 1.3.8 प्रांतीय विषयों का बंटवारा

1.4 प्रान्तों में द्वैध शासन के लक्षण

- 1.4.1 केन्द्र व प्रान्तों में विषयों का बंटवारा
- 1.4.2 प्रान्तीय विषयों का दो भागों में विभाजन
- 1.4.3 केन्द्रीयकरण में कमी
- 1.4.4 राज्यपालों के लिए निर्देश पत्र
- 1.4.5 राज्यपाल की विशेष जिम्मेदारियाँ
- 1.4.6 आरक्षित तथा हस्तान्तरित पक्षों में सम्बन्ध तथा गवर्नर जनरल का महत्त्वपूर्ण कार्य
- 1.4.7 गवर्नर का वित्त पर नियंत्रण

1.5 द्वैध शासन व्यवस्था की असफलता के कारण

- 1.5.1 सैद्धान्तिक दृष्टि से दोषपूर्ण
- 1.5.2 प्रांतीय विषयों का अतार्किक बंटवारा
- 1.5.3 राज्यपाल संवैधानिक प्रमुख नहीं
- 1.5.4 संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना का अभाव
- 1.5.5 मंत्रियों का नौकरशाही पर नियंत्रण नहीं
- 1.5.6 वित्तीय कठिनाइयां
- 1.5.7 कार्यपालिका के दोनों अंगों में पारस्परिक विचार–विमर्श का अभाव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.5.8 विधान परिषद् का दोषपूर्ण संगठन
1.5.9 देश की राजनैतिक स्थिति
1.5.10 सुधारों के प्रति कांग्रेस का सहयोग
1.6 सारांश

1.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास एवं ब्रिटिश सरकार द्वारा संवैधानिक सुधारों के विभिन्न चरणों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत अध्याय को पढ़ने से आपको निम्न जानकारी प्राप्त होगी–

- 1909 के अधिनियम की असफलता के कारणों को समझ सकेंगे,
- 1919 के अधिनियम की प्रमुख विशेषताओं की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- प्रान्तों में द्वैध शासन प्रणाली का विश्लेषण कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

संविधान प्रत्येक राष्ट्र की आत्मा होती है। जिस प्रकार आत्मा के अभाव में प्राणी का कोई अस्तित्व नहीं ठीक उसी प्रकार संविधान के बिना राष्ट्र अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता क्योंकि संविधान केवल कानूनों का संग्रह नहीं अपितु भविष्य में राष्ट्र और उसके समाज का मार्ग प्रशस्त करता है। किसी भी देश का संविधान और शासन एक दिन की उपज नहीं होता यह एक ऐतिहासिक विकास का परिणाम होता है।

अंग्रेज भारत में व्यापार करने के उद्देश्य से आये थे इसलिए सर्वप्रथम 31 दिसम्बर 1600ई. को ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की परन्तु तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का फायदा उठाकर उन्होंने आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों क्षेत्रों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। लेकिन इसके साथ ही साथ धीरे–धीरे भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना का उदय होने लगा और ब्रिटिश हुकूमत से मुक्ति पाने के प्रयास किये जाने लगे। जिसका प्रथम प्रयास 1857 की क्रांति के रूप में दिखाई दिया। यद्यपि इसे कुचलने में अंग्रेज सफल हुए परन्तु भारतीयों में अंग्रेजों के प्रति असंतोष की भावना भड़कने लगी और स्वतन्त्रता की मांग ओर जोर पकड़ने लगी। अतः अंग्रेजों ने अपने साम्राज्य की जड़ों को मजबूत करने तथा भारतीयों के असंतोष को शान्त करने के लिए अनेक संवैधानिक कदम उठाए ताकि भारतीयों में यह सन्देश जाए कि अंग्रेज उनकी शासन व्यवस्था में भागीदारी बढ़ाने में कितने उत्सुक हैं परन्तु वास्तव में ये सुधार ओस की बून्दों से प्यास बुझाने के समान था। भारतीयों की मांगे बढ़ती गयी और अंग्रेजी सरकार शासन अधिनियम लाती गयी। इसी कड़ी में 1919 का भारत शासन अधिनियम प्रमुख है। इससे पूर्व भी अनेक अधिनियम आये। जिनमें 1773 का रेग्युलेटिंग अधिनियम 1853 का चार्टर अधिनियम, 1858 का अधिनियम 1909 का मिन्टो–मार्ले सुधार अधिनियम आदि।

1919 के अधिनियम का प्रमुख उद्देश्य शासन में भारतीयों की अधिक से अधिक भागीदारी सुनिश्चित करना था। इसीलिए इस अधिनियम के तहत् प्रान्तों में द्वैध शासन प्रणाली शुरू की गई ताकि भारत में धीरे–धीरे राजनीतिक क्रियाकलापों के बारे में जानकारी हासिल कर सके। अंग्रेजों का यह मानना था कि ब्रिटिश राजा की छत्रछाया में ही संवैधानिक सुधार लाया जा सकता है। इस कारण गृह सरकार गवर्नर जनरल की स्थिति में परिवर्तन नहीं किया गया और प्रान्तों में गवर्नरों को विशेष शक्तियां दी गई।

जी.एन.सिंह के अनुसार ब्रिटिश राज्याधीन भारत के इतिहास में 1909 से 1919 का युग सबसे छोटा है, किन्तु यह काल अत्यन्त महत्वपूर्ण घटनाओं से परिपूर्ण है। इन वर्षों में भारतीय राजनीति में कुछ ऐसी घटनाएं घटित हुई जिन्होंने संवैधानिक विकास के मार्ग को आगे बढ़ाया। इस समय की राजनीतिक परिस्थितियों में भी व्यापक परिवर्तन आ चुका था। अंग्रेजों के विरूद्ध चारों तरफ से आवाज उठ रही थी। संवैधानिक सुधारें से जन असंतोष कम होने के बजाय बहुत बढ़ रहा था। अतः ब्रिटिश सरकार को बाध्य होकर 1919 का सुधार अधिनियम लाना पड़ा। इसके प्रमुख कारण इस प्रकार हैं –

1.2 1919 के अधिनियम पारित होने के कारण

1919 के अधिनियम के जहां तक आने का कारण तो यह है कि 1909 के अधिनियम की गलतियों के कारण भारतीय जनता में असंतोष का दीप प्रज्जवलित हो चुका था। इसके अलावा जो अन्य महत्वपूर्ण कारण थे वे निम्न है–

1.2.1 1909 के अधिनियम की असफलता–1909 में जो मार्ले–मिण्टो सुधार आया, उससे भारतीय जनता में असंतोष और अधिक बढ़ गया था क्योंकि इसके तहत् सुधारों के नाम पर आम जनता का गला घोटा जा रहा था। इसके अनुसार सारा नियंत्रण गवर्नर जनरल ने अपने पास रखा था और विधान परिषदों को मात्र वाद–विवाद करने वाला क्लब बना दिया था। इस प्रकार भारतीय आम जनता की उत्तरदायी सरकार की जो मांग थी उसको पूर्णतया कुचल दिया गया।

1.2.2 साम्प्रदायिक चुनाव व्यवस्था की शुरूआत–अंग्रेज यह नहीं चाहते थे कि भारत के हिन्दु तथा मुस्लिम एक रहे, क्योंकि इनका एक रहना उनके लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता था अतः 1909 से पूर्व 1905 में बंगाल विभाजन किया, 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना की और 1909 में मुसलमानों को पृथक निर्वाचन देकर उनके घाव पर नमक छिड़कने का कार्य किया। अतः भारतीय जनता को शांत करने के उद्देश्य से यह नया अधिनियम लाया गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.2.3 प्रथम विश्वयुद्ध का शुरू होना–1914 में प्रथम विश्व युद्ध शुरू हो चुका था। इसको इंग्लैण्ड सहित मित्र राष्ट्रों ने लोकतंत्र की रक्षा के लिए लड़ा जाने वाला युद्ध ष्की संज्ञा दी और भारत को इस युद्ध में इस वचन के साथ शामिल किया कि युद्ध की समाप्ति के बाद भारत में कनाड़ा और आस्ट्रेलिया की तरह औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित कर दिया जायेगा। अतः अंग्रेजों द्वारा अपने इस वचन को पूरा करने के उद्देश्य से यह 1919 का अधिनियम लाया गया।

1.2.4 होमरूल आंदोलन का शुरू होना–जो वचन ब्रिटिश सरकार ने प्रथम विश्व युद्ध से पहले दिया था उस पर गोरी सरकार ध्यान नहीं दे रही थी। भारत में ब्रिटिश ताज के अधीन साम्राज्य स्थापित कर दिया जाएगा अतः इस ओर ध्यान इंगित करवाने के लिए 1918 में एनी बिसेन्ट तथा तिलक के नेतृत्व में एक आन्दोलन हुआ, उसको होमरूल आन्दोलन कहा गया। अतः विवश होकर सरकार को 1919 का अधिनियम लाना पड़ा।

1.2.5 कांग्रेस लीग योजना–कांग्रेस व मुस्लिम लीग ने अपने आपसी मतभेद भुलाकर ब्रिटिश सरकार के सम्मुख एक नवीन सुधारों की योजना रखी जिसको कांग्रेस लीग योजना कहा गया।

1.2.6 भारतीय जनता में जागृति आना–भारतीय जनता अपनी विभिन्न परेशानियों, कष्टों तथा पीड़ाओं से पत्थर के समान गोल हो चुकी थी और उनके मन में यह बात घर कर गयी थी कि भारत को येन केन प्राकारेण आजादी दिलानी हैं भले ही इसके लिए उन्हें अपना सब कुछ क्यों नहीं खोना पड़े। अतः सरकार को 1919 के अधिनियम की घोषणा करनी पड़ी।

1.2.7 समाचार पत्रों व साहित्य की भूमिका–भारत के विभिन्न नेता तथा क्रान्तिकारी, जनता को अपनी भावना से अवगत करवाने तथा अत्याचारी सरकार के जुल्मों को आम जनता तक पहुंचाने के लिए समाचार पत्रों व अन्य साहित्यों का इस्तेमल कर रहे थे। अतः इससे जनता में जन जागृति का संचार होने लगा और वे स्वतंत्रता की मांग करने लगे।

इस प्रकार उपरोक्त विभिन्न कारणों से विवश होकर ब्रिटिश सरकार की तरफ से भारत सचिव को यह घोषणा करनी पड़ी कि ब्रिटिश सरकार का लक्ष्य भारत में एक उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना है और भारतीयों को शासन का अधिक भाग देना है, परन्तु यह धीरे–धीरे ही सम्भव है। इस घोषणा के आधार पर ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक अधिनियम पास किया जिसको भारत सरकार का 1919 का अधिनियम कहा जाता है। इस अधिनियम के सन्दर्भ में माण्टेग्यू ने कहा कि ष्1919 के सुधार अधिनियम द्वारा भारत को स्थायी शासन नहीं दे सकते हैं। ये सुधार अस्थायी है। ये सुधार ब्रिटिश पार्लियामेन्ट द्वारा संचालित सरकार तथा भारतीय जनता के प्रतिनिधियों द्वारा चलने वाली सरकार के बीच एक पुल है।

1.3 1919 के अधिनियम की विशेषताएँ या प्रमुख धाराएँ

प्रस्तावना :– 1919 के अधिनियम की प्रस्तावना में जो प्रमुख बातें कही गयी, वे निम्नलिखित हैं–

1. प्रशासन में भारतीयों का सम्पर्क बनाना
2. भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अभिन्न अंग बना रहेगा
3. स्वशासन की संस्थाओं का विकास करना
4. भारत में ब्रिटिश नीति का प्रमुख लक्ष्य उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना
5. यह कार्य शनैः–शनैः व क्रमिक ढंग से पूरा करना
6. प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना

1.3.1 गृह सरकार–गृह सरकार से हमारा अभिप्राय ब्रिटेन में स्थित सरकार से था और उसके द्वारा ही भारत के समस्त प्रशासनिक कार्यों को पूरा किया जाता था। गृह सरकार को हम पांच भागों में बांट सकते है। वह निम्नलिखित है :–

1. सम्राट :– सम्राट राज्य का प्रमुख होता था। यह पद वंशानुगत था। उसके द्वारा प्रधानमंत्री, मंत्रिमण्डल, भारत सचिव की नियुक्ति तथा गवर्नर जनरल तथा अन्य प्रमुख पदाधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी।

2. प्रधानमंत्री :– जहां सम्राट राज्य का प्रमुख होता था, वहीं दूसरी तरफ प्रधानमंत्री शासन का प्रमुख होता था। वास्तव में समस्त प्रकार की नियुक्ति उसके द्वारा की जाती थी। वह सामुहिक रूप से संसद या व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता था।

3. मंत्रिमण्डल :– केबिनेट का निर्माण प्रधानमंत्री के परामर्श से सम्राट करता था और यह मंत्री प्रधानमंत्री के विभिन्न कार्यों में सहयोग करते थे। मंत्रियों को पृथक–पृथक विभाग प्रदान किया जाता था जैसे गृह–सचिव, सैन्य सचिव, विदेश सचिव तथा भारत सचिव आदि। इनका कार्यकाल 5 वर्ष तक होता था पर सम्राट इनको पहले भी हटा सकता था। इन मंत्रियों को उचित वेतन एवं अन्य सुविधाएं प्रदान की जाती थी। प्रत्येक मंत्री अपने कार्य के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता था तथा उसको प्रश्न पूछने पर उत्तर देना होता था तथा कोई भी सदस्य उसकी निन्दा कर सकते थे एवं अविश्वास प्रस्ताव भी रख सकते थे।

4. भारत सचिव :– भारत सचिव ब्रिटिश संसद का एजेन्ट होता था। यह पद एक मंत्री के समान होता था। वह अपने कार्यों के लिए ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

होता था। उसको ब्रिटिश संसद में पूछे प्रश्न व पूरक प्रश्न का उत्तर देना होता था और अगर सदस्य उसके उत्तर से सहमत नहीं होते तो वे विरोध भी कर सकते थे। वह भारत सरकार को कोई भी आदेश दे सकता था। भारत में गवर्नर जनरल की नियुक्ति करते समय उसकी सलाह भी ली जाती थी। भारत सचिव का भारत के शासन पर काफी अधिकार था। कोई भी महत्वपूर्ण नियुक्ति गवर्नर जनरल उसकी स्वीकृति के बिना नहीं कर सकता था। भारत सचिव को किसी भी अधिकारी को पद से हटाने का अधिकार था। उसकी पूर्व स्वीकृति के बिना कोई महत्वपूर्ण पद समाप्त नहीं किया जा सकता था। 1919 के अधिनियम से पूर्व भारत सचिव को भारत कोष से वेतन मिलता था। लेकिन अब उसको वेतन ब्रिटिश कोष से मिलने लगा।

5. भारत परिषद :– भारतीय कार्यों का सफलता के साथ सम्पादन करने के लिए गृह सरकार के तहत् भारत परिषद नाम का एक संगठन था। इसका अध्यक्ष भारत सचिव होता था। 1919 के अधिनियम के तहत् इसमें कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। इसकी सदस्य संख्या 8–12 कर दी गयी, इनके पहले वेतन भारतीय कोष से मिलता था। अब यह ब्रिटिश कोष से मिलने लगा। परिषद के सदस्यों का कार्यकाल 7 वर्ष से घटाकर 5 वर्ष कर दिया गया। पहले इसकी बैठकें प्रति माह होती थी, अब यह प्रति सप्ताह होने लगी।

1.3.2 गवर्नर जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद्–1919 के अधिनियम के तहत् गवर्नर जनरल एवं उसकी कार्यकारिणी की शक्ति में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया। पहले की तरह शक्तियाँ गवर्नर जनरल व उसकी कार्यकारिणी के पास रही। गवर्नर जनरल पर जन प्रतिनिधियों का कोई नियंत्रण नहीं था और इस अधिनियम में उसकी शक्तियाँ ज्यों की त्यों निरंकुश, असीमित अनुत्तरदायी रही। यद्यपि गवर्नर जनरल अपनी शक्तियों का प्रयोग अपनी कार्यकारिणी परिषद की सलाह से करता था परन्तु यह उसकी इच्छा पर निर्भर करता था कि वह सलाह माने या न माने। गवर्नर जनरल कार्यकारिणी परिषद का प्रधान होता था। उसके द्वारा ही बैठकों की अध्यक्षता की जाती थी तथा कार्यकारिणी परिषद का चुनाव करते समय भारत सचिव गवर्नर जनरल से परामर्श लेता था। उसके द्वारा ही अपने सदस्यों में विभागों का बंटवारा किया जाता था। गवर्नर जनरल का पद इतना महत्वपूर्ण था कि वह भारतीय कार्यों के प्रति उत्तरदायी होता था। यह पद इतना शक्तिशाली था कि इसको अमेरिकी राष्ट्रपति से अधिक महत्वपूर्ण माना जाता था क्योंकि गवर्नर जनरल में समस्त कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका की शक्तियां निहित होती थी।

1. **वेतन :–** गवर्नर जनरल को 256000 रूपये वार्षिक वेतन और 172700 रूपये भत्ता मिलता था। इसके अलावा एक शानदार महल मिलता था।
2. **कार्यकाल :–** गवर्नर जनरल का कार्यकाल सामान्यतया 5 वर्ष निर्धारित किया गया था।
3. **गवर्नर जनरल की शक्तियाँ –**

1) कार्यपालिका सम्बन्धी :–

1. अपनी कार्यकारिणी परिषद के उपसभापति, पार्षदों, परिषद के सचिवों, लेफ्टिनेंट गवर्नरों की नियुक्ति करता था।
2. केन्द्रीय विधानसभा के दोनों सदनों में सदस्यों को मनोनीत करता था।
3. अपनी कार्यकारिणी की बैठकें बुलाना, अध्यक्षता करना तथा निर्णय लेना।
4. विदेशी विभाग, राजनैतिक विभाग, सीमा प्रदेश और भारतीय रियासतों से सम्बन्धित विभाग उसी के पास थे।
5. देश में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायी होता था।
6. लोक सेवकों पर नियंत्रण रखना।
7. कार्यकारिणी परिषद का अन्तिम निर्णय उसी का होता था।
8. देशी रियासतों पर नियंत्रण रखना।

2) विधायी शक्ति :–

1. केन्द्रीय विधानमण्डल की बैठके बुलाना, स्थगित करना, किसी सदन को विघटित करना या उसके कार्यकाल में वृद्धि करना।
2. दोनों सदनों की संयुक्त बैठकें बुलाना उसमें भाषण देना अथवा सन्देश भेजना।
3. व्यवस्थापिका में प्रस्तावित किसी विधेयक को रोक लेना
4. सैन्य, विदेशी मामलों, सार्वजनिक ऋण, प्रान्तीय विषयों के मामलों के संबंध में विधेयक पेश करने के लिए उसकी पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी।
5. सदस्य द्वारा पूछे गये प्रश्न या पूरक प्रश्न का उत्तर देना या देने से मना करना।
6. व्यवस्थापिका के कार्य संचालन के नियम बनाना।
7. केन्द्रीय व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयक पर हस्ताक्षर करना।
8. किसी विधेयक को ब्रिटिश सरकार की मंजूरी के लिए रोकना।
9. दोनों सदनों द्वारा अस्वीकृत विधेयक को अपनी विशेष शक्ति से कानून बना देना।
10. अध्यादेश जारी करना।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Jodhpur

3) वित्तीय शक्तियां

केन्द्रीय बजट उसी की ही देख रेख में तैयार किया जाता था और फिर उसके बाद पहले केन्द्रीय विधानसभा और बाद में राज्य परिषद में पेश किया जाता था। बजट के दो भाग होते थे। प्रथम भाग में सरकार के आवश्यक खर्चे से संबंधित 70 प्रतिशत भाग होता था, जिस पर मतदान नहीं हो सकता था। द्वितीय 30 प्रतिशत का भाग, जिस पर मतदान हो सकता था लेकिन गवर्नर जनरल इसमें से किसी भी अस्वीकृत मांग को प्रमाणीकरण की शक्ति से स्वीकृति प्रदान कर सकता था।

इस प्रकार गवर्नर जनरल की उपर्युक्त शक्तियों के उल्लेख के पश्चात यह कहा जा सकता है कि गवर्नर जनरल भारत का सर्वोच्च अधिकारी था। उसके आदेश के बिना पेड़ का पत्ता तक नहीं हिल सकता था। वह निरंकुश तथा असीमित व अनुत्तरदायी होता था और 1919 के अधिनियम में उसकी शक्ति और स्थिति ज्यों की त्यों बनायी रखी गयी।

1.3.3 केन्द्रीय विधानमण्डल–1919 के अधिनियम के तहत् सबसे प्रमुख सुधार केन्द्रीय विधानमण्डल में हुआ। पहली बार केन्द्र में दो सदन कर दिये गये। पहले सदन को विधानसभा और दूसरे सदन को राज्य सभा कहा जाता था। पहले सदन में सदस्यो की कुल संख्या 145 थी और दूसरे में 60 इन दोनों की कुल सदस्य संख्या 205 थी।

1.3.4 साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति का विस्तार–अंग्रेजों ने भारत में अपनी पकड़ को मजबूत करने के लिए फूट डालो और राज करो की नीति अपनायी अतः उन्होंने इस बात का अनुभव किया कि भारत के हिन्दु व मुस्लिम नजदीक आ रहे हैं। इसलि उनमें फूट डालने के लिए अनेक ठोस कदम उठाये, जिनमें साम्प्रदायिक चुनाव प्रणाली भी एक है। 1909 के अधिनियम द्वारा भारत में मुसलमानों के लिए यह शुरू कर दी गयी और 1919 के अधिनियम में इसका विस्तार करते हुए यह व्यवस्था सिक्खों तथा आंग्ल भारतीयों के लिए शुरू कर दी गयी ।

1.3.5 नरेश मण्डल की स्थापना–भारत के दो भाग थे एक वह जिस पर अंग्रेजों का प्रत्यक्ष नियंत्रण था और दूसरा भाग रियासतों का था। जिनकी संख्या सम्पूर्ण भारत में लगभग 600 थी। अत अंग्रेजों द्वारा इन नरेशों पर अपने नियंत्रण को मजबूत करने के लि, नरेश मण्डल की स्थापना की गयी, इसमें कुल 121 नरेशों को शामिल किया गया। इस मण्डल का अध्यक्ष वायसराय (गवर्नर जनरल) होता था। इसके अतिरिक्त प्रत्येक रियासत में एक रेजीडेन्ट होता था, जिसकी नियुक्ति वायसराय करता था। नरेश मण्डल की बैठकें वर्ष में एक बार होनी अनिवार्य थी। इनकी अध्यक्षता वायसराय करता था। नरेश मण्डल एक परामर्शदात्री संस्था थी जो रियासतों को विभिन्न मुद्दे पर परामर्श देती थी।

1.3.6 केन्द्रीय व प्रान्तीय कार्यकारिणी में अधिक भारतीयों को लेने की व्यवस्था–इसके तहत् केन्द्रीय कार्यकारिणी के सदस्यों की संख्या अब गवर्नर जनरल पर निर्भर रहेगी तथा भारतीयों की सदस्य संख्या 1 से बढ़ाकर 3 कर दी गयी। इसके अलावा इसमें यह प्रावधान किया गया कि आधे सदस्य वे होंगे जो 10 वर्ष तक भारत की सेवा कर चुके हैं तथा भारत छोड़े उन्हें पांच वर्ष से ज्यादा न हो तथा जिसको 10 वर्ष तक बकालात का अनुभव हो।

1.3.7 केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विषयों का बंटवारा–1919 के अधिनिबम के द्वारा दोहरी शासन व्यवस्था की शुरूआत हुई थी। इस व्यवस्था के तहत् सरकार द्वारा कार्यों को दो भागों में विभाजित किया गया। प्रथम केन्द्रीय सूची जिसमें केन्द्र के महत्व के 47 विषय शामिल किये गये जैसे विदेश, वित्त, सेना, मुद्रा, रेल, डाक आदि वहीं दूसरी तरफ राज्य सूची में कम महत्व के विषयों को शामिल किया गया, जिनकी संख्या 50 थी जैसे स्थानीय स्वशासन, चिकित्सा, स्वास्थ्य, जेल, सफाई, न्याय , सहकारिता, पुलिस, पानी की सप्लाई, जंगल, अकाल सहायता, कृषि, भूमिकर आदि विषय प्रान्तीय सरकारों को दिये गये। इसमें यह भी कहा गया कि अगर गवर्नर जनरल व उसकी कार्यकारिणी किसी विषय को स्थानीय महत्व का घोषित कर दे तो उस विषय पर कानून बनाने का अधिकार प्रान्तों का हो जाता था।

1.3.8 वयस्क मताधिकार का विस्तार–1919 के अधिनियम के तहत् मताधिकार का विस्तार किया गया। इसमें यह प्रावधान किया गया कि जो लोग ग्रामीण क्षेत्र में 10 रू. से 50 रू. भूमि कर के रूप में देते हैं उनको मताधिकार दे दिया जाये। नगरों में जो कम से कम 2000 रू. वार्षिक आमदनी पर आयकर देते थे या जिनको 36 रू. मकान का किराया मिलता है या 36 रू. किराया देता है या जो नगरपालिका में कम से कम 3 रू. वार्षिक कर देते थे, वे अपना नाम मतदाता सूची में लिखा सकते थे।

1.3.9 प्रान्तीय विषयों का बंटवारा–1919 के अधिनियम के तहत् विषयों को केवल केन्द्र व प्रान्तों के बीच नहीं बांटा गया अपितु 50 प्रान्तीय विषयों को दो भागों में हस्तान्तरित (22) तथा रक्षित (28) विषय के मध्य बांटा गया। हस्तान्तरित विषय विधानसभा के सदस्यों को सौंपे गये जो गवर्नर की इच्छापर्यन्त अपने पद पर रहते, रक्षित विषय गवर्नर तथा उसके पार्षदों को दिये गये जो विधानसभा के सदस्य न होकर भारत सचिव के परामर्श पर सम्राट द्वारा नियुक्त किये जाते थे जिनका कार्यकाल 5 वर्ष होता था।

1.4 प्रान्तों में द्वैध (दोहरा) शासन के लक्षण

1919 के अधिनियम के तहत् सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव प्रान्तीय ढांचे पर पड़ा था क्योंकि यह पहला अवसर था जब भारत में प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना की गयी तथा एकात्मक व्यवस्था से संघात्मक व्यवस्था की ओर एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया । क्योंकि विषयों का बंटवारा केन्द्रीय सूची (47) तथा प्रान्तीय सूची (50) में बांटा गया था। 1919 के अधिनियम के तहत् पहली बार द्वैध शासन की स्थापना की गयी । अर्थात् प्रान्तीय सूची के विषयों को दो भागों में वर्गीकृत किया गया। (अ) हस्तान्तरित (22); (ब) रक्षित (28), हस्तान्तरित विषयों का कार्य गवर्नर द्वारा विधानसभा के सदस्यों को सौंपा गया जो विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होते थे, रक्षित विषयों पर गवर्नर की कार्यकारिणी का नियंत्रण होता था जो विधान सभा के सदस्य न होकर बल्कि भारत सचिव के परामर्श पर सम्राट 5 वर्ष के लिए नियुक्त करता था। इस प्रकार के शासन को दोहरा शासन कहा जाता है। द्वैध शासन प्रणाली के तहत् किस प्रकार की व्यवस्था की गयी थी उसको हम निम्न शीर्षकों द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.4.1. केन्द्र व प्रान्तों में विषयों का बंटवारा–द्वैध शासन व्यवस्था के तहत् सबसे पहले विषयों का बंटवारा केन्द्र सूची तथा प्रान्तीय सूची के रूप में किया गया। केन्द्रीय सूची में (47) वे विषय शामिल किये गये जो राष्ट्र महत्व के हो जैसे विदेश, प्रतिरक्षा, सार्वजनिक ऋण, बैंक, मुद्रा, रेल, डाक, तार, सीमा शुल्क, आयकर, विदेशियों को भारतीय नागरिकता प्रदान करना, उत्पादन कर, नमक, बीमा आदि। इसी प्रकार प्रान्तीय सूची में कम महत्व के (50) विषय जैसे स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक, स्वास्थ्य, सफाई, चिकित्सा विभाग, शिक्षा, पानी, जेल, न्याय , सहकारिता, जंगल, सिंचाई, अकाल सहायता, कृषि, भूमि कर इत्यादि। इस अधिनियम में यह प्रावधान किया गया कि अगर राज्य सूची व केन्द्रीय सूची के बीच कानून निर्माण के लिए कोई मतभेद उभर कर सामने आये तो उसका समाधान गवर्नर जनरल करेगा तथा इसमें गवर्नर जनरल व उसकी कार्यकारिणी को यह अधिकार दिया गया कि वह किसी विषय को स्थानीय महत्व का विषय घोषित कर सकता है।

1.4.2. प्रान्तीय विषयों का दो भागों में विभाजन–द्वैध शासन प्रणाली का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण यह था कि इसमें प्रान्तीय सूची के 50 विषयों को दो भागों में हस्तांतरित विषय 22 तथा रक्षित विषय 28 के रूप में विभाजित किया गया। इस प्रकार प्रान्तों में दो प्रकार का शासन या सरकारें स्थापित कर दी गई, वही द्वैध शासन प्रणाली कहलाती है। रक्षित विषय प्रान्तीय सूची का बंटवारा करके एक अलग विषय सूची बनायी वह रक्षित विषय कहलाये जिनकी संख्या 28 निर्धारित की गयी। इन विषयों में वे विषय रखे गये जो कुछ महत्वपूर्ण थे जैसे प्रेस, यूरोपियन तथा आंग्ल भारतीयों की शिक्षा, सिंचाई, भूमिकर, अकाल सहायता, न्याय–प्रशासन विषय रखे गये। इन कार्यों का दायित्व गवर्नर व उसकी कार्यकारिणी को सौंपा गया जिनकी नियुक्ति भारत सचिव के परामर्श पर ब्रिटिश सम्राट 5 वर्ष के लिए करता था। यह विधानसभा के पदेन सदस्य होते थे। यह विधानसभा की बैठकों में भाग लेते, प्रश्नों का उत्तर न देने पर भी विधानसभा उनके प्रति अविश्वास प्रस्ताव लाकर उन्हें हटा नहीं सकती थी और न ही उनके वेतन में कटौती की जा सकती थी। इन पार्षदों की संख्या सभी प्रान्तों में समान नहीं थी। बड़े प्रान्तों में इनकी संख्या 4 होती थी तथा छोटे प्रान्तों में इनकी संख्या 2 या 3 होती थी। प्रान्तीय सूची का दूसरा भाग हस्तांतरित विषय का था, जिनकी संख्या 22 थी। हस्तांतरित विषय वे थे जो भारतीय मंत्रियों को सौंपे गये थे। यह वे विषय थे जो कम महत्वपूर्ण थे तथा सरकार को इन विषय को सौंपने से कोई नुकसान नहीं था। इनमें कृषि, भारतीयों की शिक्षा, सफाई, जन्म–मृत्यु संबंधी आंकडे, माप–तौल इत्यादि। इन विषयों से संबंधी मंत्री के लिए यह शर्त थी कि वह विधानसभा का सदस्य हो। अगर कोई व्यक्ति सदस्य नहीं है और व मंत्री बन जाता है तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह 6 माह के भीतर विधान परिषद क सदस्य बने अन्यथा उसको अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता था। इन मंत्रियों की संख्या कोई ज्यादा नहीं थी। बम्बई, बंगाल तथा मद्रास में तीन तथा शेष प्रान्तों में 2 मंत्री होते थे। मंत्रियों की नियुक्ति गवर्नर द्वारा की जाती थी तथा वे गवर्नर के प्रसाद–पर्यत तक अपने पद पर बने रहते थे तथा वह जब चाहे तब हटा सकता था। विधानपरिषद भी मंत्रियों को हटा सकती थी। विधान परिषद के सदस्य उनसे प्रश्न पूछते, पूरक प्रश्न पूछते, उसकी आलोचना करना, निन्दा प्रस्ताव, कटौती प्रस्ताव तथ अविश्वास प्रस्ताव द्वारा पदच्युत कर सकते थे। लेकिन इसमें सामुहिक उत्तरदायित्व की भावना का अभाव पाया जाता था। इस प्रकार एक मंत्री के दो स्वामी होते थे।

1.4.3 केन्द्रीयकरण में कमी–1919 का अधिनियम तथा द्वैध शासन प्रणाली के तहत् प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी सरकारों की स्थापना की गयी। उसको सफल बनाने के लिए केन्द्रीयकरण में कमी की गयी। 1919 के अधिनियम से पूर्व प्रत्येक प्रान्तीय विषय के लिए गवर्नर जनरल की स्वीकृति लेनी पड़ती थी लेकिन अब इसमें काफी ढिलाई की गयी। जिसके तहत् हस्तांतरित विषयों तथा अधिकांश रक्षित विषय पर कानून बनाने के लिए गवर्नर जनरल की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं थी। इसके अलावा प्रशासन एवं वित्तीय क्षेत्र में भी नियंत्रण कम किया गया।

1.4.4 राज्यपालों के लिए निर्देश पत्र–राज्यपाल का मंत्रियों से अपने सम्बन्धों में मार्गदर्शन करने के लिए राज्यपालों को एक निर्देश पत्र जारी किया गया। भारत सरकार 1919 के अधिनियम में उपबन्ध रखा गया हस्तांतरित विषयों के बारे में राज्यपाल अपने मंत्रियों के परामर्श को तब तक मानेगा जब तक कि वह उनकी सम्मति से मतभेद रखने का कोई विशेष कारण न समझे। मतभेद होने पर वह मंत्रियों की सम्मति की उपेक्षा करके अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकेगा।

1.4.5 राज्यपाल की विशेष जिम्मेदारियां–द्वैध शासन प्रणाली के तहत् गवर्नर को कुछ विशेष जिम्मेदारियां सौंपी गयी, वे निम्नलिखित है –

अ) प्रान्तों के सभी भागों में सुरक्षा और शान्ति स्थापित की जाये, धार्मिक और नजातीय झगड़े दूर किये जाये तथा भारत सचिव व गवर्नर जनरल के द्वारा जारी किये गये आदेशों का पालन करवाया जायें।

ब) अल्पसंख्यक तथा पिछड़ी हुए जातियों के समाज कल्याण और प्रगति के लेए व्यवस्था करना।

स) अपने प्रान्त में लगे हुई नागरिक सेवाओं के सब सदस्यों के अधिकार और वेशेषाधिकार का प्रयोग करना ताकि अपने विशेष अधिकारों की रक्षा कर सके।

द) यह देखना कि सरकार का कोई आदेश या विधान परिषद का कोई अधिनियम लोगों को अपने विभिन्न हितों तथा लाभों से वंचित न करे।

1.4.6 आरक्षित तथा हस्तान्तरित पक्षों में सम्बन्ध तथा गवर्नर जनरल का महत्वपूर्ण कार्य–यद्यपि मंत्रियों तथा कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों की नियुक्ति के तरीकों, अवधि और विधान परिषद् के साथ सम्बन्धों में महान अन्तर था, तथापि 1919 के अधिनियम बनाने वालों का उद्देश्य नहीं था कि दो पक्ष अलग–अलग रहे, उनका यह इरादा था कि दोनों पक्ष गवर्नर के नेतृत्व में आपस में मिलजुल कर कार्य करे ताकि सरकार की एकता नष्ट हो सके। इसलिए बाद में बनाये गये नियमों में इस बात पर बल दिया गया कि गवर्नर दोनों पक्षों के बीच सामूहिक विचार–विमर्श को उत्साहित करे। इसका कारण यह था कि सरकार के अनेक विषय ऐसे थे, जिनका प्रभाव दोनों पक्षों पर पड़ता था।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

1.4.7 गवर्नर का वित्त पर नियंत्रण–वित्तीय विषय चूंकि रक्षित विषय था, अतः उस पर गवर्नर का बजट पर बहुत अधिक नियंत्रण था। बजट की तैयारी में उसका पूरा हाथ होता था। क्योंकि उसके आदेशों के अनुसार बजट का निर्माण होता था। आरक्षित व हस्तान्तरित विषय पर कितना खर्च होगा इसका निर्णय लेने के लिए वह मंत्रियों तथा कार्यकारिणी के सदस्यों की संयुक्त बैठक बुलाता था। दोनों पक्षों में मतभेद होने पर उसका अंन्तिम निर्णय गवर्नर का होता था। लगभग 70 प्रतिशत बजट पर मतदान नहीं होता था। विधान परिषद उसके बारे में निर्णय कर सकती थी तथा सलाह दे सकती थी, परन्तु यह गवर्नर की इच्छा पर निर्भर करता था कि वह इसको माने या न माने, 30 प्रतिशत बजट में विधान परिषद मतदान कर उसमें कटौती करवा सकती थी। प्रायः गवर्नर यह कहकर इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर देता था कि यह खर्च उस प्रशासन को ठीक तरह चलाने के लिए बहुत आवश्यक है।

1.5 द्वैध शासन व्यवस्था की असफलता के कारण

द्वैध शासन व्यवस्था 1919 के अधिनियम की प्रमुख उपज है। यद्यपि इस व्यवस्था के तहत् पहली बार प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन स्थापित किया गया, भारतीयों की शासन सत्ता में भागीदारी सुनिश्चित की गयी, भारत में एकात्मक व्यवस्था से संघात्मक व्यवस्था स्थापित करने का एक प्रयास किया गया, जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण प्रावधान प्रस्तुत किये गये, लेकिन इनमें वास्तविकता कुछ और थी। द्वैध शासन प्रणाली के दोषों को प्रस्तुत करते हुए के.वी. पुन्नियाह ने लिखा है "द्वैध शासन प्रणाली एक अनोखा प्रयोग था। इसका मुख्य प्रयोजन व उद्देश्य भारतीयों को उत्तरदायी शासन की कला में प्रशिक्षण देना था। निस्संदेह इसके निर्माता इस प्रणाली के दोषों और कमियों से परिचित थे। परन्तु वे सोचते थे कि तत्कालीन परिस्थितियों में उससे अधिक अच्छा कोई विकल्प न था।

द्वैध शासन प्रणाली की भारत में व्यापक आलोचनाएं हुई तथा इसका विरोध करने के लिए अनेक कांग्रेसी विधान परिषद में गये, ताकि इसको असफल बनाया जा सके। द्वैध शासन प्रणाली दिखने में तो बहुत ही अच्छी थी, पर वास्तविकता कुछ और थी। इसके तहत् जो विषयों का बंटवारा किया गया था वह पूर्णतया असंवैधानिक तथा अव्यावहारिक था। इसके अलावा इसमें उत्तरदायित्व की भावना का पूर्ण अभाव था। सरकार द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण विषयों को अपने पास रख लिया तथा शेष कम महत्व के विषय भारतीयों को सौंपे गये। अतः इस द्वैध शासन प्रणाली की व्यापक आलोचनाएं हुई जिसके कारण उसको असफल होना पड़ा। इसकी असफलता के कारण निम्नलिखित हैं:–

1.5.1 सैद्धान्तिक दृष्टि से दोषपूर्ण–1919 के अधिनियम की सबसे प्रमुख आलोचना यह है कि यह सैद्धान्तिक दृष्टि से दोषपूर्ण था। दोहरा शासन इस बात को मानकर चलता है कि भारतीय अभी पूर्ण उत्तरदायी शासन के योग्य नहीं हैं। अतः भारत में थोड़ी सी उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जाये। भारतीय मंत्रियों को कुछ साधारण अधिकार दिये गये ताकि भारतीय भी शान्त रहे तथा अंग्रेजों के हाथ से वास्तविक अधिकार न जाय। इस व्यवस्था के तहत् गवर्नर का नियत्रंण ज्यों का त्यों बना रहा अतः भारतीय अंग्रेजों के इस सुधार से पूर्णतया असंतुष्ट थे।

1.5.2 प्रान्तीय विषयों का अतार्किक बंटवारा–1919 के अधिनियम के तहत् भारत में विषयों का बंटवारा दो भागों में, प्रथम केन्द्रीय सूची 47 तथा द्वितीय प्रान्तीय सूची 50 के रूप में किया गया तथा इस अधिनियम के तहत् प्रान्तों में दोहरा शासन शुरू किया गया था इसके तहत् प्रान्तीय सूची के 50 विषयों को दो भागों में विभक्त किया गया था एक रक्षित विषय (28) जिन पर गवर्नर तथा उसकी कार्यकारिणी का नियंत्रण होता था तथा हस्तांतरित (22) विषयों पर भारतीय मंत्रियों का नियंत्रण था परन्तु इनका विभाजन पूर्णतया अव्यावहारिक था क्योंकि उस मंत्री के पास समुचित विभाग का नियंत्रण नहीं था जैसा कि मद्रास के एक मंत्री यू.के. रेड्डी ने मुद्दीमेन कमेटी के सामने गवाही देते हुए कहा था मैं कृषि मंत्री था पर सिंचाई से मेरा कोई संबंध नहीं था। इस प्रकार की स्थिति के कारण यह दोहरा शासन व्यवस्था असफल हो गयी।

1.5.3 राज्यपाल संवैधानिक प्रमुख नहीं–भारतीयों की मांग थी कि राज्यपाल को केवल संवैधानिक प्रमुख बनाये रखा जाये और तमाम शक्तियाँ मंत्रियों के पास हो लेकिन ऐसा नहीं था। अपितु इसमें यह व्यवस्था की गयी थी कि राज्यपाल को यह अधिकार होगा कि वह रक्षित व हस्तांतरित विषय के बारे में उठने वाले विवादों का समाधान करेगा। इसके लिए वह दोनों की संयुक्त बैठक बुलाकर विचार विमर्श कर अन्तिम निर्णय लेगा तथा शासन का संचालन उसके नाम से होगा

1.5.4 संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना का अभाव–द्वैध शासन प्रणाली की असफलता का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि इसमें संयुक्त उत्तरदायित्व की भावना का नितान्त अभाव पाया जाता था। रक्षित विषय से सम्बन्धित मंत्री तो विधान परिषद के सदस्य तक नहीं होते थे जिसके कारण उन्हें अविश्वास प्रस्ताव द्वारा नहीं हटाया जा सकता। वे विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होने की बजाय गवर्नर के प्रति उत्तरदायी होते थे। हस्तांतरित विषयों के मंत्री दल से सम्बन्ध न रखकर बल्कि विभिन्न दलों से लिए जाते थे । अतः ऐसी स्थिति में सामुहिक उत्तरदायित्व की भावना का सवाल ही नहीं उठता।

1.5.5 मंत्रियों का नौकरशाही पर नियंत्रण नहीं–प्रत्येक व्यवस्था में प्रशासनिक ढाँचे का एक प्रमुख आधार सरकारी सेवक होते है जिनके द्वारा कार्यों का संचालन किया जाता है जो अपना प्रत्येक कार्य मंत्रियों के नियंत्रण तथा निर्देशन में करते हैं। परन्तु द्वैध शासन प्रणाली के तहत् मंत्रियों का इन सरकारी सेवकों पर कोई नियंत्रण नहीं था। जिससे चारों ओर अव्यवस्था व अराजकता की स्थिति फैल गयी थी । अतः इसके कारण द्वैध शासन प्रणाली को असफल होना पड़ा।

1.5.6 वित्तीय कठिनाईयाँ–प्रथम विश्व युद्ध के बाद बड़ी भारी आर्थिक मंदी आयी। मंत्रियों को जो सबसे प्रमुख कठिनाई उठानी पड़ी वह आर्थिक थी। मेस्टन पंचाट के अनुसार प्रान्तीय सरकारों को प्रति वर्ष जो कुछ धन केन्द्रीय सरकार को देना पड़ा उससे प्रान्तों की आर्थिक स्थिति और खराब होने लगी। प्रान्तों में वित्तीय विभाग रक्षित विषय के तहत् था जिस पर गवर्नर व उसकी कार्यकारिणी का नियंत्रण होता था जो ज्यादातर रक्षित विषय से सम्बन्ध मंत्रियों का पक्ष लेते थे। हस्तान्तरित विभागों के मार्ग में अनेक प्रकार के रोड़े अटकाता था ताकि यह सिद्ध हो जाये कि भारतीय अयोग्य हैं। इस तरह हस्तान्तरित विभागों को हर समय धन का अभाव महसूस करना पड़ता था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.5.7 कार्यपालिका के दोनों अंगों में पारस्परिक विचार–विमर्श का अभाव–1919 के अधिनियम के तहत् प्रान्तों में जो द्वैध शासन प्रणाली अपनायी गयी वह पूर्णतया असफल रही। इसका मूलभूत कारण यह था कि सरकार के दोनों अंग रक्षित विषय तथा हस्तान्तरित विषय से संबंधित विभागों में पारस्परिक विचार–विमर्श का अभाव था।

1.5.8 विधान परिषद का दोषपूर्ण संगठन–प्रान्तों में जो विधान परिषदें बनाई गई थी उनका ढाँचा अत्यन्त दोषपूर्ण था। उसमें लगभग 30 प्रतिशत सदस्य सरकारी अधिकारी या सरकार द्वारा नामजद गैरसरकारी अधिकारी थे। जो सदस्य निर्वाचित थे वे भी विशेष हितों के प्रतिनिधि थे और उनमें से बहुत से सरकार को हर तरह से प्रसन्न करना चाहते थे ताकि वे अपने सम्प्रदायों के लिए अधिक से अधिक सुविधायें प्राप्त कर सकें।

1.5.9 देश की राजनैतिक स्थिति–द्वैध शासन प्रणाली के असफल होने में देश की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति बहुत कुछ उत्तरदायी थी। क्योंकि उस समय सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजों के विरूद्ध वातावरण बन चुका था तथा कांग्रेस की पकड़ देश की राजनीति पर काफी मजबूत होती जा रही थी तथा अब वह स्वराज्य की मांग तक करने लगी थी।

1.5.10 सुधारों के प्रति कांग्रेस का सहयोग–द्वैध शासन व्यवस्था के असफल होने का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि इनके प्रति कांग्रेस का असहयोगी रहना। कांग्रेस यह चाहती थी कि प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी सरकार की स्थापना की जाये तथा केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी लेकिन ऐसा नहीं हुआ। तो कांग्रेस ने इसका विरोध किया तथा विधान परिषद के चुनावों का बहिष्कार किया।

1.6 सारांश

इस प्रकार 1919 का भारत शासन अधिनियम अस्थायी था। इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था की स्थापना में राजनैतिक उत्तरदायित्व में वृद्धि नहीं हुई बल्कि भारतीयों में असन्तोष बना रहा।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. 1919 के अधिनियम के कारणों का उल्लेख करते हुए उसकी प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. द्वैध शासन क्या है? इसके लक्षण बताते हुए यह सिद्ध कीजिए कि यह सफल क्यों नहीं हो सका?
3. 1919 के अधिनियम के अनुसार गवर्नर जनरल की स्थिति एवं शक्तियों पर प्रकाश डालिये।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत शासन अधिनियम 1919 की प्रस्तावना बताओ।
2. गवर्नर जनरल की कार्यपालिका संबंधी शक्तियां लिखिए।
3. दोहरा (द्वैध) शासन का अर्थ स्पष्ट करो।
4. 1919 के अधिनियम के अनुसार प्रान्तीय गवर्नरों की स्थिति बताओ।
5. द्वैध शासन की असफलता के उत्तरदायी कारण लिखो।

अति लघुत्तरात्मक

1. 1919 के अधिनियम के अनुसार गवर्नर जनरल का वेतन व भत्ते कितना था?
2. केन्द्रीय विधानमण्डल को द्विसदनात्मक कब बनाया गया?
3. केन्द्रीय विधानमण्डल के दोनों सदनों के नाम एवं सदस्य संख्या बताओं ।
4. साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति की शुरूआत कब की गई ?
5. नरेश मण्डल की स्थापना कौन से अधिनियम से हुई ?
6. नरेश मण्डल का अध्यक्ष कौन होता था ?
7. केन्द्र प्रान्तों को कितने–कितने विषय दिये गये ?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सुभाष कश्यप, स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

सुभाष कश्यप, भारत का सांविधानिक विकास और संविधान, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

आर.सी.अग्रवाल, भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, एस.चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–2 : भारत शासन अधिनियम 1935 के अन्तर्गत शासन व्यवस्था एवं क्रियान्वयन

संरचना

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 1935 अधिनियम के पारित होने के कारण

- 2.2.1 1919 के अधिनियम के प्रति जनता में असन्तोष
- 2.2.2 संसदीय सरकार की स्थापना न करना
- 2.2.3 रोलेक्ट अधिनियम
- 2.2.4 प्रतिरक्षा अधिनियम
- 2.2.5 असहयोग आन्दोलन का शुरू होना
- 2.2.6 स्वराज्य दल की गतिविधियां
- 2.2.7 सविनय अवज्ञा आन्दोलन
- 2.2.8 मोतीलाल नेहरू द्वारा मांग करना

2.3 1935 के अधिनियम के लक्षण

- 2.3.1 1919 के अधिनियम की प्रस्तावना को जोड़ना
- 2.3.2 प्रान्तीय स्वायत्तता
- 2.3.3 अखिल भारतीय संघ
- 2.3.4 केन्द्र में दोहरा शासन
- 2.3.5 रक्षा कवच तथा संरक्षण
- 2.3.6 ब्रिटिश संसद की सर्वोच्चता
- 2.3.7 संघीय न्यायालय
- 2.3.8 विधानमण्डलों और मताधिकार का विस्तार
- 2.3.9 विषयों का बंटवारा
- 2.3.10 भारत परिषद् की समाप्ति
- 2.3.11 भारत सचिव के नियन्त्रण में कमी
- 2.3.12 साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति को कायम रखना
- 2.3.13 बर्मा, बरार एवं अदन से संबंधित निर्णय
- 2.3.14 गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारी शक्तियां

2.4 प्रान्तीय स्वायत्तता

- 2.4.1 प्रान्तीय स्वायत्तता का अर्थ
- 2.4.2 प्रान्तीय स्वायत्तता का स्वरूप

2.5 प्रान्तीय स्वायत्तता की विशेषताएँ

- 2.5.1 प्रान्तों में द्वैध शासन की समाप्ति
- 2.5.2 केन्द्र–राज्यों के बीच शक्तियों का बंटवारा
- 2.5.3 प्रान्तीय विषयों का प्रशासन
- 2.5.4 मंत्रियों का प्रान्तीय विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होना
- 2.5.5 प्रान्तीय विधानमण्डलों का पुनर्गठन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.5.6 प्रान्तों में स्वतन्त्र उच्च न्यायालय
2.5.7 पृथक् प्रान्तीय सेवा
2.5.8 प्रान्तों के लिए पृथक् आय के स्रोतों की व्यवस्था
2.5.9 गवर्नरों की स्थिति
2.5.10 मताधिकार का विस्तार
2.6 प्रान्तीय स्वायत्तता के दोष
2.6.1 गवर्नर जनरल को प्रान्तों में संकट कालीन घोषणा का प्रावधान
2.6.2 गवर्नर जनरल को प्रान्तीय गवर्नरों को निर्देश जारी करने का अधिकार
2.6.3 प्रान्तीय गवर्नरों द्वारा प्रान्तों में संवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा का अधिकार
2.6.4 विधेयक को गवर्नर जनरल की अनुमति के लिए रोकना
2.6.5 विधेयक प्रस्तुत करने से पूर्व गवर्नर जनरल की स्वीकृति
2.6.6 प्रान्तीय विषयों पर गवर्नर जनरल का नियंत्रण
2.6.7 मंत्रियों के क्षेत्र में गवर्नर जनरल का हस्तक्षेप
2.6.8 गवर्नर की प्रभावशाली स्थिति
2.6.9 गवर्नरों को वित्तीय मामलों में असाधारण शक्तियां प्राप्त थी
2.6.10 नौकरशाही पर मंत्रियों का नियंत्रण नहीं
2.6.11 मंत्रियों की नियुक्ति में गवर्नर का अधिकार
2.7 1935 के अधिनियम का वर्तमान संविधान पर प्रभाव
2.8 सारांश

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत 1935 के अधिनियम की विशेषताएँ एवं प्रान्तों में द्वैध शासन समाप्त करने के कारणों को समझाने का प्रयास किया गया है। इस अध्याय का अध्ययन के पश्चात् आप–

- 1935 के अधिनियम पारित होने के कारणों की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- 1935 के अधिनियम की विशेषताओं को समझ सकेंगे,
- प्रान्तीय स्वायत्तता असफल क्यों रही? कारण जान सकेंगे,
- 1935 के अधिनियम का वर्तमान संविधान पर क्या प्रभाव पड़ा? समझ सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

जब 1919 का अधिनियम पूर्णतया असफल हो गया जिससे भारतीयों में असंतोष की भावना समाप्त होने की बजाय और अधिक बढ़ी, तब विवश होकर ब्रिटिश सरकार को 1935 का अधिनियम पारित करना पड़ा। 1935 का अधिनियम भारतीयों तथा बाद में निर्मित भारतीय संविधान के लिए भी काफी महत्वपूर्ण साबित हुआ। क्योंकि इस अधिनियम के तहत् 1919 के अधिनियम में स्थापित प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी सरकारों को अब पूर्ण उत्तरदायी कर दिया गया तथा केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी शासन की स्थापना की गयी, जिसके तहत् केन्द्रीय सूची के 59 विषयों को दो भागों में विभाजित किया, रक्षित विषय जिसमें केवल 4 विषय प्रतिरक्षा, वित्त, धार्मिक सम्बन्धी तथा कबाईलियो के कल्याण से सम्बन्धी ही रखे गये जिन पर गवर्नर जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी का नियंत्रण होता था तथा शेष 55 विषय हस्तांतरित रखे गये जिन पर भारत मंत्रियों का नियंत्रण होता था। 1935 के अधिनियम की महत्वपूर्ण बात यह है कि आज हमारे संविधान का 75 प्रतिशत भाग इसी से लिया हुआ है।

2.2 1935 के अधिनियम के पारित होने के कारण

1935 के अधिनियम के पारित होने के निम्नलिखित कारण थे –

2.2.1 1919 के अधिनियम के प्रति भारतीयों में असंतोष–1935 के अधिनियम की जड़ 1919 के अधिनियम में निहित थी क्योंकि 1919 के अधिनियम से भारतीय जनता काफी असंतुष्ट थी। उन्होंने जिस प्रकार की मांगे रखी थी उनको उसमें शामिल नहीं किया गया था। इसके अतिरिक्त इसमें द्वैध शासन प्रणाली को अपनाया गया था। वह पूर्णतया अव्यावहारिक व असंवैधानिक थी। अतः सरकार को विवश होकर 1935 का अधिनियम लाना पड़ा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.2.2 संसदीय सरकार की स्थापना न करना–भारतीय जनता लम्बे समय से यह मांग कर रही थी कि भारत में भी ब्रिटेन की भांति संसदीय व्यवस्था की शुरूआत की जाय। अतः 1919 के अधिनियम में यह व्यवस्था नहीं होने पर 1935 के अधिनियम के माध्यम से देने का फैसला किया।

2.2.3 रोलेक्ट अधिनियम–1919 में ब्रिटिश सरकार ने एक अधिनियम पारित किया था। इससे पूर्व न्यायाधीश सर सिडनी रोलेक्ट की अध्यक्षता में एक कमेटी गठित की गयी और उसकी सिफारिशों के आधार पर यह अधिनियम पारित हुआ जिसके तहत् यह प्रावधान किया गया था कि किसी भी व्यक्ति को बिना किसी कारण के मुकदमा चलाकर गिरफ्तार कर लिया जाता था। इसके प्रति भारतीय जनता में व्यापक असंतोष की भावना का दीप प्रज्जवलित हुआ।

2.2.4 प्रतिरक्षा अधिनियम–ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में अपने नियंत्रण को मजबूत करने के उद्देश्य से भारतीय प्रतिरक्षा अधिनियम लाया गया, जिसके तहत् यह व्यवस्था की गयी थी कि यदि कोई व्यक्ति ऐसा कार्य कर रहा हो या प्रोत्साहन दे रहा हो जिससे राष्ट्रीय एकता को खतरा पैदा हो रहा हो तो उस व्यक्ति पर बिना मुकदमा चलाये बंदी बनाया जा सकता था। अतः इसका जो तीव्र विरोध हो रहा था, उसे शान्त करने के लिए 1935 का अधिनियम लाया गया।

2.2.5 असहयोग आन्दोलन का शुरू होना–कांग्रेस द्वारा अपने सितम्बर 1920 के कलकत्ता अधिवेशन में असहयोग आन्दोलन का निर्णय लेना पड़ा। जिसके पीछे अनेक कारण निहित थे उसमें से एक 1919 का जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड भी था। अतः जब यह अहिंसात्मक आन्दोलन अपने पूरे यौवन पर चढ़ चुका था, जिससे न केवल 1919 का अधिनियम असफल रहा अपितु 1935 की नींव तैयार हुई।

2.2.6 स्वराज्य दल की गतिविधियां–1923 में कांग्रेस का विभाजन हो गया तब देशबंधु चितरजन दास के नेतृत्व में इलाहाबाद में स्वराज्य दल बना। स्वराज्य दल का उद्देश्य चुनाव लड़कर विधानसभा में प्रविष्ठ होकर द्वैध शासन तथा सरकार की अन्य गैर कानूनी गतिविधियों का विरोध करते हुए उनको समाप्त करवाना था। अतः उसने ऐसा ही किया जिससे 1935 के अधिनियम की पृष्ठभूमि तैयार हुई।

2.2.7 सविनय अवज्ञा आन्दोलन–1919 के अधिनियम में यह बात बतलायी गयी थी कि द्वैध शासन प्रणाली की समीक्षा 10 वर्ष बाद अर्थात् 1929 में की जायेगी लेकिन सरकार द्वारा 1927 में विवश होकर एक आयोग का गठन किया गया। इसके सभी सदस्य अंग्रेज थे इसलिए कांग्रेस ने इसका बहिष्कार किया तथा 1930 में आयोग ने अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। उसके बाद प्रथम गोलमेज सम्मेलन बुलाया गया इसका भी कांग्रेस ने यह कहकर बहिष्कार किया कि इसमें पूर्ण स्वराज्य तथा संविधान बनाने के लिए नहीं बुलाया गया। 1931 में गांधी–इरविन समझौता हुआ उसके बाद 1932 में यह आन्दोलन पुनः शुरू हो गया। इस तरह जब 1919 का अधिनियम असफल हो गया तब सरकार को विवश होकर 1935 का अधिनियम पारित करना पड़ा।

2.2.8 मोतीलाल नेहरू द्वारा मांग करना–मोतीलाल नेहरू ने विधानपरिषद में एक निजी विधेयक प्रस्तुत किया जिसके तहत् उन्होंने यह मांग की कि भारत में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की जाए तथा भारत को अपना संविधान बनाने के लिए प्रोत्साहित किया जाये।

2.3 1935 के अधिनियम के लक्षण

2.3.1 1919 के अधिनियम की प्रस्तावना को जोड़ना–1935 के अधिनियम के तहत् कोई नई प्रस्तावना नहीं जोड़ी गयी अपितु वही प्रस्तावना रखी जो 1919 के अधिनियम में दी गयी थी। जो इस प्रकार है :–

अ) प्रशासन में भारतीयों का सम्पर्क बढ़ाना
ब) भारत ब्रिटिश साम्राज्य का अभिन्न अंग बना रहेगा
स) स्वशासन की संस्थाओं का विकास करना
द) भारत में ब्रिटिश नीति का प्रमुख उद्देश्य उत्तरदायी शासन की स्थापना करना
य) यह कार्य शनैः–शनैः तथा क्रमिक ढंग से पूरा होगा
र) प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना
ल) केन्द्र में आंशिक उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना

2.3.2 प्रान्तीय स्वायत्तता–1919 के अधिनियम के तहत् प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी सरकारों की स्थापना की गयी थी लेकिन 1935 के तहत् प्रान्तों में पूर्ण उत्तरदायी सरकारों की स्थापना की गयी। इस पद्धति के तहत् प्रान्तों को एक नया संवैधानिक दर्जा दिया गया और प्रान्तों को अपने अधिकांश मामलों में काफी स्वतन्त्र कर दिया गया। 1919 के अधिनियम द्वारा स्थापित द्वैध शासन प्रणाली का अन्त कर दिया गया और केन्द्र का नियंत्रण कम कर दिया गया। प्रान्तों का भार भारतीय मंत्रियों को सौंपा गया जो विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होते थे।

2.3.3 अखिल भारतीय संघ–1935 के अधिनियम की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसमें पहली बार अखिल भारतीय संघ की स्थापना की बात कही गयी थी इसमें यह कहा गया था कि केन्द्र में ब्रिटिश प्रान्तों और देशी रियासतों को मिलाकर एक संघ बनाया जायेगा। यह संघ 11 ब्रिटिश गवर्नर प्रान्तों, 6 चीफ गवर्नर प्रान्तों तथा 600 के करीब देशी रियासतों को मिलाकर बनाना था जिसमें केन्द्रीय ब्रिटिश प्रान्तों को इसमें शामिल होना अनिवार्य था तथा रियासतों के लिए ऐच्छिक था। प्रत्येक देशी रियासत को शामिल होने के लिए एक प्रवेश–लेख पर हस्ताक्षर करने पड़ते थे। जिसमें संघ व इकाईयों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों का उल्लेख था। रियासतें अपने आन्तरिक मामलों में स्वतन्त्र थी। संघ व रियासतों के बीच किसी प्रकार का विवाद उठने पर उसके लिए संघीय न्यायालय की स्थापना की गयी थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.3.4 केन्द्र में दोहरा शासन–जहां 1919 के अधिनियम में प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था की शुरूआत की गयी थी लेकिन 1935 के अधिनियम में केन्द्र में दोहरा शासन अपनाया गया। इसके तहत् केन्द्रीय सूची के 59 विषयों को दो भागों में विभक्त किया गया। रक्षित विषय जिसमें 4 विषय रखे गये प्रतिरक्षा, वित्तीय, धार्मिक मामले, कबाईलियों के कल्याण संबधी कार्य जिन पर गवर्नर जनरल तथा उसकी कार्यकारिणी का नियंत्रण होता था, जिनकी नियुक्ति भारत सचिव के परामर्श से सम्राट करता था। जिनका कार्यकाल 5 वर्ष होता था। इनकी संख्या 3 से अधिक नहीं होती थी।

दूसरी हस्तान्तरित विषयों की सूची थी जिसमें 54 विषय थे जिन पर भारतीय मंत्रियों का नियंत्रण होता था। इनकी संख्या अधिक से अधिक 10 होती थी। यह केन्द्रीय विधानमण्डल के सदस्य होते थे। जिनकी नियुक्ति गवर्नर जनरल करता था ऐसे व्यक्ति की सलाह से नियुक्त करता था जो बहुमत दल का नेतृत्व करता था। मंत्रिमण्डल विधानमण्डल के प्रति सामुहिक रूप से उत्तरदायी होता था। गवर्नर जनरल का यह कर्तव्य था कि वह मंत्री परिषद व सभासदों (पार्षदों) के बीच सामुहिक विचार–विमर्श को प्रोत्साहन दे।

2.3.5 रक्षा कवच तथा संरक्षण–1935 के अधिनियम की एक विशेषता यह भी धी कि इसमें अल्पमतों और अन्य वर्गों की रक्षा के लिए रक्षा कवच व संरक्षण की व्यवस्था की गयी थी। अंग्रेजों ने इसे 1935 के अधिनियम में शामिल करना इसलिए आवश्यक बताया ताकि बहुमत वाला सम्प्रदाय अल्पसंख्यकों पर हावी न हो सके। राष्ट्रवादियों ने इसका विरोध किया।

2.3.6 ब्रिटिश संसद की सर्वोच्चता–1935 के अधिनियम के तहत् ब्रिटिश संसद की प्रभुसत्ता ज्यों की त्यों बनी रखी गयी उसमें किसी भी प्रकार की कमी नहीं की गयी। इसके अलावा किसी भी अधिनियम में परिवर्तन करने का अधिकार केन्द्रीय विधानमण्डल या प्रान्तीय विधानमण्डल को दिया गया इसकी अन्तिम शक्ति तो ब्रिटिश संसद में ही निहित थी।

2.3.7 संघीय न्यायालय–1935 के अधिनियम में अखिल भारतीय संघ की स्थापना की बात कही गई थी। जिसकी दो इकाईयां थी केन्द्रीय प्रान्त तथा रियासतें अतः उनके मध्य उठने वाले किसी विवाद का निपटारा करने के लिए एक संघीय न्यायालय की स्थापना का प्रावधान किया गया। इसको 1935 के अधिनियम की व्याख्या करने का अधिकार था। यह भारत का सर्वोच्च न्यायालय नहीं था, बल्कि इसके विरूद्ध अपील प्रिवी कौंसिल में की जा सकती थी।

2.3.8 विधानमण्डलों और मताधिकार का विस्तार–1935 के अधिनियन के तहत् मताधिकार का विस्तार किया गया। प्रान्तों की 10 प्रतिशत जनता को मताधिकार प्रदान किया गया। इसी तरह प्रान्तीय विधानमण्डलों तथा केन्द्रीय विधानमण्डल की सदस्य संख्या में भी वृद्धि की गयी। राज्य सभा के सदस्यों की संख्या 260 और विधानसभा की सदस्य संख्या 375 निर्धारित की गयी थी। प्रान्तों में 11 में से 6 में दो–दो सदन बनाये गये।

2.3.9 विषयों का बंटवारा–1935 के अधिनियम में विषयों का बंटवारा कर तीन सूचियों का निर्माण किया गया था, केन्द्रीय सूची में 59 विषय, प्रान्तीय सूची में 54 विषय तथा समवर्ती सूची में 36 विषय केन्द्रीय सूची में राष्ट्रीय महत्व के विषय शामिल किये गये जैसे विदेश, वित्त, प्रतिरक्षा, मुद्रा, रेल, बैंक, डाक तार आदि जिन पर केन्द्रीय विधानमण्डल को कानून बनाने का अधिकार था। प्रान्तीय सूची पर कानून बनाने का अधिकार प्रान्तीय विधानमंडल के पास था।

समवर्ती सूची के विषय पर केन्द्रीय विधानमण्डल तथा प्रान्तीय विधानमण्डलों दोनों को ही कानून बनाने का अधिकार था। यदि प्रान्तीय व केन्द्रीय विधानमण्डल के बीच विवाद उठने पर केन्द्रीय कानून को माना जायेगा। इसके अलावा अवशिष्ट शक्तियां गवर्नर जनरल को सौंपी गयी।

2.3.10 भारत परिषद की समाप्ति–भारत परिषद की स्थापना 1858 के अधिनेयम द्वारा की गयी थी। भारतवासी हमेशा से ही भारत सचिव को परिषद को समाप्त करने की मांग कर रहे थे क्योंकि इसके सदस्यों पर लाखों का वार्षिक खर्च होता था। जिसका सारा भार भारतीय कोष पर ही पड़ता था। अतः 1935 के अधिनियम के तहत् इसको समाप्त कर दिया गया। इसके स्थान पर भारत सचिव को परामर्श देने के लिए कुछ सलाहकार नियुक्त किये गये थे जिनकी संख्या अधिक से अधिक 6 तथा कम से कम 3 निर्धारित की गई थी।

2.3.11 भारत सचिव के नियंत्रण में कमी–1935 के अधिनियम के तहत् भारत सचिव के नियंत्रण में कमी की गई, जिसके तहत् हस्तान्तरित विषय जिन पर मंत्रियों का नियंत्रण होता था उन पर से उसका नियंत्रण पूर्णतया हटा दिया गया । लेकिन रक्षित विषयों पर उसका नियंत्रण बरकरार रहा।

2.3.12 साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति को कायम रखना–भारत में साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति की शुरूआत 1909 के अधिनियम से हुई थी। जिसका प्रमुख उद्देश्य फूट डालो व राज करो या जिसको अंग्रेजों ने न केवल बनाये रखा अपितु उसका विस्तार किया। मुसलमानों को केन्द्रीय विधानमण्डल में 33 1/3 सीटें दी जो उनकी जनसंख्या के अनुपात से ज्यादा थी। 1935 के अधिनियम में मजदूरों और महिलाओं को अलग अधिकार दिये गये।

2.3.13 बर्मा, बरार, अदन से संबंधित निर्णय–इस अधिनियम द्वारा बर्मा को भारत से अलग कर दिया गया। अदन को भारत सरकार के नियंत्रण से मुक्त करके इंग्लैण्ड के उपनिवेश कार्यालय के अधीन कर दिया और बरार को शासन की दृष्टि से मध्य प्रान्त का अंग बना दिया।

2.3.14 गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारी शक्तियाँ–1935 के अधिनियम में गवर्नर जनरल की शक्ति एवं स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं किया बल्कि उसकी स्वेच्छाचारिता वैसी ही बनी रही। रक्षित विषयों पर उसका निर्णय अन्तिम होता था। इसके अलावा कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका पर उसका पूरा नियंत्रण होता था। गवर्नर जनरल केवल संवैधानिक प्रमुख न होकर वास्तविक प्रमुख था।

Jan Vishwa Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.4 प्रान्तीय स्वायत्तता

प्रान्तीय स्वायत्तता को जानने से पूर्व हमें यह जानना होगा कि स्वायत्तता क्या है? साधारण शब्दों में इससे हमारा अभिप्राय यह है कि जो भी क्षेत्र अपनी सीमा तक कार्य करने में पूर्ण स्वतन्त्र हो। भारत में स्वायत्तता की मांग काफी समय से चल रही थी लेकिन भारत ब्रिटिश सरकार ने इस ओर कोई उचित कदम नहीं उठाया, पर भारतीय जनता में स्वायत्तता की मांग आग की तरह फैलती जा रही थी। तब विवश होकर 1919 के अधिनियम में प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी (स्वायत्तता) की स्थापना की गई। इससे भारतीय जनता संतुष्ट होने के बजाय और अधिक असंतुष्ट हुई तब सरकार द्वारा बाध्य होकर 1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में पूर्ण स्वायत्तता की स्थापना कर दी गई। माण्टेग्यू चेम्सफोर्ड की रिपोर्ट में लिखा गया है कि प्रान्त ऐसे कार्यक्षेत्र हैं, जिनमें उत्तरदायी सरकार की शीघ्र प्राप्ति के लिए कदम उठाए जाये तथा कुछ जिम्मेदारी तुरन्त दे दी जाये और हमारा लक्ष्य पूर्ण जिम्मेदारी देने का है।

डॉ. राजेन्द्रप्रसाद के अनुसार ष्गवर्नर जनरल और पार्लियामेन्ट को दी गई विस्तृत शक्तियों ने प्रान्तीय स्वराज्य को नहीं के बराबर कर दिया जो कि भारतीयों के लिए सबसे बड़ा पुरस्कार था।

2.4.1 प्रान्तीय स्वायत्तता का अर्थ–प्रान्तों में ऐसी शासन व्यवस्था जिसका शासन उत्तरदायी मंत्रियों द्वारा संचालित होना चाहिए और उनके ऊपर कोई हस्तक्षेप न हो अर्थात् उस प्रशासन पर केन्द्रीय नियंत्रण कम से कम हो।

2.4.2 1935 के अधिनियम में प्रान्तीय स्वायत्तता का स्वरूप–1935 के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में रक्षित व हस्तांतरित विषयों के विभाजन को समाप्त कर दिया गया। इस प्रकार प्रान्तीय क्षेत्र में द्वैध शासन का अन्त कर दिया गया। इस अधिनियम द्वारा प्रत्येक प्रांत में कार्यपालिका एवं विधानमण्डल की व्यवस्था की गई। प्रान्तीय सरकार का संचालन जनता के प्रतिनिधियों मंत्रियों को सौंपा गया और यह आशा की गई प्रान्तीय गवर्नर के परामर्श से शासन कार्य संचालित करेंगे। प्रान्तीय गवर्नरों को निर्देश दिया गया कि वे प्रान्तीय विधानमण्डलों में बहुमत दल नेता के परामर्श से मंत्रिमण्डल का निर्माण करे। मत्रिमण्डल विधानसभा के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया। गवर्नरों के वेतन भत्ते निश्चित करने का अधिकार विधानमण्डलों को सौंपा गया। प्रान्तीय प्रशासन पर से केन्द्रीय नियंत्रण को कम कर दिया गया और प्रान्तीय विधानमण्डल को केन्द्रीय विधानमण्डल से मुक्त कर प्रान्तीय सूची तथा समवर्ती सूची के विषयों पर कानून बन ने का अधिकार प्रदान किया गया जिनकी संख्या क्रमशः 54 व 36 थी।

2.5 प्रान्तीय स्वायत्तता की विशेषताएँ

प्रान्तीय स्वायत्ता (स्वशासन) की निम्नलिखित विशेषताएँ थीं :–

2.5.1 प्रान्तों में द्वैध शासन की समाप्ति–1919 के अधिनियम द्वारा प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था की शुरूआत की गई थी जिसके तहत् प्रान्तीय सूची के विषयों को दो भागों में हस्तांतरित विषय व रक्षित विषय के रूप में बांटा गया था। जिन पर पृथक–पृथक ढंग से कानून बनाया जाता था लेकिन जब प्रान्तों में स्वायत्तता लायी गई तब वहां पर कायम द्वैध शासन प्रणाली का अन्त कर दिया गया।

2.5.2 केन्द्र–राज्यों के बीच शक्तियों का बंटवारा–1935 के अधिनियम द्वारा केन्द्र व राज्यों के बीच शक्तियों का बंटवारा स्पष्ट रूप से किया गया। इसके लिए तीन सूचियां बनाई गई केन्द्रीय सूची 59 विषय, प्रान्तीय सूची 45 विषय तथा समवर्ती सूची में 36 विषय शामिल किये गये। केन्द्रीय सूची में राष्ट्रीय महत्व के विषय रखे गये, जैसे विदेश, प्रतिरक्षा, संचार, यातायात, मुद्रा, नागरिकता, आयकर, नमककर आदि । इसी तरह प्रान्तीय सूची में कम महत्व के विषय शामिल किये गये जैसे सफाई, स्वास्थ्य, जंगल, प्रेस, जेल आदि, जिन पर प्रान्तीय सरकारों को कानून बनाने का अधिकार था, तीसरे प्रकार की सूची समवर्ती सूची थी जिस पर केन्द्र व प्रान्त दोनों को कानून बनाने का अधिकार था।

2.5.3 प्रान्तीय विषयों का प्रशासन–प्रान्तीय सूची में 54 विषयों को शामिल किया गया था। इन विषयों पर कानून बनाने का पूरा अधिकार प्रान्तीय सरकारों का था। प्रान्तीय सरकारों का गठन बहुमत के आधार पर गवर्नर करता था और यह प्रान्तीय कार्यपालिका (सरकार) विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होती थी जो उनको प्रश्न पूछते, पूरक प्रश्न पूछते, निन्दा प्रस्ताव, कटौती प्रस्ताव, स्थगन प्रस्ताव यहां तक कि अविश्व स प्रस्ताव लाकर पद मुक्त कर सकते थे।

2.5.4 मंत्रियों का प्रान्तीय विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होना–प्रान्तीय मंत्री विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होते थे क्योंकि कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका अर्थात् विधानसभा से ही किया जाता था। मन्त्रियों के लिये व्यवस्थापिका का सदस्य होना जरूरी था और सदस्य न होते हुए भी कोई व्यक्ति अगर मंत्रिमण्डल में शामिल हो जाता था तब उसको 6 माह के भीतर व्यवस्थापिका का सदस्य बनना अनिवार्य था अन्यथा उसको त्यागपत्र देना पड़ सकता था। इसके अतिरिक्त विधानसभा के सदस्य मंत्रियों के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव लाकर हटा भी सकते थे।

2.5.5 प्रान्तीय विधानमण्डलों का पुनर्गठन–प्रान्तीय स्वायत्तता की यह भी एक विशेषता थी कि इसमें प्रान्तीय विधानमण्डलों का पुनर्गठन किया गया जिसके तहत् 6 प्रान्तों में विधानसभा के अलावा उच्च सदन की स्थापना की गई अर्थात् पहली बार प्रान्तों में ही द्विसदनात्मक व्यवस्था की शुरूआत की गई। वे प्रान्त थे असम, बंगाल, उत्तरप्रदेश, बम्बई, मद्रास, बिहार।

2.5.6 प्रान्तों में स्वतन्त्र उच्च न्यायालय–प्रान्तीय स्वायत्तता के माध्यम से 1935 के अधिनियम में प्रान्तों के लिए स्वतन्त्र उच्च न्यायालय की स्थापना की गई ताकि प्रान्तीय सूची से सम्बन्ध विवादों का निपटारा इनमें किया जा सके। इसके अतिरिक्त इन्हें निचली अदालतों के विरूद्ध अपील सुनने का अधिकार था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.5.7 पृथक प्रान्तीय सेवा–प्रान्तीय स्वायत्तता की यह भी एक महत्वपूर्ण विशेषता थी कि इसमें पहली बार प्रान्तों के लिए पृथक सेवाओं की शुरूआत की गई जैसे प्रान्तीय सचिव, उपसचिव, विभागाध्यक्ष, प्रशासकीय अधिकारी, अन्य कार्मिक कर्मचारी आदि जिनकी नियुक्ति, पदोन्नति, वेतन प्रान्तों द्वारा की जाती थी।

2.5.8 प्रान्तों के लिए पृथक आय के स्रोतों की व्यवस्था–प्रान्तीय स्वायत्तता के तहत् प्रान्तों के लिए पृथक आय के स्रोतों की व्यवस्था की गई थी जिसके तहत् यह प्रावधान था कि प्रान्त, प्रान्तीय सूची के विषय के सन्दर्भ में कानून बनाकर कोई टैक्स लागू कर सकते थे। इसका उद्देश्य प्रान्तों को आर्थिक क्षेत्र में मजबूती प्रदान करना था।

2.5.9 गवर्नरों की स्थिति–1935 के अधिनियम तथा प्रान्तीय स्वायत्तता से पूर्व प्रान्तीय गवर्नर अपने प्रान्त का सर्वोच्च था। उसी में कार्यपालिका व व्यवस्थापन की समस्त शक्तियां पायी जाती थी अर्थात् उसके आदेश के बिना तो पेड़ का पत्ता तक नहीं हिल सकता था परन्तु जब प्रान्तों में स्वायत्तता लायी गई तब उसकी स्थिति बिल्कुल विपरीत हो गई।

2.5.10 मताधिकार का विस्तार–प्रान्तीय स्वायत्तता से पूर्व विधानसभा के चुनाव में मात्र 2.8 प्रतिशत जनता भाग ले सकती थी, किन्तु अब यह बढ़कर 14 प्रतिशत हो गई।

2.6 प्रान्तीय स्वायत्तता के दोष

1935 के अधिनियम के तहत् स्थापित प्रान्तीय स्वायत्तता की निम्नलिखित सीमाएँ थीं :–

2.6.1 गवर्नर जनरल को प्रान्तों में संकटकालीन घोषणा का प्रावधान–गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह प्रान्तों में आपातकाल की उद्घोषणा कर सकता है। इसका उल्लेख अधिनियम की धारा 102 में किया गया है। जिसमें यह बताया गया है कि गम्भीर आन्तरिक गड़बड़ी युद्ध अथवा सम्भावित खतरे के कारण संकट काल की घोषणा कर सकता है। संकटकालीन स्थिति जारी होने के बाद उस प्रान्त के विधानसभा की समस्त शक्तियां संघीय व्यवस्थापिका को सौंप दी जाती थी।

2.6.2 गवर्नर जनरल को प्रान्तीय गवर्नरों को निर्देश जारी करने का अधिकार–1935 के अधिनियम की धारा 126 के तहत् गवर्नर जनरल प्रान्तीय सरकारों को निर्देश जारी कर सकता था। यदि वह भारतीय शान्ति व सुरक्षा को कायम रखने में आवश्यक समझे। उन आदेशों को पालन करना प्रान्तीय सरकारों के लिए अनिवार्य था। आदेशों का पालन न करने की स्थिति में गवर्नर जनरल संवैधानिक विफलता की घोष्णा कर प्रान्तीय सरकारों को भंग कर सकता था।

2.6.3 प्रान्तीय गवर्नरों द्वारा प्रान्तों में संवैधानिक तंत्र की विफलता की उद्घोषणा का अधिकार–1935 के अधिनियम की धारा 93 के अनुसार यदि किसी प्रान्त का गवर्नर यह घोषणा कर देता था कि संवैधानिक तन्त्र विफल हो गया है और उसके अनुसार सरकार का संचालन होना कठिन हो गया है तो प्रान्तीय स्वराज्य के सारे ढाँचे का अन्त किया जा सकता था तथा सम्पूर्ण प्रान्तीय शासन का भार गवर्नर के हाथों में आ जाता था।

2.6.4 विधेयक को गवर्नर जनरल की अनुमति के लिए रोकना–कुछ विधेयकों को विधानसभा में प्रस्तावित करने से पूर्व गवर्नर की अनुमति आवश्यक थी कुछ विशेष प्रकार के विधेयक जैसे संसदीय कानून का विरोध करने वाले विधेयक गवर्नर जनरल के किसी अध्यादेश को रद्द या संशोधित करने वाले विधेयक, गवर्नर जनरल की स्वेच्छाचारी शक्तियों पर अंकुश लगाने वाले विधेयक गवर्नर की पूर्व अनुमति के बिना विधानमण्डल में प्रस्तावित नहीं किये जा सकते थे।

2.6.5 विधेयक प्रस्तुत करने से पूर्व गवर्नर जनरल की स्वीकृति–कुछ विधेयक प्रान्तीय विधानमण्डलों में प्रस्तावित करने के पूर्व गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिए आरक्षित किये जा सकते थे विशेष रूप से समवर्ती सूची के सन्दर्भ में ऐसा प्रान्तीय गवर्नर करता था।

2.6.6 प्रान्तीय विषयों पर गवर्नर जनरल का नियंत्रण–विधानसभाओं द्वारा पारित कुछ कानूनों को प्रान्तीय गवर्नरों द्वारा गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिए भेजा जाता था जिन्हें स्वीकार करना या अस्वीकार करना या पुनर्विचार के लिए भेजना गवर्नर जनरल पर निर्भर करता था। गवर्नर जनरल अपनी विशेष उत्तरदायी शक्तियों के तहत् किसी भी प्रान्तीय क्षेत्र पर अपना पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर सकता था तथा किसी भी मंत्री को निर्देश जारी कर सकता था।

2.6.7 मन्त्रियों के क्षेत्र मे गवर्नर जनरल का हस्तक्षेप–मंत्रियों के अधीनस्थ क्षेत्रों में भी भारत का गवर्नर जनरल हस्तक्षेप कर सकता था। जैसे कानून व्यवस्था का दायित्व प्रान्तीय मंत्रियों का था परन्तु सम्पूर्ण भारत अथवा उसके किसी भाग पर नियंत्रण या शान्ति व्यवस्था बनाये रखने की जिम्मेवारी गवर्नर जनरल पर थी।

2.6.8 गवर्नर की प्रभावशाली स्थिति–राज्यपाल का प्रान्तों पर प्रभावशाली नियंत्रण था। वह एक संवैधानिक अध्यक्ष मात्र नहीं था उसके हाथ में सारे प्रान्त को नियत्रित करने की शक्तियाँ थी, विधायी क्षेत्र में उसकी शक्तियां असीमित थी। उसकी अनुमति के बिना विधानसभा में पारित कोई भी विधेयक कानून का जामा नहीं पहन सकता था। वह किसी भी बिल को अस्वीकृत कर सकता था या पुनर्विचार के लिए भेज सकता था अथवा गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिये रोक सकता था। प्रान्तीय गवर्नर अपनी स्वेच्छाचारी एवं व्यक्तिगत निर्णयों की शक्तियों का प्रयोग करते हुए अध्यादेश जारी कर सकता था। यह अध्यादेश जब जारी किया जाता था जब विधानसभा का सत्रावसान किया हुआ हो। इसकी अवधि 6 माह या 6 सप्ताह होती थी।

2.6.9 गवर्नरों को वित्तीय मामलों में असाधारण शक्तियां प्राप्त थी–गवर्नर की देख रेख में प्रान्तीय बजट तैयार होता था और विधानसभा से पारित करवाया जाता था। विभिन्न अनुदान मांगें भी गवर्नर की आज्ञा से ही विधानसभा में रखी जाती थी। विधानसभा द्वारा अस्वीकृत मांगों को वह पुनः स्वीकृत कर सकता था।

2.6.10 नौकरशाही पर मंत्रियों का नियत्रंण नहीं–प्रान्तीय सार्वजनिक सेवाओं पर मंत्रियों का प्रभावशाली नियंत्रण नहीं था। प्रान्तीय सचिव, उपसचिव आदि सीधे गवर्नर से मिल सकते थे और मंत्रियों के आदेशों को रद्द कर सकते थे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2.6.11 मंत्रियों की नियुक्ति में गवर्नर का अधिकार–मंत्रियों की नियुक्ति में भी गवर्नर जनरल का विशेष हाथ रहता था। वहीं उनमें विभागों का बंटवारा करता था और बैठक बुलाता था। इससे यह सिद्ध होता है कि गवर्नर को प्रान्तीय क्षेत्र के ऊपर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त था और मंत्री उसकी इच्छा के विरूद्ध कोई कार्य नहीं कर सकते थे।

2.7 1935 के अधिनियम का वर्तमान् संविधान पर प्रभाव

भारतीय संविधान का निर्माण एक संविधान सभा के द्वारा किया गया है। जिसको प्रारूप समिति का अध्यक्ष डॉ. भीमराव अम्बेडकर को बनाया गया तथा संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद थे। इस सभा द्वारा 2 वर्ष 11 माह व 18 दिन में अर्थात् 26 नवम्बर, 1949 को तैयार कर लिया गया तथा 26 जनवरी, 1950 को सम्पूर्ण देश में लागू कर दिया गया। यह संविधान अपने ढंग का एक विचित्र संविधान है। उन्होंने देश की परिस्थितियों के अनुकूल विभिन्न स्रोतों से अनेक उपबन्धों को ग्रहण किया अर्थात् संविधान निर्माताओं ने व्यावहारिक दृष्टिकोण को अपनाया। भारत के नवीन संविधान के निर्माण के समय भारत शासन अधिनियम 1935 भारतीय शासन व्यवस्था का आधार था। इसके अलावा 15 अगस्त 1947 से लेकर 26 जनवरी 1950 तक भारतीय शासन व्यवस्था का संचालन 1935 के अधिनियम द्वारा किया गया था। संविधान निर्माता भी ब्रिटिश सरकार द्वारा स्थापित प्रशासन को अपनाने के लिए आतुर थे। अत: यह स्वाभाविक था कि 1935 के अधिनियम की छाप वर्तमान् संविधान पर अवश्य पड़ेगी। प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. अम्बेडकर ने भी कहा था कि भैं इस बात में किसी भी प्रकार का अनुभव नहीं करता कि हमने नवीन संविधान का निर्माण करते समय 1935 के अधिनियम की बहुत सी बातों को अपनाया है। किसी भी अच्छी बात को अपनाने में संकोच नहीं होना चाहिए। दूसरे संवैधानिक सिद्धान्त किसी व्यक्ति अथवा देश विशेष के एक मात्र अधिकार नहीं होते। मुझे इस बात का अफसोस है कि 1935 के अधिनियम की जिन धाराओं को अपनाया गया है उनमें से अधिकांश का सम्बन्ध शासन की बारीकियों से हैं। आकार विषय सूची, भाषा आदि पर 1935 अधिनियम का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

राबर्ट एल दी ग्रेड ने अपने पुस्तक Indian Govt. and Parliament in a Developing Nation में लिखा है भारतीय संविधान के 395 अनुच्छेद में से लगभग 250 अनुच्छेद 1935 के अधिनियम में से लिए गये हैं या फिर उनमें बहुत थोड़ा परिवर्तन किया गया है।

सर आइर्बन जैनिक्स अपनी पुस्तक Some Cheraietcs at Indian Constilalian में लिखा है कि "The constilition derives the Govt. of India Act 1935 from which in flast many provisions are copied terfeony"

श्रीनिवास ने भारतीय संविधान में लिखा है कि "Both in language and sbsjance it is clause copy at the act at 1935"

बी.आर. देशमुख ने लिखा है कि "भारतीय संविधान विशेष रूप से भारतीय शासन अधिनियम 1935 ही है जिसमें वयस्क मताधिकार और जोड़ दिया गया है।"

डी.डी. बसु ने लिखा है कि भारतीय संविधान का 75 प्रतिशत भाग 1935 के अधिनियम से लिया गया है।

वस्तुस्थिति यह है कि भारत के संविधान पर 1935 के अधिनियम का व्यापक प्रभाव है लेकिन उसे उसकी नकल या परिवर्तित रूप नहीं माना जा सकता। 1935 के अधिनियम के कुछ महत्वपूर्ण प्रावधान वर्तमान् भारतीय संविधान में देखे जा सकते हैं।

1. वर्तमान् संविधान की धारा 256 में यह व्यवस्था है कि 'प्रत्येक राज्य की कार्यकारी शक्ति इस प्रकार प्रयुक्त होगी जिससे संविधान द्वारा बनाये गये कानूनों का पालन निश्चित रूप में हो और संघ की कार्यकारी शक्ति को इस संबंध में राज्यों को उचित निर्देशन देने का अधिकार हो।'

2. वर्तमान् भारतीय संविधान के अनुच्छेद 352 व 353 में राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह बाहरी आक्रमण या आन्तरिक शस्त्र विद्रोह होने पर संकट काल की घोषणा कर सकता है ठीक इसी प्रकार 1935 के अधिनियम के अनुच्छेद 102 में यह स्पष्ट किया गया कि ऐसी स्थिति उत्पन्न होने पर गवर्नर जनरल आपातकाल की घोषणा कर सकता है।

3. संविधान की धारा 251 जिसके तहत् संघ व राज्यों के बीच कानूनों के परस्पर विरोध होने के विषय पर प्रकाश डाला गया है जिसमें यह प्रावधान किया गया है कि अगर केन्द्र व राज्य के बीच कानून या किसी विषय को लेकर विवाद हो जाता है तो उसका निर्णय राज्य सभा करेंगी जो किसी भी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर सकती है। इसी प्रकार के शब्द अधिनियम 1935 के तहत् मिलते हैं। जिसकी धारा 102 है।

4. वर्तमान् संविधान का अनुच्छेद 356 1935 के अधिनियम के अनुच्छेद 92 से लिया गया है जिसमें राज्यों में संवैधानिक तंत्र विफलता की उद्घोषणा का अधिकार है। जिसमें समस्त शक्तियां राष्ट्रपति के पास आ जाती है और उस राज्य का प्रशासन राष्ट्रपति के अभिकर्ता के रूप में राज्यपाल (गवर्नर) करता है। इसके अतिरिक्त राज्य के बजट को बनाने का अधिकार संसद को हो जाता है। इस आपातकाल की अवधि 6 माह होती है जिसको आगे भी बढ़ाया जा सकता है।

5. 1935 के अधिनियम के तहत् भारत में पहली बार केन्द्र व राज्यों के बीच विषयों का बंटवारा किया गया था और इसके लिए सूचियां बनाई गई थी। संघ सूची, राज्य सूची, समवर्ती सूची, इस प्रकार भारतीय संविधान में इन सूचियों की व्यवस्था की गई थी।

6. 1935 के अधिनियम द्वारा प्रस्तावित संघ में केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाने की व्यवस्था की गई थी और गवर्नर जनरल को प्रान्तीय क्षेत्र में हस्तक्षेप करने की व्यापक शक्तियां दी गई थी। उन शक्तियों का प्रयोग करके गवर्नर जनरल संघात्मक सरकार को एकात्मक सरकार में बदल सकता था। वर्तमान् संविधान में राष्ट्रपति को इसी प्रकार की शक्तियां प्रदान की गई है। राष्ट्रपति आपातकालीन घोषणा द्वारा संघीय संविधान को एकात्मक रूप में बदल सकता है।

7. 1935 के अधिनियम में केन्द्रीय व्यवस्थापिका तथा प्रान्तों के विधानमण्डलों को द्वि–सदनीय बनाया गया। वर्तमान् भारतीय संविधान में इसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

पड़ता है। संसद के दो सदन लोकसभा व राज्यसभा 1935 के अधिनियम की केन्द्रीय व्यवस्थापिका से मेल खाते है। इसी प्रकार अनुच्छेद 168 के अनुसार अनेक राज्यों को द्वि–सदनात्मक बनाया गया है जिनकी संख्या 5 है वे कर्नाटक, बिहार, महाराष्ट्र, जम्मू कश्मीर, उत्तरप्रदेश।

8. वर्तमान् भारतीय संविधान के तहत् राज्य को अनुच्छेद 200 व 201 के तहत् यह अधिकार राज्यपाल को दिया गया है कि वह किसी भी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रोक सकता है। ठीक इसी प्रकार की व्यवस्था 1935 के अधिनियम में की गई थी जिसमें गवर्नर किसी विधेयक को गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिए रोक सकता था।

9. वर्तमान् संविधान के अनुच्छेद 123 के तहत् यह प्रावधान है कि राष्ट्रपति अध्य देश जारी कर सकता है जिसकी घोषणा तब की जाती है जब संसद का अधिवेशन नहीं चलता हो और राष्ट्र को किसी कानून की आवश्यकता पड़ गई हो जिसकी अवधि 6 माह या 6 सप्ताह होती है। इसी बात का उल्लेख 1935 के अधिनियम में किया गया है।

10. अनुच्छेद 79 में स्पष्ट किया गया है कि राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है अतः वह संसद का अधिवेशन बुला सकता है। लोकसभा को भंग कर सकता है तथा संसद में अपना संदेश भेज सकता है। इसी प्रकार का प्रावधान 1935 के अधिनियम में भी था।

11. भारत में संसदीय व्यवस्था उत्तरदायी सरकार, शक्तिशाली केन्द्र की व्यवस्था, सुदृढ़ व शक्तिशाली नौकरशाही की व्यवस्था एकीकृत न्यायिक व्यवस्था, सर्वोच्च न्यायालय आदि से संवर्द्धन अनेक महत्वपूर्ण प्रावधानों पर 1935 के अधिनियम का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

2.8 सारांश

1935 के अधिनियम के उपर्युक्त प्रभाव के बाद यह कहना भूल है कि वर्तमान् भारतीय संविधान 1935 के अधिनियम की नकल या परिवर्तित रूप है। प्रथम नवीन संविधान एक स्वतन्त्र देश का सविधान है जिसका निर्माण भारतीय संविधान सभा द्वारा किया गया है और भारतीय संविधान सभा भारतीय जनता द्वारा निर्वाचित एक प्रतिनिधिक संस्था थी जबकि 1935 के अधिनियम के बारे में ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वह तो केवल ब्रिटिश संसद द्वारा पारित एक कानून था जो भारतीयों पर थोपा गया था। 1935 के अधिनियम में औपनिवेशिक स्वराज्य की कल्पना की गई थी, जबकि भारतीय संविधान में भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतांत्रिक गणराज्य घोषित किया गया था। वर्तमान् भारतीय संविधान में ऐसी कोई बात नहीं है। 1935 के अधिनियन में प्रस्तावित साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली को संविधान सभा ने बिल्कुल नहीं अपनाया है। वर्तमान् संविधान द्वारा वयस्क मताधिकार की व्यवस्था की गई है। वर्तमान् संविधान में भारत का राज्याध्यक्ष या राष्ट्रपति केवल संवैधानिक प्रमुख है। 1935 के अधिनियम के तहत् गवर्नर जनरल के समान स्वेच्छाचारी राज्याध्यक्ष नहीं है। इस प्रकार स्वतन्त्र भारत के संविधान की अनेक बातें 1935 के अधिनियम से मेल नहीं खाती है। इसलिए इसको कार्बन कॉपी कहना एक भूल है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. 1935 के अधिनियम की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
2. प्रान्तीय स्वायत्तता से आप क्या समझते है, 1935 के अधिनियम में उल्लेखित प्रान्तीय स्वायत्तता की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।
3. वे कौनसी परिस्थितियां थी जिनके कारण 1935 का अधिनियम लाया गया।
4. भारत के वर्तमान् संविधान के 75 प्रतिशत प्रावधान 1935 के अधिनियम से लिये गये है इस कथन के आधार पर वर्तमान् संविधान पर इसका क्या प्रभाव पड़ा।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. 1935 के अधिनियम के अनुसार गवर्नर जनरल की स्थिति बताईये।
2. 1935 की प्रस्तावना पर प्रकाश डालिये।
3. प्रान्तीय स्वायत्तता के स्वरूप को स्पष्ट कीजिये।

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. प्रान्तों की स्वायत्तता कब स्थापित हुई?
2. केन्द्र में द्वैध शासन से क्या आशय है?
3. विषयों का बटवारा कितनी सूचियों में किया गया?
4. संघ सूची में कितने विषय थे?
5. भारत परिषद् की स्थापना एवं समाप्ति कब हुई?
6. बर्मा को भारत से अलग कब किया गया?
7. 1935 के अधिनियम के अनुसार कौन–कौन से प्रान्तों में द्वि–सदनीय व्यवस्थापिका स्थापित की गई?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सुभाष कश्यप, स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

सुभाष कश्यप, भारत का सांविधानिक विकास और संविधान, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

आर.सी.अग्रवाल, भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, एस.चन्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–3 : 1935–1947 की अवधि में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं राजनैतिक विकास

संरचना

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 अगस्त प्रस्ताव

- 3.2.1 गवर्नर–जनरल की कार्यकारिणी का विस्तार तथा युद्ध परामर्शदात्री परिषद की स्थापना
- 3.2.2 अल्पसंख्यकों की सम्मति को पूर्ण महत्व
- 3.2.3 समिति गठन की घोषणा
- 3.2.4 ब्रिटिश सरकार द्वारा सहयोग की अपील

3.3 क्रिप्स प्रस्ताव (22 मार्च, 1942)

- 3.3.1 अधिराज्य की स्थापना
- 3.3.2 संविधान सभा
- 3.3.3 संविधान सभा की रचना
- 3.3.4 संविधान को स्वीकार किये जाने की शर्तें

3.4 भारत छोड़ो आन्दोलन

- 3.4.1 क्रिप्स प्रस्ताव की असफलता
- 3.4.2 जापानी आक्रमण
- 3.4.3 शरणार्थियों के साथ अमानवीय व्यवहार
- 3.4.4 बंगाल में दमनकारी नीति
- 3.4.5 महंगाई और अविश्वास
- 3.4.6 अंग्रेज भारत की सुरक्षा करने में असमर्थ

3.5 सरकार द्वारा आन्दोलन का दमन

3.6 वेवेल योजना 1945

- 3.6.1 महत्त्वपूर्ण पदों पर भारतीयों की नियुक्ति की पहल
- 3.6.2 कार्यकारिणी परिषद का पुनर्गठन
- 3.6.3 कार्यकारिणी परिषद की शक्तियां
- 3.6.4 भारतीय सदस्यों के हाथों में महत्वपूर्ण शक्ति
- 3.6.5 वाइसराय व भारत सचिव के नियंत्रण में कमी
- 3.6.6 संविधान निर्माण

3.7 केबिनेट मिशन योजना

- 3.7.1 संघ
- 3.7.2 संघ की कार्यपालिका और विधानमण्डल
- 3.7.3 साम्प्रदायिक समस्या
- 3.7.4 अवशिष्ट शक्तियाँ
- 3.7.5 देशी रियासतों के अधिकार
- 3.7.6 प्रान्तों के ग्रुप
- 3.7.7 संविधान पर पुनर्विचार
- 3.7.8 संविधान सभा का निर्माण
- 3.7.9 10 लाख पर एक सदस्य
- 3.7.10 साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.7.11 मतदाताओं का वर्गीकरण
3.7.12 संविधान सभा में देशी रियासतों का प्रतिनिधित्व
3.8 अन्तरिम सरकार एवं संविधान सभा का चुनाव
3.9 माउण्ट बैटन योजना
3.9.1 विभाजन
3.9.2 जनमत संग्रह
3.9.3 पंजाब और बंगाल का विभाजन
3.9.4 संविधान सभा
3.9.5 अधिराज्य
3.9.6 देशी राज्य
3.9.7 ब्लुचिस्तान
3.9.8 लेनदारियां एवं देनदारियां
3.9.9 राष्ट्रकुल की सदस्यता
3.10 भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947
3.10.1 दो अधिराज्यों की स्थापना
3.10.2 संविधान सभाओं को सत्ता का हस्तान्तरण
3.10.3 देशी रियासतों की स्वतन्त्रता
3.10.4 अलग–अलग गवर्नर जनरल
3.10.5 ब्रिटिश नियन्त्रण की समाप्ति
3.10.6 देशी राज्यों पर सर्वोच्च सत्ता का अन्त
3.10.7 राष्ट्रमण्डल छोड़ने का अधिकार
3.10.8 भारत सचिव के पद की समाप्ति
3.10.9 1935 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा शासन
3.11 सारांश

3.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत 1935 से 1947 की कालावधि में स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तुत विभिन्न प्रस्तावों का उल्लेख किया गया है। विद्यार्थियों को इस पाठ में निम्न जानकारी प्राप्त होगी–

- द्वितीय विश्वयुद्ध काल में ब्रिटेन की भारत के प्रति बदलती नीति एवं वैकल्पिक तरीकों का पता लगा सकेंगे,
- क्रिप्स प्रस्ताव के महत्त्व की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- भारत छोड़ो आन्दोलन की पृष्ठभूमि को समझ सकेंगे,
- केबिनेट मिशन के उद्देश्यों की समीक्षा कर सकेंगे,
- भारतीयों को स्वतन्त्रता प्राप्ति में माउण्ट बेटन योजना की भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे,
- भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947 का मूल्यांकन कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

1935–1947 की कालावधि भारतीय संवैधानिक सुधार एवं राष्ट्रीय आन्दोलन की अहम कड़ी साबित हुई। 1935 का अधिनियम लाकर भारतीयों की भावना को शान्त करने का प्रयास किया गया, भारतीयों द्वारा यह निरन्तर मांग की जा रही थी कि शासन में उनकी भागीदारी बढ़ायी जाए और औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित किया जाए लेकिन ब्रिटिश सरकार यह चाहती थी कि भारतीय पहले राजनीतिक रूप से पूर्ण प्रशिक्षित हो जाए फिर उन्हें शासन में भागीदारी दी जाए।

1939 में द्वितीय महायुद्ध शुरू हो चुका था। इंग्लैण्ड जर्मनी के विरूद्ध खुल कर आ गया और युद्ध में जर्मनी के विरूद्ध भारत को भी शामिल करने की घोषणा कर दी गई। भारतीयों द्वारा वायसराय के इस निर्णय का कड़ा विरोध किया गया। मौलाना अब्दुल कलाम आजाद ने लिखा है ध्वायसराय के इस कार्य ने यह सिद्ध कर दिया कि ब्रिटिश सरकार भारत को अपनी इच्छा का प्रतिबिम्ब समझती थी और युद्ध जैसे मामले में भी भारत के आत्म निर्णय के अधिकार को मानने के लिए तैयार नहीं थी। कांग्रेस ने कहा कि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रथम विश्व युद्ध में इंग्लैण्ड को भरपूर सहयोग दिया गया लेकिन युद्ध के दौरान दिये गये वचनों से ब्रिटिश सरकार मुकर गई। इसलिए इस बार मांग की गई कि युद्ध समाप्ति के बाद भारत को स्वतन्त्र कर दिया जाए।

3.2 अगस्त प्रस्ताव

1940 के आसपास युद्ध में इंग्लैण्ड की स्थिति बड़ी नाजुक और खतरनाक हो गई। इसी समय इंग्लैण्ड में राजनीतिक परिवर्तन आया। चर्चिल प्रधानमंत्री और ऐमरी भारत सचिव बने। युद्ध में इंग्लैण्ड की विकट स्थिति को देख कांग्रेस के बड़े वर्ग में ब्रिटेन के प्रति सहानुभूति आयी। नेहरू का मत था कि इंग्लैण्ड की कठिनाई भारत का सौभाग्य नहीं है। गांधीजी ने कहा कि ब्रिटेन के विनाश से हम अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं करना चाहते। कांग्रेस ने कुछ शर्तों के साथ इस युद्ध में ब्रिटेन का पूरा सहयोग देने का फैसला किया। कांग्रेस के ही अनेक नेताओं ने इसका विरोध किया तब वायसराय ने इस गतिरोध को दूर करने के लिए 8 अगस्त, 1940 को एक वक्तव्य जारी किया जो अगस्त प्रस्ताव के नाम से जाना जाता है।

3.2.1 गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी का विस्तार तथा युद्ध परामर्शदात्री परिषद की स्थापना–यद्यपि राष्ट्रीय एकता को रोकने वाले मतभेद अभी शेष है फिर भी गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद के विस्तार और युद्ध परामर्शदात्री परिषद की स्थापना को अब आगे स्थगित नहीं किया जा सकता।

3.2.2 अल्पसंख्यकों की सम्मति को पूर्ण महत्व–ब्रिटिश सरकार ने अपनी इस इच्छा को फिर से व्यक्त किया कि भारत में अल्पसंख्यकों की सम्मति को पूर्ण महत्व दिया जाए। सम्राट की सरकार किसी भी संवैधानिक परिवर्तन के बारे में कल्पना नहीं कर सकती जिससे अशान्ति एवं अव्यवस्था को प्रोत्साहन मिले।

3.2.3 समिति गठन की घोषणा–वर्तमान् में जबकि ब्रिटेन अपने जीवन के अस्तित्व के संघर्ष में फंसा है, वैधानिक समस्याओं पर कोई निर्णय नहीं हो सकता, लेकिन विश्व युद्ध की समाप्ति पर ब्रिटिश सरकार एक समिति बनाएगी, जिसमें भारत के प्रमुख नेता भाग लेंगे। यह समिति भारत के भावी संविधान की रूपरेखा तय करेगी। इस नवीन संविधान के निर्माण का उत्तरदायित्व भारतीयों का होगा।

3.2.4 ब्रिटिश सरकार द्वारा सहयोग की अपील–अन्तरिम काल में ब्रिटिश स्रकार आशा करती है कि सभी दल और सम्प्रदाय युद्ध प्रयत्नों में सरकार को सहयोग प्रदान करेंगे और इसके साथ–साथ कार्य करने से भारत के लिए ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में स्वतन्त्र व समान मर्यादा पाने के लिए मार्ग पक्का करेंगे।

अगस्त प्रस्ताव कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण थे। इसमें जो तीन बातें सम्मिलित की गई वे संवैधानिक विकास में एक प्रगति है–

- युद्ध के बाद औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना का वचन।
- भारत का संविधान बनाने की शक्ति भारतीयों को दी जाना।
- राष्ट्रमण्डल में भारत को स्वतन्त्र एवं समान साझेदार के रूप में भाग लेने की बात को स्वीकार करना।

इसके विपरीत अगस्त प्रस्ताव में अनेक दोष थे जैसे वादे को पूरा करने की समय सीमा तय नहीं की गई थी, अल्पसंख्यक वर्ग को भविष्य में संवैधानिक विकास पर रोक लगाने का अधिकार दे दिया गया। मुस्लिम लीग और कांग्रेस दोनों ने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया क्योंकि इससे लीग की पाकिस्तान निर्माण की मांग पूर्ण नहीं हो रही थी तथा कांग्रेस का भी ध्येय पूरा नहीं हो रहा था।

3.3 क्रिप्स प्रस्ताव (22 मार्च, 1942)

1941 के अन्त तक द्वितीय विश्व युद्ध का परिदृश्य कुछ और ही नजर आ रहा था। 6 दिसम्बर, 1941 को जापान द्वारा अमरीकी सैन्य अड्डे पर्ल हार्बर को निशाना बनाने के बाद अमेरीका युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से कूद पड़ा। जापान का विजय अभियान जारी था। इसने भारत के महत्व को विशेष रूप से बढ़ा दिया। ब्रिटिश प्रशासन को भारत के पूर्ण सहयोग की आवश्यकता थी। यह तब तक सम्भव नहीं था जब तक ब्रिटिश शासन भारत में संवैधानिक गतिरोध को समाप्त करने के लिए नई नीति की घोषणा न करे। इस समस्या का समाधान करने के लिए 22 मार्च, 1942 को सर स्टेफर्ड क्रिप्स को एक योजना लेकर भारत भेजा गया उसे क्रिप्स प्रस्ताव कहा जाता है। क्रिप्स प्रस्ताव के दो भाग थे–

3.3.1 अधिराज्य की स्थापना–नए भारतीय संघ को डोमिनियन स्टेट्स (अधिराज्य) का दर्जा दिया जाएगा। वह किसी घरेलू या बाहरी सत्ता के अधीन नहीं होगा और यदि वह चाहे तो ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से संबंध विच्छेद कर सकता है।

3.3.2 संविधान सभा–भारत का नया संविधान बनाने के लिए युद्ध के तुरन्त बाद एक संविधान सभा का निर्माण किया जाएगा जिसमें ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों दोनों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे। इस तरह भारतीयों को अपना संविधान निर्माण करने की शक्ति मिल गई।

3.3.3 संविधान सभा की रचना–संविधान सभा की रचना के लिए प्रान्तीय विधानमण्डलों के निम्न सदनों के सभी सदस्य एक निर्वाचक मण्डल की स्थापना करेंगे और आनुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर संविधान सभा का चुनाव करेंगे। संविधान सभा के सदस्यों की संख्या निर्वाचक मण्डल के कुल सदस्य संख्या का दसवां भाग होगी। देशी राजा भी अपनी जनसंख्या के अनुपात में सदस्यों को नियुक्त करेंगे।

3.3.4 संविधान को स्वीकार किये जाने की शर्तें–ब्रिटिश सरकार इस संविधान सभा द्वारा तैयार किये गये संविधान को तभी लागू करेगी, जबकि निम्नलिखित शर्तें पूरी हो; (क) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रान्त नए संविधान को स्वीकार करना न चाहे तो उसे वर्तमान् संवैधानिक स्थिति बनाए रखने का अधिकार होगा। यदि किसी प्रान्त

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Dehradun

की विधानसभा का 60 प्रतिशत बहुमत संघ में सम्मिलित होने का निश्चय न करे तो संघ प्रवेश का अन्तिम फैसला जनमत द्वारा लिया जाएगा। (ख) ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीयों के हाथों में सत्ता हस्तांतरण से संबंधित मामलों के लिए ब्रिटिश सरकार और संविधान सभा के बीच एक संधि की जाएगी।

अतः युद्धकालीन प्रस्ताव के बारे में क्रिप्स प्रस्ताव में यह कहा गया कि इस नाजुक समय में और संविधान बनने तक भारत की सुरक्षा की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार की रहेगी। भारत की जनता के सहयोग से भारत के सैनिक, नैतिक और भौतिक साधनों को संगठित करने की जिम्मेदारी भारत सरकार की होगी, ब्रिटिश सरकार भारतीय नेताओं का अपने देश, राष्ट्रमण्डल तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के परामर्श में पूरा सहयोग चाहती है।

क्रिप्स प्रस्ताव के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. सुभाष काश्यप ने कहा है क्रिप्स योजना का संवैधानिक विकास के एक प्रमुख चरण के रूप में विशेष महत्व है क्योंकि इसमें पहली बार स्पष्ट रूप से ब्रिटिश सरकार ने भारत की स्वाधीनता का तथा निर्वाचित संविधान सभा द्वारा अपना संविधान स्वयं बनाने का अधिकार स्वीकारा और भारतीयों के हाथों में सत्ता हस्तान्तरण की बात गम्भीरतापूर्वक सोची।

3.4 भारत छोड़ो आन्दोलन

अंग्रेजों के अन्याय एवं अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था। इस समय किये जा रहे संवैधानिक सुधारों से भारतीयों में सन्तोष की बजाए असन्तोष की ज्वाला भभक रही थी। कांग्रेस और भारतीय अब जल्द से जल्द आजादी प्राप्त करना चाहते थे। महात्मा गांधी का मत था कि ब्रिटिश सरकार द्वितीय विश्वयुद्ध की आड़ में अपने कदम मजबूत और भारतीयों को निष्क्रिय कर रही है। ऐसा करना सरकार के सम्मुख घुटने टेक देने के बराबर है। इससे हमारी स्वतन्त्रता बहुत दिनों तक रुकी रहेगी। इसलिए हमें प्रत्यक्ष कार्यवाही (आन्दोलन) करना होगा। महात्मा गांधी के विचारों को क्रियान्वित करने के लिए 14 जुलाई, 1942 को कांग्रेस की कार्यसमिति वर्धा में मिली और एक प्रस्ताव पास किया जिसका नाम रखा गया भारत छोड़ो प्रस्ताव। 7 व 8 अगस्त, 1942 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की बैठक बम्बई में हुई जिसमें 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया। अतः इस आन्दोलन के निम्नलिखित कारण हैं–

3.4.1 क्रिप्स प्रस्ताव की असफलता–22 मार्च, 1942 को ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीयों की संवैधानिक सुधारों की बढ़ती मांग को शान्त करने के लिए सर स्टेफर्ड क्रिप्स के साथ एक सुधार योजना भेजी परन्तु इसके प्रावधानों का अपर्याप्त होने के कारण कांग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया। मौलाना आजाद ने लिखा है कि कांग्रेस और क्रिप्स में जो लम्बी बातचीत चली वह संसार को यह सिद्ध करने के लिए थी कि कांग्रेस भारत की सच्ची प्रतिनिधि संस्था नहीं है और भारतीयों की फूट वास्तविक कारण था जिससे अंग्रेज इनको कोई भी शक्ति देने में असमर्थ है। इस तरह अंग्रेजों ने क्रिप्स प्रस्तावों का दोष कांग्रेस के सिर पर मंढने का प्रयास किया लेकिन कांग्रेस ने अपनी मांगों पर पीछे हटने का फैसला किया और भारत छोड़ो आन्दोलन शुरू कर दिया।

3.4.2 जापानी आक्रमण–जापानी सेना द्वितीय महायुद्ध के दौरान बर्मा तक पहुँच गयी थी। उसका अगला निशाना भारत ही था। अतः कांग्रेस ने स्थिति की नजाकत को समझते हु, एक नया आन्दोलन शुरू करने का दृढ़ निश्चय किया।

3.4.3 शरणार्थियों के साथ अमानवीय व्यवहार–बर्मा से आने वाले भारतीय शरणार्थियों के साथ अमानवीय एवं अपमानजनक व्यवहार किया जा रहा था। यूरोपीयन और भारतीय शरणार्थियों में भेद किया जा रहा था।

3.4.4 बंगाल में दमनकारी नीति–पूर्वी बंगाल में भय और आतंक का राज था। सरकार ने वहां पर सैनिक उद्देश्य के लिए बहुत से किसानों की भूमि पर अपना अधिकार जमा लिया और हजारों नावों को नष्ट कर दिया गया। इससे हजारों लोग बेकार हो गये।

3.4.5 महंगाई और अविश्वास–इस समय वस्तुओं के भाव दिन दुगुना तथा रात चौगुना बढ़ते जा रहे थे। लोगों का कागज की मुद्रा से विश्वास उठता जा रहा था। मध्यम वर्ग में सरकार के प्रति बहुत अविश्वास था।

3.4.6 अंग्रेज भारत की सुरक्षा करने में असमर्थ–महात्मा गांधी का मत था कि अंग्रेज भारत की सुरक्षा करने में असमर्थ है। अंग्रेजों की सिंगापुर, मलाया तथा बर्मा में हार से गांधीजी का विचार दृढ़ हो गया। उन्होंने कहा यदि अंग्रेज भारत नहीं छोड़ते है तो जापान भारत पर आक्रमण करेगा। 5 जुलाई, 1942 को गांधीजी ने अपने पत्र हरिजन में लिखा अंग्रेजों भारत को जापान के लिए मत छोड़ो बल्कि भारत को भारतीयों के लिए व्यवस्थित रूप से छोड़ जाओ।

3.5 सरकार द्वारा आन्दोलन का दमन

8 अगस्त, 1942 को महात्मा गांधी ने वायसराय, अमरीकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा चीन के मार्शल च्यांग–काई–शेक को पत्र लिखकर भारत छोड़ो आन्दोलन तथा भारतीयों की भावना से अवगत करवाया। लेकिन ब्रिटिश सरकार दमन करने पर उतारू थी। उसने बम्बई में कांग्रेस कार्यसमिति के सभी सदस्यों को 9 अगस्त, 1942 को गिरफ्तार कर अज्ञात स्थान पर भेज दिया और कांग्रेस को गैर कानूनी संस्था घोषित कर दिया। जब कांग्रेस के सभी प्रमुख नेताओं की गिरफ्तारी की खबर जनता तक पहुंची तब नेतृत्वहीन जनता ने अपने को रोक नहीं पायी। महात्मा गांधी ने इस आन्दोलन में एक प्रमुख मंत्र दिया–करो या मरो।

इस आन्दोलन के लिए कांग्रेस द्वारा 12 सूत्री कार्यक्रम जारी किया। जिसमें सम्पूर्ण देश में हड़ताल करने, धरना, प्रदर्शन, सार्वजनिक सभाएं करने, नमक बनाने और लगान न देने के लिए कहा गया था। इसमें आन्दोलन को पूर्णतया अहिंसात्मक बनाए रखने पर ज्यादा जोर दिया गया।

यद्यपि इस आन्दोलन को कुचल दिया गया था, लेकिन यह आन्दोलन कोई साधारण नहीं था। स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए यह अन्तिम महान प्रयास था। इसमें कुल

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Jodhpur

7000 लोग मारे गये तथा 60000 लोगों को जैलों में डाल दिया गया। डॉक्टर अम्बाप्रसाद के अनुसार आन्दोलन अपना उद्देश्य प्राप्त करने में असफल रहा। इस आन्दोलन का दूसरा उद्देश्य जनता में जागृति उत्पन्न करना और विदेशी ब्रिटिश शासन के विरूद्ध मुकाबला करने की भावना उत्पन्न करना था। इस प्रकार इस आन्दोलन ने 1947 में भारतीय स्वतन्त्रता के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

3.6 वेवेल योजना (14 जून, 1945)

1943 में लार्ड वेवेल भारत में नये वायसराय बनाए। जब लार्ड वेवेल ने पदभार ग्रहण किया तब उन्होंने कहा था कि वे भारत के लिए अद्‌भुत भेंटों से भरा थैला लेकर आये हैं। इस समय ब्रिटेन की आन्तरिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में व्यापक परिवर्तन हो रहा था। जहां एक ओर ब्रिटेन में जनमत का झुकाव श्रमिक दल की ओर हो रहा था, वहीं दूसरा विश्व युद्ध समाप्ति की ओर अग्रसर था। भारत में भी पूर्ण स्वराज्य की मांग बढ़ती जा रही थी जिससे संवैधानिक गतिरोध व्याप्त था। इसे दूर करने के लिए लार्ड वेवेल ने कुछ प्रस्तावों की घोषणा 14 जून, 1945 को कीए जो वेवेल योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इस योजना के प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं –

3.6.1 महत्वपूर्ण पदों पर भारतीयों की नियुक्ति की पहल–ब्रिटिश सरकार संवैधानिक संकट दूर करना चाहती थी। इसके लिए इस योजना में यह घोषित किया गया कि गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में वायसराय तथा प्रधान सेनापति को छोड़कर सभी महत्वपूर्ण पदों पर भारतीयों को नियुक्ति दी जाएगी।

3.6.2 कार्यकारिणी परिषद का पुनर्गठन–नई कार्यकारिणी परिषद का गठन किया जाए जिसमें संगठित राजनीतिक विचारों का अधिक प्रतिनिधित्व हो। इसमें हिन्दू और मुसलमानों के बराबर प्रतिनिधि लिये जायेंगे। यह परिषद् वर्तमान् संविधान के अनुसार काम करेगी।

3.6.3 कार्यकारिणी परिषद की शक्तियाँ–गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी निम्नलिखित कार्य करेगी –

क) युद्ध का संचालन
ख) भारत सरकार का संचालन
ग) ऐसे उपायों पर विचार जिनसे नया और स्थायी संविधान सबकी सहमति से बने और लम्बे समय तक हल निकल सके।

3.6.4 भारतीय सदस्यों के हाथों में महत्वपूर्ण शक्ति–वेवेल योजना में पहली बार भारतीय सदस्यों के हाथों में महत्वपूर्ण विषय सौंपे गये। सीमान्त और कबाइली मामलों को छोड़कर शेष विदेश विभाग भारतीयों को सौंप दिया गया। जिसमें अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार भारतीय सदस्यों को दिया गया।

3.6.5 वायसराय व भारत सचिव के नियंत्रण में कमी–इस योजना में पहली बार वायसराय एवं भारत सचिव पर नियंत्रण लगाया गया। अब वायसराय कार्यकारिणी परिषद में अकारण 'वीटो' का प्रयोग नहीं करेंगे। भारत सचिव का नियंत्रण भी कम से कम रहेगा और शासन का संचालन भारतीयों के हित के अनुसार ही होगा।

3.6.6 संविधान निर्माण–युद्ध की समाप्ति के बाद भारतीय अपने द्वारा निर्वाचित संविधान सभा से अपना संविधान बनायेंगे।

3.7 कैबिनेट मिशन योजना

ब्रिटेन के संसदीय इतिहास में पहली बार हाऊस ऑफ़ कामन्स में मजदूर पार्टी को बहुमत मिला। यह पार्टी भारत की स्वाधीनता और संवैधानिक सुधारों के प्रति गम्भीर थी। अतः 24 मार्च, 1946 को कैबिनेट मिशन को दिल्ली भेजा जिसमें प्रधानमंत्री एटली के मंत्रिमण्डल के तीन प्रमुख सदस्य शामिल थे। वे थे–पेथिक लारेन्स, सर स्टफ़ार्ड क्रिप्स तथा ए.वी. अलक्जेण्डर।

क) भारत के भावी संविधान संबंधी सिफारिशें –

3.7.1 संघ–ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों को मिलाकर एक संघ का गठन किया जाएगा। संघीय सरकार के पास तीन विषय होंगे–विदेश, सुरक्षा तथा यातायात।

3.7.2 संघ की कार्यपालिका और विधानमण्डल–संघ की अपनी एक विधानमण्डल तथा कार्यपालिका होगी जिसका निर्माण ब्रिटिश भारत तथा देशी रियासतों के प्रतिनिधियों द्वारा होगा।

3.7.3 साम्प्रदायिक समस्या–संघीय विधान सभा में किसी भी साम्प्रदायिक प्रश्न पर निर्णय के लिए दोनों प्रमुख सम्प्रदायों (हिन्दु और मुसलमान) के उपस्थित एवं मतदान करने वाले प्रतिनिधियों के बहुमत के साथ ही कुछ और सदस्यों के बहुमत की आवश्यकता होगी।

3.7.4 अवशिष्ट शक्तियां–जो तीन विषय संघ को दिये गये है इसके अलावा जो भी विषय शेष हैं उन पर कानून बनाने का अधिकार प्रान्तीय विधानमण्डल को होगा।

3.7.5 देशी रियासतों के अधिकार–देशी रियासतों के सम्बन्ध में संघीय सरकार केवल उन्हीं विषयों पर कानून बनायेगी जो उसे देशी रियासतों द्वारा प्रदान किये गये है। अन्य सभी विषय जो संघ को नहीं दिये गये है, उन सभी पर देशी रियासतों को कानून बनाने का अधिकार होगा।

3.7.6 प्रान्तों के ग्रुप–प्रान्तों को आपस में मिलाकर ग्रुप बनाने की स्वतंत्रता होगी ऐसे समूह की अपनी अलग कार्यपालिका एवं विधानमण्डल होगा। प्रत्येक समूह को यह भी तय करना होगा कि प्रान्तीय विषयों में से कौन से सामान्य विषय समूह के पास रहेंगे। कैबिनेट मिशन में तीन समूहों की बात थी–

अ ग्रुप – मद्रास, बम्बई, यू.पी., बिहार और उड़ीसा। ब ग्रुप – पंजाब, उत्तर प्रदेश सीमा प्रान्त और सिन्ध। स ग्रुप – बंगाल और आसाम।

Jamnalal Bajaj Institute (Deemed University) Jodhpur

3.7.7 संविधान पर पुनर्विचार–संघीय संविधान तथा समूह संविधान में इस प्रकार की व्यवस्था होगी जिसके तहत कोई भी प्रान्त अपनी विधानसभा में बहुमत द्वारा संविधान पर पुनर्विचार की मांग कर सकेगा, किन्तु ऐसा 10 वर्ष की अवधि के उपरान्त ही संभव होगा।

ख) संविधान सभा की रचना के बारे में सिफारिशें :–

3.7.8 संविधान सभा का निर्माण–कैबिनेट मिशन ने यह तय किया कि भारत का संविधान बनाने के लिए एक संविधान सभा का निर्माण किया जाएगा। जिसमें कुल 389 सदस्य होंगे। इनमें 293 प्रान्तों के, 93 देशी रियासतों के तथा 4 चीफ कमिश्नर प्रांतों के होंगे।

3.7.9. 10 लाख पर एक सदस्य–यह निश्चित किया गया कि लगभग 10 लाख व्यक्तियों पर संविधान सभा में एक सदस्य होगा। प्रान्तों के लिए निर्धारित स्थान जनसंख्या के आधार पर उनकी विभिन्न जातियों में बांटे जायेंगे।

3.7.10 साम्प्रदायिक निर्वाचन प्रणाली–प्रान्तों की संविधान सभा में प्रतिनिधित्व आबादी के आधार पर दिया गया तथा यह तय किया गया कि प्रान्तीय विधानसभा से प्रत्येक सम्प्रदाय को जितने प्रतिनिधि संविधान सभा में भेजने थे, उनका चुनाव प्रत्येक सम्प्रदाय अलग–अलग करेगा।

3.7.11 मतदाताओं का वर्गीकरण–अल्पसंख्यक वर्गों की आबादी से अधिक सीटें देने की प्रथा को खत्म कर दिया गया। केवल तीन प्रकार से मतदाताओं को बांटने का निश्चय किया गया – साधारण, मुसलमान तथा सिक्ख।

3.7.12 संविधान सभा में देशी रियासतों का प्रतिनिधित्व–रियासतों को भी जनसंख्या के आधार पर ही प्रतिनिधित्व देने का निश्चय हुआ, परन्तु इनके प्रतिनिधियों के चुनाव का ढंग ब्रिटिश भारत से संविधन सभा के लिए चुने गए प्रतिनिधियों की 'समझौता समिति' और देशी रियासतों के नरेशों की तरफ से गठित समिति के बीच में आपसी बातचीत द्वारा तय करना होगा।

ग) अन्तरिम सरकार के सम्बन्ध में सिफारिशें

जब तक भारतीय संविधान का निर्माण नहीं हो जाता, तब तक शासन व्यवस्था के संचालन के लिए अन्तरिम सरकार का निर्माण केन्द्र स्तर पर किया जाएगा। जिसमें भारत के सभी राजनीतिक दलों को उचित प्रतिनिधित्व दिया जाएगा। इस सरकार को युद्ध विभाग सहित सारे विभाग मन्त्रियों को दे दिये जाएंगे जिन्हें जनता का विश्वास प्राप्त होगा।

घ) सन्धि के संबंध में सिफारिशें

सत्ता हस्तांतरण (ब्रिटिश सम्राट से भारतीयों को) से सम्बन्धित मामलों के निर्धारण हेतु संविधान निर्मात्री सभा और ब्रिटिश सरकार के बीच एक संधि की जाएगी।

कैबिनेट मिशन पर राजनीतिक दलों की प्रतिक्रिया :–

कैबिनेट मिशन की योजना को कुछ शंका समाधान के बीच दोनों दलों (कांग्रेस और मुस्लिम लीग) ने स्वीकार कर लिया। महात्मा गांधी ने कैबिनेट मिशन की योजनाओं का स्वागत करते हुए अपने पत्र हरिजन में लिखा 'कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों में वे बीज मौजूद है जो इस देश को ऐसा बल देंगे जिसमें दुख–कष्ट का नाम न होगा।' मौलाना आजाद के शब्दों में 'कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों के जरिए कैबिनेट मिशन प्लान का मंजूर किया जाना हिन्दुस्तान की आजादी की तहरीक की तवारीख में एक शानदार वाकया था। इसके माने (अर्थ) कि हिन्दुस्तान की आजादी का मुश्किल सवाल बातचीत और समझौते के जरिए हल हो गया था, खून–खराबा और लड़ाई के जरिए नहीं।'

3.8 अन्तरिम सरकार एवं संविधान सभा का चुनाव

जब कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने 'कैबिनेट मिशन योजना' को स्वीकार कर लिया तब वायसराय ने अन्तरिम सरकार के निर्माण के बारे में पत्र व्यवहार शुरू किया। इस समय सबसे जटिल प्रश्न यह था कि अन्तरिम सरकार में विभिन्न दलों का प्रतिनिधित्व किस आधार पर हो। मुस्लिम लीग चाहती थी कि अन्तरिम सरकार में कांग्रेस और लीग के ही सदस्य हो तथा कांग्रेस को किसी मुस्लिम सदस्य को मनोनीत करने का अधिकार न हो। वायसराय ने सुझाव दिया कि अन्तरिम सरकार में कुल 12 सदस्य होंगे जिसमें 5 कांग्रेस, 5 लीग द्वारा मनोनीत, 1 आंग्ल भारतीय तथा 1 ईसाई हो। कांग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया। इस समय संविधान सभा के सम्पन्न चुनावों में जाना स्वीकार किया और साथ में ही अन्तरिम सरकार में शामिल होने का फैसला लिया जिसमें बाद में लीग भी मजबूरीवश शामिल हो गई। 'कैबिनेट मिशन' के आधार पर संविधान सभा के चुनाव हुए। कुल 296 में से कांग्रेस का साथ देने वाले 212 जबकि मुस्लिम लीग का साथ देने वाले केवल 73 सदस्य थे। लीग को कांग्रेस की इस विजय से भारी निराशा हुई।

3.9 माउण्ट बैटन योजना

माउण्ट बैटन ने 24 मार्च, 1947 को वायसराय पद का कार्यभार सम्भाला और बड़ी चतुराई से देश को विभाजन की तरफ बढ़ाना शुरू किया। माउण्ट बैटन ने कांग्रेस के अनेक नेताओं तथा महात्मा गांधी को विभाजन के लिए तैयार कर लिया। इसके पश्चात 3 जून, 1947 को नई योजना प्रकाशित की गई जो माउण्ट बैटन योजना कहलाती है। जनसाधारण के शब्दों में 'मनबांटन योजना' के नाम से पुकारा जाता है क्योंकि इसने भारत विभाजन की स्पष्ट घोषणा कर दी थी। इसकी प्रमुख बातें इस प्रकार है –

3.9.1 विभाजन–हिन्दुस्तान को दो हिस्सों भारतीय संघ और पाकिस्तान में बांट दिया जाएगा।

3.9.2 जनमत संग्रह–इन दोनों राज्यों की अन्तिम सीमा निर्धारित करने से पहले पश्चिमोत्तर सीमान्त प्रदेश और असम से सिलहट जिले में जनमत और सिन्ध विधानसभा में वोट यह जानने के लिए लिया जाएगा कि उक्त दोनों राज्यों में से वे किसमें शामिल होना चाहते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.9.3 पंजाब और बंगाल का विभाजन–पंजाब सिक्ख, मुस्लिम तथा हिन्दु बहुल्य तथा बंगाल में हिन्दू तथा मुस्लिम दोनों धर्मों से जुड़ी जनसंख्या थी। इन्हें किस राज्य में शामिल किया जाए, यह विवाद का मुद्दा था अतः इन प्रान्तों के बारे में अन्तिम निर्णय का अधिकार इनकी विधानसभा को दिया गया।

3.9.4 संविधान सभा–राज्य विभाजन के बाद संविधान सभा को भी दो भागों में बांटा गया – भारतीय संघ संविधान सभा और पाकिस्तान की संविधान सभा।

3.9.5 अधिराज्य–भारत और पाकिस्तान दोनों को डोमिनियन स्टेट्स (अधिराज्य) बना दिया जाएगा।

3.9.6 देशी राज्य–देशी राज्यों को यह तय करने का अधिकार होगा कि वे किस अधिराज्य में शामिल होना चाहते हैं। अगर कोई राज्य किसी भी अधिराज्य में शामिल होना नहीं चाहता है तो ब्रिटिश सरकार के साथ पहले जैसे संबंध बनाये रख सकती है, परन्तु उसे अधिराज्य नहीं बनाया जा,गा।

3.9.7 बलूचिस्तान–ब्लूचिस्तान को भारत संघ में रहने या अलग होने का अधिकार होगा। इसका फैसला ब्लूचिस्तान की सभी प्रतिनिधियात्मक संस्थाओं की संयुक्त बैठक में किया जाएगा।

3.9.8 लेनदारियां व देनदारियां–भारत और पाकिस्तान के मध्य लेनदारियों व देनदारियों को विभाजित करने के लिए एक समझौता होगा।

3.9.9 राष्ट्रमण्डल की सदस्यता–भारत और पाकिस्तान दोनों को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के त्याग का अधिकार होगा।

अतः इस योजना की व्यापक आलोचना की जाती है जिसने भारतीय नेताओं को बहकाकर विभाजन के लिए तैयार कर लिया। इसने देशी रियासतों को भी भारत संघ से अलग रहने के लिए लालच दिया। इसकी आलोचना के बावजूद इसके महत्व को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि इसके आधार से भारत की स्वतन्त्रता निकट आयी। गोविन्द वल्लभ पन्त ने उसी समय स्पष्ट कहा था ष्माउण्ट बैटन योजना की स्वीकृति ही देश के लिए स्वराज और स्वाधीनता पाने का एकमात्र मार्ग है। आज हमारे सामने दो विकल्प है – माउण्ट बैटन योजना की स्वीकृति या फिर आत्म हत्या।

3.10 भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947

लगभग 200 वर्षो की गुलामी की बेड़ियों से मुक्ति की घोषणा भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947 से हुई। जिन्होंने अपने प्राणों की आहूति देकर स्वतन्त्रता प्राप्ति में अपना योगदान दिया उनकी बलिदानी अमर हो गई। करोड़ों भारतीयों का स्वतन्त्र होने का सपना साकार रूप लेने लगा। इस अधिनियम द्वारा निम्नलिखित व्यवस्थाएं की गई–

3.10.1 दो अधिराज्यों की स्थापना–15 अगस्त, 1947 से भारत का विभाजन कर भारत और पाकिस्तान नामक दो अधि राज्यों (डोमिनियनों) की स्थापना की जाएगी। इस प्रकार हिन्दू और मुस्लिम बाहुल्य क्षेत्रों के आधार पर भारत का विभाजन करना तय हुआ और मुस्लिम लीग की पाकिस्तान निर्माण की मांग पूर्ण होने लगी।

3.10.2 संविधान समाओं को सत्ता का हस्तान्तरण–इस अधिनियम द्वारा यह व्यवस्था की गई कि ब्रिटिश सरकार दोनों राज्यों (भारत और पाकिस्तान) की संविधान सभाओं को सत्ता का हस्तान्तरण कर देगी। उन्हें अपनी इच्छानुसार संविधान निर्माण करने की स्वतन्त्रता होगी। इस प्रकार संविधान सभाओं को पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न बनाया गया।

3.10.3 देशी रियासतों को स्वतन्त्रता–देशी रियासतों को यह स्वतन्त्रता होगी कि वे भारत या पाकिस्तान में से किसी भी अधिराज्य में सम्मिलित हो सकते हैं।

3.10.4 अलग–अलग गवर्नर जनरल–प्रत्येक अधिराज्य (डोमीनियन) के लिए एक गवर्नर जनरल होगा जिसकी नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट के द्वारा की जाएगी। वह डोमीनियन के शासन के लिए सम्राट का प्रतिनिधि होगा। गवर्नर जनरल तथा प्रान्तीय गवर्नर भविष्य में केवल संवैधानिक प्रधान के रूप में कार्य करेंगे और उन्हें मंत्रिमण्डल की सलाह के अनुसार कार्य करना पड़ेगा।

3.10.5 ब्रिटिश नियन्त्रण की समाप्ति–भारतीय शासन पर से ब्रिटिश नियन्त्रण समाप्त हो जाएगा। नए अधिराज्यों की संविधान सभा (विधानमण्डलों) को पूर्ण कानून निर्माण की शक्ति प्राप्त होगी। उनके द्वारा निर्मित कोई भी कानून इस आधार पर अवैध नहीं होगा कि यह ब्रिटिश संसद द्वारा निर्मित कानून के विरूद्ध है।

3.10.6 देशी राज्यों पर सर्वोच्च सत्ता का अन्त–देशी राज्यों के ऊपर सम्राट की सर्वोच्च सत्ता समाप्त हो जाएगी और सम्राट तथा देशी रियासतों के बीच जो सन्धियां या करार थे, उन सब का भी 15 अगस्त, 1947 के बाद अन्त हो जाएगा।

3.10.7 राष्ट्रमण्डल छोड़ने का अधिकार–भारत और पाकिस्तान दोनों को ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में इच्छानुसार रहने या छोड़ने का अधिकार दिया गया।

3.10.8 भारत सचिव के पद की समाप्ति–इस अधिनियम द्वारा भारत सचिव के पद को समाप्त कर दिया, उसके स्थान पर कार्य राष्ट्रमण्डल के सचिव को सौंप दिये गये।

3.10.9 1935 के भारत सरकार अधिनियम द्वारा शासन–जब तक नया संविधान लागू नहीं हो जाता तब तक शासन व्यवस्था का संचालन 1935 के अधिनियम के अनुसार किया जाएगा किन्तु अधिराज्य अपनी इच्छानुसार अधिनियम में संशोधन कर सकते हैं।

इस प्रकार 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतन्त्र हो गया। सदियों पुराना देखा स्पना साकार हुआ। पं. नेहरू ने कहा था कि ष्वर्षों पूर्व हमने नियति के साथ एक प्रतिज्ञा की थी और वह समय आ गया है जबकि हम उस प्रतिज्ञा को सर्वांश में तो नहीं लेकिन अधिकांश में पूरा करेंगे। ठीक आधी रात के समय जबकि सारा संसार निद्रामग्न है, भारत में जीवन तथा स्वतन्त्रता का स्वर्ण विहान होगा। इस तरह भारतीय इतिहास का एक युग समाप्त हुआ और दूसरा युग शुरू हुआ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3.11 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता हैं कि 1935 से 1947 की कालवधि भारतीय संवैधानिक विकास एवं राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हुई। इस दौरान भारतीय जनता में जिस तीव्र गति से असन्तोष बढ़ रहा था उसी गति से अंग्रेज धुआंधार संवैधनिक सुधार ला रहे थे। इस समय महात्मा गांधी एवं भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के हौंसले अपनी चरम सीमा पर थे। सम्पूर्ण भारत वर्ष में राजनीतिक जागृति का द्वीप प्रज्जवलित हो चुका था। लेकिन अंग्रेज भारतीय समाज को बांटने तथा हिन्दु मुसलमानों के बीच गहरी खाई खोदने में सफल हो गये थे। भारतीयों का अपने स्वयं द्वारा निर्मित संविधान और स्वतन्त्रता का सपना साकार रूप ले रहा था। जिसकी विधिवत् घोषणा केबिनेट मिशन तथा भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947 में होती हैं। भारत को अधुरी आजादी मिल जाती हैं लेकिन भारतीय समाज में अविश्वास के बीज अंग्रेजों के द्वारा बो दिये गये।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. निम्न पर टिप्पणियां लिखिए –
    1. क्रिप्स प्रस्ताव
    2. कैबिनेट योजना
    3. भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम 1947
2. भारत छोड़ो आन्दोलन 'स्वतन्त्रता प्राप्ति का अन्तिम आन्दोलन था' सिद्ध करो।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. अगस्त प्रस्ताव क्या हैं? स्पष्ट करो।
2. वेवेल योजना पर प्रकाश डालिए।
3. कैबिनेट मिशन द्वारा संविधान निर्माण हेतु क्या सुझाव दिये गये?
4. माउण्ट बैटन योजना भारत का विभाजन करने वाली थी। स्पष्ट करो।
5. अन्तरिम सरकार का गठन बताओ।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी में वायसराय तथा प्रधान सेनापति छोड़ सभी भारतीय होंगे। यह प्रस्ताव किस योजना का हैं?
2. कैबिनेट मिशन भारत कब आया?
3. कैबिनेट मिशन के सदस्यों के नाम बताओ।
4. भारत का विभाजन करने वाली कौनसी योजना थी?
5. संविधान सभा का गठन करने वाली कौनसी योजना थी?
6. महात्मा गांधी ने 'करो या मरो' का नारा किस आन्दोलन में दिया?
7. कैबिनेट मिशन द्वारा संविधान सभा में कितने सदस्यों का प्रावधान किया गया?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

आर.सी. अग्रवाल भारतीय संवैधानिक विकास एवं राष्ट्रीय आन्दोलन एस. चान्द एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली।

मौलाना आजाद इण्डिया विन्स फ्रीडम।

प्रभात कुमार स्वतंत्रता संग्राम और गांधी का सत्याग्रह हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

सुभाष कश्यप, स्वतन्त्रता आन्दोलन का इतिहास, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

सुभाष कश्यप, भारत का सांविधानिक विकास और संविधान, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अध्याय–4 : भारतीय संविधान निर्मात्री सभा एवं भारतीय संविधान का निर्माण

संरचना

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 संविधान सभा की मांग

- 4.2.1 1923 का शिमला सम्मेलन
- 4.2.2 मोतीलाल नेहरू की योजना
- 4.2.3 नेहरू समिति
- 4.2.4 स्वराज्य पार्टी के प्रयास
- 4.2.5 1924 में कांग्रेस कार्यसमिति का प्रस्ताव
- 4.2.6 कांग्रेस का फेजपुर अधिवेशन
- 4.2.7 1939 में कांग्रेस द्वारा दबाव
- 4.2.8 महात्मा गांधी के प्रयास
- 4.2.9 1940 में पण्डित नेहरू की घोषणा
- 4.2.10 अगस्त प्रस्ताव
- 4.2.11 इग्लैण्ड में सत्ता परिवर्तन

4.3 संविधान सभा का गठन एवं समितियों का निर्माण

4.4 संविधान सभा पर आक्षेप

- 4.4.1 संविधान सभा एक प्रतिनिधि संस्था नहीं
- 4.4.2 पूर्ण प्रभुत्व संस्था नहीं
- 4.4.3 हिन्दूओं की सभा
- 4.4.4 वकीलों के प्रभुत्व वाली संस्था

4.5 संविधान सभा की निर्णय प्रक्रिया

- 4.5.1 सहमति से निर्णय
- 4.5.2 समायोजन का सिद्धान्त
- 4.5.3 परिवर्तन के साथ चयन की कला

4.6 संविधान सभा के दृष्टिकोण एवं मुद्दे

- 4.6.1 प्रस्तावना
- 4.6.2 मौलिक अधिकार
- 4.6.3 नीति निर्देशक सिद्धान्त
- 4.6.4 कार्यपालिका का स्वरूप
- 4.6.5 राष्ट्रपति का चुनाव एवं शक्तियां
- 4.6.6 मन्त्रिपरिषद्
- 4.6.7 संसद
- 4.6.8 संघीय न्यायपालिका
- 4.6.9 उपराष्ट्रपति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.6.10 वयस्क मताधिकार
4.6.11 जम्मू कश्मीर
4.6.12 अल्पसंख्यकों की सुरक्षा
4.7 भारतीय संविधान के स्रोत
4.7.1 विश्व के प्रमुख संविधान
4.7.2 1935 का अधिनियम
4.7.3 1927 की नेहरू रिपोर्ट
4.7.4 संविधान सभा में वाद–विवाद
4.7.5 संविधान में अधिकाधिक समाविष्ट करने की प्रवृत्ति
4.7.6 संसद को राज्य विधान मण्डल द्वारा निर्मित विधियांए नियम व आदेश
4.7.7 संवैधानिक संशोधन
4.7.8 न्यायिक निर्णय
4.7.9 अभिसमय
4.7.10 संविधान विशेषज्ञों, विधि विशेषज्ञों एवं लेखकों के विचार
4.8 भारतीय संविधान उधार की थैली नहीं
4.9 सारांश

4.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत भारतीय संविधान का विकास : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं संविधान सभा के समक्ष विभिन्न मुद्दे और दृष्टिकोण का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप–

- भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन काल से संविधान सभा की मांग को समझ सकेंगे
- संविधान सभा के समक्ष विभिन्न मुद्दे एवं दृष्टिकोण का मूल्यांकन कर सकेंगे
- भारतीय संविधान के विभिन्न स्रोतों की जानकारी प्राप्त करेंगे।

4.1 प्रस्तावना

किसी देश का संविधान उसकी राजनीतिक व्यवस्था का वह बुनियादी ढांचा निर्धारित करता है जिसमें शासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित होती है। यह सरकार के तीनो अंगों व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका की स्थापना करता है एवं उनके दायित्वों का निर्धारण भी करता है। आधुनिक समय लोकतन्त्र का है जिसमें प्रभुसत्ता जनता में निवास करती है और जनता स्वयं अपने कानूनों का निर्माण भी करती है। लेकिन प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र आज सम्भव नहीं है इसीलिये अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र पाया जाता है जिसमें जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनकर कानून निर्माण का अधिकार देती हैं। जनता अपनी प्रभुसत्ता का सबसे पहले एवं बुनियादी प्रयोग कब करती है जब वह अपने आपको ऐसा संविधान प्रदान करें जिसमें उन बुनियादी नियमों की रूपरेखा दी गयी हों।

संविधान केवल कानूनों का संग्रह नहीं होता अपितु राष्ट्रपति की सामाजिक, अर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था का आईना (दर्पण) पेश करता हैं। राज्य के लिये संविधान की अनिवार्यता बतलाते हुए जैलीनेक ने कहा है कि 'संविधानहीन राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती। संविधान के अभाव में राज्य, राज्य न होकर एक प्रकार की अराजकता होगी।'

जिस प्रकार मानव शरीर ढांचे एवं गठन पर आधारित होता है और एक अंग में बीमारी आने पर सारा शरीर प्रभावित होता है ठीक उसी प्रकार संविधान राज्य का गठन कर उसे आधार प्रदान करता हैं और संविधान के किसी प्रावधान का दुरूपयोग या अनुपयोगी होने पर सम्पूर्ण संविधान की प्रासंगिकता पर प्रश्नचिन्ह उठाया जाता हैं ।

प्रो0 डायसी के अनुसार 'वे सब कानून संविधान में सम्मिलित होते हैं जिनका राज्य में प्रभुत्व शक्ति के प्रयोग अथवा वितरण पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है ।'

डॉ0 फाइनर ने लिखा है कि 'यह संविधान आधारभूत राजनीतिक संस्थाओं की व्यवस्था होती है ।'

वूल्जे के अनुसार संविधान सरकार की शक्ति, शासित के अधिकार और दोनों के सम्बन्धों का समायोजन होता है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस प्रकार यह कहा जा सकता हैं कि प्रत्येक राष्ट्र के लिये संविधान निहायत जरूरी है । जिसके माध्यम से कोई राष्ट्र अपनी शासन व्यवस्था का संचालन भली–भांति कर सकता है। किसी प्रभुत्व सम्पन्न लोकतांत्रिक राष्ट्र की संविधान रचना का कार्य सामान्य तथा उसकी जनता के प्रतिनिधि निकाय द्वारा किया जाता है। संविधान पर विचार करने तथा उसे अंगीकार करने के लिए जनता द्वारा चुने गए इस प्रकार के निकाय को संविधान सभा कहा जा सकता है।

भारतीय संविधान एक महान संविधान सभा द्वारा निर्मित किया गया है। जो 26 जनवरी, 1950 को सम्पूर्ण देश पर लागू हुआ था। इस संविधान के निर्माण में भारतीय संविधान सभा को 2 वर्ष 11 माह 18 दिन लगे थे। इसकी प्रथम बैठक 9 दिसम्बर, 1946 को हुई और उसका अन्तिम दिन 24 जनवरी 1950 था। यद्यपि भारतीय संविधान का निर्माण 26 नवम्बर, 1949 को पूर्ण तैयार हो गया था पर 26 जनवरी के ऐतिहासिक महत्वों को ध्यान में रखकर 26 जनवरी 1950 को लागू किया गया क्योंकि 1929 में लाहौर अधिवेशन में कांग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य की घोषणा की थी। संविधान सभा के अस्तित्व काल में उस पर कितना व्यय हुआ और जनता ने उसकी कार्यवाही में कितनी रूचि ली इसका अनुमान हम डॉ. कश्यप के निम्नलिखित अवतरण से भली–भांति लगा सकते हैं :–

संविधान सभा के कुल 12 अधिवेशन हुए जिसमें 167 दिन लगे। इसमें से 114 दिन प्रारूप संविधान के विचार में लग गए। संवैधानिक परामर्शदाता ने प्रारूप समिति के विचार के लिए जो प्रारूप संविधान तैयार करवाया उसमें 243 अनुच्छेद तथा 13 अनुसूचियां थी। प्रारूप समिति ने जो पहला प्रारूप संविधान प्रस्तुत किया था उसमें 315 अनुच्छेद तथा 8 अनुसूचियां थी। जब प्रारूप संविधान पर धारावार विचार समाप्त हुआ तब उसमें 386 अनुच्छेद थे। अपने अन्तिम रूप में संविधान में 395 अनुच्छेद तथा 8 अनुसूचियां थी। प्रारूप संविधान में संशोधन के प्राय 7635 प्रस्ताव रखे गये इनमें से सदन में कुल 2473 संशोधन प्रस्तुत किए गए थे। संविधान सभा के तीन वर्ष के अस्तित्व काल में कुल 6396729 रू. का खर्च हुआ। जनता ने संविधान सभा की कार्यवाही में सक्रिय रूचि ली और दर्शक दीर्घा में 53000 दर्शकों को प्रवेश मिला था।

4.2 संविधान सभा की मांग

भारत में भी राष्ट्रीय आन्दोलन और संविधान सभा की मांग में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा हैं। 1922 में महात्मा गांधी ने पहली बार स्पष्ट शब्दों में स्वयं भारतीयों द्वारा भारत का संविधान बनाये जाने की बात कही।

4.2.1 1923 का शिमला सम्मेलन–ऐनी बेसेन्ट ने भी स्पष्ट रूप से संविधान सभा के निर्माण की मांग की और उन्हीं के सुझावों के आधार पर 1923 में शिमला में एक सम्मेलन हुआ जिसके तहत् केन्द्रीय विधान मण्डल व प्रान्तीय विधानमण्डलों के सदस्यों को आमंत्रित किया गया और इसमें संविधान के आवश्यक तत्वों की एक रूपरेखा तैयार की गई।

4.2.2 मोतीलाल नेहरू की योजना–स्वराज्य दल के नेता पण्डित मोतीलाल नेहरू ने केन्द्रीय विधानसभा में प्रतिनिधि गोलमेज सम्मेलन आयोजित करने की मांग की जो भारतीय संविधान के बारे में योजना सम्बन्धी सिफारिश कर सके। इसको केन्द्रीय विधानमण्डल के अनुमोदन के पश्चात ब्रिटिश संसद के सम्मुख प्रस्तुत करना था यह प्रस्ताव जो आगे चलकर 'राष्ट्रीय मांग' के नाम से विख्यात हुआ।

4.2.3 नेहरू समिति–साइमन कमीशन के बहिष्कार के समय भारत सचिव लर्ड बर्कनहेड द्वारा भारतीयों को संविधान निर्माण को चुनौती के सम्बन्ध में गठित नेहरू समिति ने भी संविधान सभा के गठन की मांग की।

4.2.4 स्वराज्य पार्टी के प्रयास–सन् 1934 में स्वराज्य पार्टी ने आत्म निर्णय के अधिकार की मांग करते हुए एक प्रस्ताव द्वारा यह घोषणा की गई कि इसको क्रियान्वित करने का एक मात्र उपाय यह है कि देश के संविधान निर्माण के लिए भारतीय प्रतिनिधियों की एक संविधान सभा बुलायी जाए।

4.2.5 1934 में कांग्रेस कार्य समिति का प्रस्ताव–1934 में कांग्रेस कार्य समिति ने एक प्रस्ताव के माध्यम से यह आग्रह किया कि वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित भारतीय प्रतिनिधियों की संविधान सभा बनायी जाए।

4.2.6 कांग्रेस का फेजपुर अधिवेशन–कांग्रेस का अधिवेशन जो 28 दिसम्बर, 1936 को फैजपुर में हुआ था उसमें कांग्रेस ने एक संकल्प पारित किया जिसमें इस बात का उल्लेख किया गया कि भारतीय केवल उसी संवैधानिक ढाँचे को मान्यता देंगे जिसका निर्माण वे स्वयं करे या जो भारत को राष्ट्र के रूप में मानकर देश की स्वतन्त्रता पर आधारित हो तथा जिसमें उनकी आवश्यकताओं और आशा के अनुसार विकास की पूरी गुंजाइश हो। कांग्रेस का उद्देश्य भारत में एक ऐसे लोकतंत्र राज्य की स्थापना करना है जिसमें राजनीतिक शक्ति का हस्तांतरण जनता को मिल सके और सरकार उसके प्रभावी नियंत्रण में हो। ऐसे राज्य की स्थापना केवल ऐसी संविधान सभा द्वारा ही हो सकता है, जिसका निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर ही हो और जिसे देश का संविधान बनाने का अन्तिम अधिकार प्राप्त हो।

4.2.7 1939 में कांग्रेस द्वारा दबाव–द्वितीय विश्व युद्ध के विस्फोट के साथ ही भारत की राजनीति ने भी एक नया मोड़ लिया। कांग्रेस मंत्रिमण्डलों ने त्यागपत्र दे दिये। जोरदार शब्दों में यह मांग की गई कि भारत की स्वतन्त्रता एवं लोगों की संविधान सभा द्वारा संविधान निर्माण के अधिकार को मान्यता प्रदान की जाए। 14 सितम्बर, 1939 को अपने ऐतिहासिक प्रस्ताव में कांग्रेस ने अपनी संविधान सभा की मांग पुनः दोहरायी। नवम्बर 1939 में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने अपने एक प्रस्ताव में देश के संविधान के निर्माण करने के लिए संविधान सभा के गठन की मांग की।

4.2.8 महात्मा गांधी के प्रयास–नवम्बर 1939 में ही महात्मा गांधी ने हरिजन में एक ही रास्ता शीर्षक वाले एक लेख में लिखा – कठोर तथ्यों ने मुझे संविधान सभा के लिए विचार का जवाहरलाल से भी अधिक उत्साही समर्थक बना दिया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.2.9 1940 में पण्डित नेहरू की घोषणा–ध्वास्तविक लोकतंत्रात्मक स्वतंत्रता के लिए हमारे पास संविधान सभा के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। इसका अर्थ है नवीन राज्य का निर्माण। इसका अभिप्रायः है साम्राज्यवाद की आर्थिक नींव और ढांचे से दूर चले जाना।

4.2.10 अगस्त प्रस्ताव–1940 के अगस्त प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार ने संविधान सभा की मांग को पहली बार अधिकारिक रूप से स्वीकार किया, भले ही स्वीकृति अप्रत्यक्ष तथा महत्वपूर्ण शर्तों के साथ थी।

4.2.11 इंग्लैण्ड में सत्ता परिवर्तन–जुलाई, 1945 में इंग्लैण्ड में नयी लेबर सरकार सत्ता में आई। तब 19 सितम्बर, 1945 को वायसराय लार्ड वेवेल ने भारत के संबंध में सरकार की नीति की घोषणा की तथा यथाशीघ्र संविधान निर्माण निकाय का गठन करने के लिए महामहिम की सरकार के इरादे की पुष्टि की।

4.3 संविधान सभा का गठन एवं समितियों का निर्माण

कैबिनेट मिशन ने अनुभव किया कि संविधान सभा के गठन की सर्वाधिक संतोषजनक विधि यह होती कि उसका गठन वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनाव के द्वारा किया जाता किन्तु ऐसा होने से संविधान निर्माण में अवांछनीय विलम्ब हो जाता है। इसीलिए एक मात्र व्यावहारिक तरीका यह था कि इसके सदस्यों का चुनाव प्रान्तीय विधानसभाओं का निर्वाचन एकल संक्रमणीय मत सहित आनुपातिक प्रतिनिधित्व की विधि द्वारा करवाया जाना था। इसमें यह सिफारिश की गई कि प्रान्तों की जनसंख्या के अनुपात के आधार पर चुनाव करवाया जायेगा और प्रति 10 लाख लोगों के पीछे एक सदस्य का चुनाव होना तय हुआ। भारतीय रियासतों के लिए भी यह प्रावधान किया गया और रियासतों के संबद्ध राजाओं को संविधान सभा के लिए सदस्य मनोनीत करने का अधिकार दिया गया था। इस तरह केबिनेट मिशन ने संविधान सभा के कुल 385 सदस्य निर्धारित किये जिसमें 292 ब्रिटिश प्रान्तों से 93 भारतीय रियासतों से 4 चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों से लिये गये।

इस प्रकार 296 सीटों के चुनाव जुलाई अगस्त 1946 तक पूरे कर लिए गये जिनका ब्यौरा इस प्रकार था :–

कांग्रेस	208
मुस्लिम लीग	73
युनियनिस्ट	1
युनियनिस्ट मुस्लिम	1
युनियनिस्ट अनुसूचित जातियां	1
कृषक प्रजा	1
अनुसूचित जाति परिसंघ	1
सिक्ख (गैर कांग्रेसी)	1
कम्युनिस्ट	1
स्वतन्त्र	8
कुल	**296**

इस प्रकार कैबिनेट मिशन के आधार पर संविधान सभा का निर्माण कर दिया गया जिसको पहले तो मुस्लिम लीग ने स्वीकार कर लिया, पर बाद में इसकी बैठक का बहिष्कार किया। इसकी प्रथम बैठक 9 दिसम्बर, 1946 को हुई जिसका कार्यवाहक सभापति बिहार के सबसे वयोवृद्ध सच्चिदानन्द सिन्हा को बनाया गया और 11 दिसम्बर, 1946 को डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को इसका सभापति चुना गया जो अन्त तक बने रहे। 13 दिसम्बर, 1946 को पण्डित जवाहरलाल नेहरू द्वारा उद्देश्य प्रस्ताव रखा गया जिसे सदन ने 22 दिसम्बर, 1946 को स्वीकृत कर दिया। संविधान निर्माण को सरल व सुगम बनाने के लिए कुछ समितियों का निर्माण किया गया, जो अग्रलिखित है–

1. संघ संविधान समिति
2. प्रान्तीय संविधान समिति
3. संघ शक्ति समिति
4. मूल अधिकारों, अल्प संख्यकों आदि से संबंधित परामर्श समिति
5. प्रारूप समिति आदि।

इन अधिकांश समितियों के अध्यक्ष जवाहर लाल नेहरू या सरदार पटेल थे। संविधान निर्माण में इन दो महारथियों का मुख्य हाथ रहा। इनके अलावा डॉ. बी.आर अम्बेडकर, के.एम. मुंशी, अलादि कृष्णास्वामी अय्यर, गोपालास्वामी अंय्यगर, टी.टी. कृष्णाचारी, प्रो. के.टी. शाह, हृदयनाथ कुंजरू की भी भारतीय संविधान के निर्माण में मुख्य भूमिका रही।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.4 संविधान सभा पर आक्षेप

जिस संविधान सभा का निर्माण कैबिनेट मिशन के आधार पर किया गया उस पर अनेक आरोप लगाये गये थे। जिनको हम निम्नलिखित शीर्षकों द्वारा प्रस्तुत कर सकते हैं :–

4.4.1 संविधान सभा एक प्रतिनिधि संस्था नहीं–संविधान सभा पर सबसे पहला व प्रमुख आरोप यह लगाया गया था कि यह एक प्रतिनिधि पूर्ण संस्था नहीं है। इसके पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं :–

1. यह जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचित नहीं – संविधान सभा के जिन 296 सदस्यों का निर्वाचन किया गया था वह आम जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से न करके बल्कि जनता द्वारा निर्वाचित प्रान्तीय विधानसभाओं के सदस्यों के द्वारा किया गया था।

2. जनता द्वारा वयस्क मताधिकार द्वारा निर्वाचित सभा नहीं – संविधान सभा का चुनाव वयस्क मताधिकार द्वारा होने की बात दूर, इनका चुनाव विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य द्वारा किया गया था और इनका चुनाव में तो देश के मात्र 28.5 प्रतिशत लोगों का मताधिकार का अधिकार प्राप्त था। इस तरह जिस संविधान सभा का निर्माण किया गया था वह प्रतिनिधि पूर्ण संस्था नहीं थी।

3. देशी रियासतों के सदस्यों के मनोनयन की व्यवस्था – कैबिनेट मिशन के तहत् संविधान सभा मे देशी रियासतों के लिए 93 सीटों का आरक्षण किया गया था और वहां के संबंध राजा को इनको मनोनीत करने का अधिकार प्रदान किया गया थ। अतः आलोचकों द्वारा यह कहकर विरोध किया गया कि एक तरफ सदस्यों का चुनाव व दूसरी तरफ मनोनयन।

4. साम्प्रदायिक आधार पर निर्वाचन – प्रान्तीय विधान मण्डलों के सदस्यों का चुनाव साम्प्रदायिक आधार पर किया गया था और कैबिनेट मिशन में यह व्यवस्था की गई थी कि मुस्लिम सदस्य मुस्लिम उम्मीदवार का ही चयन करेगा। इस प्रकार संविधान सभा का गठन साम्प्रदायिक आधार पर किया गया।

इस आरोप के विरोध में तर्क :–

1. संविधान सभा का प्रत्यक्ष चुनाव तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप नहीं।
2. हिन्दू व मुसलमानों के बीच तनाव उत्पन्न होने की सम्भावना होना।
3. यदि वयस्क मताधिकार द्वारा संविधान सभा के चुनाव होते तो लगभग इसमें कार्यरत सदस्य ही आते।
4. देशी रियासतों के राजाओं को अपने प्रतिनिधि के रूप में सदस्य मनोनीत करने का अधिकार नहीं दिया जाता तो वे भारत संघ में शामिल होने से इन्कार कर सकते थे।

5. डॉ. बी.आर. अम्बेडकर का तर्क था कि ष्यद्यपि संविधान सभा जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित नहीं की गई, लेकिन यह निश्चित रूप से प्रतिनिधि पूर्ण संस्था है। अमेरिकन संविधान तो अपेक्षाकृत एक ओर भी छोटी संस्था द्वारा तैयार किया गया था और जब वह संस्था संयुक्त राज्य अमेरीका की जनता की ओर से संविधान की घोषणा कर सकती है तो भारतीय संविधान सभा उसकी तुलना में एक बड़ी संस्था है। अतः उसके लिए ऐसा करना सर्वथा उचित है कि वह सम्पूर्ण जनता की तरफ से बोले।

6. इसके सन्दर्भ में एक यह तर्क भी प्रस्तुत किया गया कि अगर वयस्क मताधिकार द्वारा संविधान सभा का गठन किया जाता तो इससे हमारे देश की आजादी में और समय लगता और भारतीय जनता इस बात को सहन करने के लिए तैयार नहीं थी।

4.4.2 पूर्ण प्रभुत्व संस्था नहीं– संविधान सभा पर यह भी आरोप लगाया था कि यह पूर्ण रूप से प्रभुत्वसम्पन्न संस्था नहीं जबकि यह तो ब्रिटिश सम्राट के अधिनिष्ट संस्था है जिसको पूर्ण रूप से स्वतन्त्र लेने का कोई अधिकार नहीं है। इसके सन्दर्भ में विचार प्रस्तुत करते हुए एम.आर. जाकिफ ने कहा था कि संविधान सभा सम्पूर्ण प्रभुत्व संस्था नहीं है और उसकी शक्तियां मूलभूत सिद्धान्त एवं प्रक्रिया दोनों की दृष्टि से मर्यादित है।

संविधान के स्रोत के सन्दर्भ में अय्यगर ने लिखा है कि यह स्रोत नहीं है कि इसके निर्माता सम्राट की सरकार के तीन सदस्य (कैबिनेट मिशन के सदस्य) वरन् यह है कि जनता ने इसके प्रस्तावों को स्वीकार किया है।

पं. नेहरू ने भी स्पष्ट करते हुए कहा था कि ष्सरकारें राजकीय पत्रों से पैदा नहीं होती वास्तव में जनता की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है। हम आज यहां इसलिए एकत्रित हो पाये है कि हमारे पीछे जनता की शक्ति है।

4.4.3 हिन्दुओं की सभा–संविधान सभा पर यह भी आरोप लगाया गया था कि यह हिन्दुओं की सभा मात्र है, क्योंकि मुसलमानों ने इसमें भाग नहीं लिया था। यद्यपि 296 में से 73 सीटें मुसलमानों के लिए आरक्षित की गई थी, परन्तु मुस्लिम लीग ने संविधान सभा की बैठकों का बहिष्कार कर दिया था। अतः मुसलमानों का इसमें कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। दिसम्बर 1946 में ब्रिटिश संसद में कुछ ऐसे वक्तव्य दिये गये जिनसे यह ध्वनि निकलती थी कि भारतीय संविधान सभा प्रतिनिधिक नहीं है। चर्चिल ने कहा था कि संविधान सभा देश में एक ही बड़ी जाति का प्रतिनिधित्व हुआ है। लार्ड साइमन ने तो इसको हिन्दुओं की एक संस्था तक कह डाला।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विपक्ष में तर्क :– तत्कालीन भारतीय राजनेताओं ने इसका व्यापक व घोर विरोध किया। इसके सन्दर्भ में तर्क प्रस्तुत करते हुए डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था कि संविधान सभा के प्रारम्भिक अधिवेशन में 296 को भाग लेना था पर 210 ने ही भाग लिया था जिसमें हिन्दु 155, एस.सी. 30, सिक्ख 5, भारतीय इसाईयों में से 6, बी.सी. में से 5, आंग्ल भारतीय 3 तथा 4 मुस्लिम थे। उन्होंने यह स्पष्ट करते हुए कहा था कि मुझे इस बात को लेकर खेद है कि मुस्लिम लीग ने इसका बहिष्कार किया है, परन्तु इसको हिन्दुओं की संस्था कहा जाना पूर्णतया गलत व अनुचित है, क्योंकि इसमें अन्य सभी जाति व समूह के लोगों को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है।

4.4.4 वकीलों के प्रभुत्व वाली संस्था–संविधान सभा पर यह भी आरोप लगाया गया कि यह वकीलों के प्रभुत्व वाली संस्था है जिसके अधिकांश सदस्य प्रसिद्ध वकील हैं जो इस पेशे से जुड़े हुए हैं। अतः ऐसा होने के कारण यह वकील अपने हितों के मुताबिक कानून बनायेंगे जो आम जनता के लिए हितकर होने की बजाय अहितकर होंगे।

यद्यपि यह उचित है कि संविधान सभा के अधिकांश सदस्य वकील थे परन्तु इसको वकीलों के प्रभुत्व वाली संस्था कहना अनुचित है, क्योंकि इसमें सभी वर्गों के सदस्यों को पर्याप्त स्थान दिया गया। जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि अगर वकीलों को शामिल नहीं किया जायेगा तो क्या फिर मजदूरों या किसानों को शामिल किया जायेगा, जिनको संविधान या कानून का प्राथमिक ज्ञान नहीं है। अगर ऐसा किया जाता तो संविधान का निर्माण होना बहुत ही कठिन तथा मुश्किल था। अतः अधिकांश वकीलों को शामिल करना अनुचित नहीं था, क्योंकि वकील को तो कानून व विश्व के अन्य संविधान के बारे में काफी ज्ञान रखते थे।

4.5 संविधान सभा के निर्णय की प्रक्रिया

जॉन आस्टिन ने अपनी पुस्तक भारतीय संविधान में निर्णयों की प्रक्रिया को तीन भागों में बांटा था–

4.5.1 सहमति से निर्णय–संविधान में निर्णय लेने की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया सहमति से निर्णय लेना है। इससे आशय यह है कि संविधान सभा में जो भी निर्णय लिए जाते वे सभी सदस्यों की सहमति व राय के आधार पर लिए जाते थे। यद्यपि संविधान सभा में कांग्रेस का प्रबल प्रभाव तथा 2/3 बहुमत था परन्तु अन्य गैर कांग्रेसियों को बोलने, अपने विचार रखने के लिए पूरा–पूरा अवसर दिया जाता था तथा उनकी रय को स्वागत पूर्वक स्वीकार किया जाता था। एम.वी. पायली ने लिखा है कि संविधान सभा में वाद विवाद को पूरा प्रोत्साहन मिला। आलोचनाओं के प्रति सहनशीलता प्रकट की गई लम्बे वाद विवाद के प्रति असन्तोष नहीं दिखाया गया अपने विचार दूसरे पर लादने एवं शीघ्रता से कार्य समाप्त करने का प्रयास नहीं किया गया यह एक पूर्ण लोकतांत्रिक प्रक्रिया थी जिस पर भारतीय गर्व कर सकते हैं।

4.5.2 समायोजन का सिद्धान्त–समायोजन का सिद्धान्त का आशय दो ऐसे तत्वों के बीच समन्वय स्थापित करना है जो परस्पर विरोधी हैं। इस प्रकार के अनेक तत्वों एवं सिद्धान्तों का सविधान सभा ने स्वीकार करते हुए अनेक समायोजन के तत्वों को भी शामिल करने का प्रयास किया है। जैसे :–

1. संघात्मक एवं एकात्मक के बीच समन्वय,
2. गणतन्त्र के साथ राष्ट्रमण्डल की सदस्यता,
3. केन्द्रीय शासन एवं स्थानीय स्वशासन की बीच समन्वय।

4.5.3 परिवर्तन के साथ चयन की कला–भारतीय संविधान के निर्माण में अनेक स्रोतों का योगदान रहा। जिसमें विदेशी संविधान भी प्रमुख हैं। संविधान निर्माताओं ने अनेक प्रावधान इनसे ग्रहण किये लेकिन उन्हें वैसा का वैसा ग्रहण न करके भारतीय परिस्थितियों के अनुकुल ढालकर शामिल किया। इसे संविधान निर्माण की एक श्रेष्ठ प्रक्रिया और भारतीय संविधान का गुण कहा जा सकता है।

4.6 संविधान सभा के दृष्टिकोण एवं मुद्दे

भारतीय संविधान सभा में अनेक हस्तियां थी, जिनके बीच ठोस वाद–विवाद एवं गंभीर विचार–विमर्श हुआ। इस दौरान अनेक दृष्टिकोण तथा भारत की भावी राजनीतिक व्यवस्था के बारे में कुछ अवधारणायें एवं दृष्टिकोण उभर कर सामने आये जो निम्नलिखित है :–

4.6.1 प्रस्तावना–प्रस्तावना संविधान सभा के इस संकल्प की घोषणा करती है कि भारत सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य है। परन्तु प्रस्तावना को लेकर अनेक मतभेद थे। उस समय भारत में राष्ट्रमंडल में शामिल होने का निर्णय किया था। सभा के कुछ सदस्यों का मत था कि ऐसा करना गणतन्त्र के मूल्यों के विरूद्ध है इसके अतिरिक्त कुछ सदस्य प्रस्तावना में समाजवाद शब्द जोड़ना चाहते थे। परन्तु अम्बेडकर का मत था कि हम हमारी भावी पीढ़ी को किसी अर्थव्यवस्था विशेष के साथ जोड़ना नहीं चाहते।

4.6.2 मौलिक अधिकार–मौलिक अधिकारों का सम्बन्ध नागरिकों के सर्वांगीण विकास से है। संविधान एक लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा का श्रीगणेश करता है परन्तु कुछ सदस्यों का मत था कि यह आर्थिक क्षमता विकसित करने में असनर्थ हैं। वी.एन.राव द्वारा वर्गीकृत वाद योग्य या अवाद योग्य अधिकारों का विरोध हुआ। विशम्भर दयाल त्रिपाठी के शब्दों में मताधिकार को छोड़कर संविधान गरीब आदमी के लिये और कोई दूसरा अधिकार नहीं देता। इसके अलावा अधिकारों पर लगाये गये प्रतिबन्धों की आलोचना की गयी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4.6.3 नीति निदेशक सिद्धान्त–संविधान के भाग 4 में उल्लेखित नीति निदेशक सिद्धान्तों को लेकर भी वाद–विवाद हुआ। कुछ सदस्य जिनमें सैय्यद करीमुद्दीन, हरिकृष्ण कामत, प्रो0 नासीरूद्दीन आदि नीति निदेशक सिद्धान्तों को स्थायी बनाना चाहते थे और उनमें मौलिक शब्द जोड़कर मौलिक अधिकारों के समकक्ष लाना चाहते थे।

4.6.4 कार्यपालिका का स्वरूप–कार्यपालिका के स्वरूप को तय करने के लिये संविधान सभा के सामने तीन विकल्प थे। प्रथम इंग्लैण्ड की संसदीय प्रणाली, द्वितीय अमरीका की अध्यक्षात्मक व्यवस्था और तृतीय स्वीट्जरलैण्ड की बहुल कार्यपालिका। कुछ गैर कांग्रेसी मुस्लिम सदस्य स्विस प्रणाली को अपनाने के पक्ष में थे परन्तु अधिकांश संविधान सभा के सदस्यो का यह मत था कि हम पिछले लम्बे अर्से से संसदीय व्यवस्था के अनुसार संचालित शासन में भागीदार थे और उसके बारे में हमें जानकारी भी हैं। अतः संसदीय प्रणाली हमारे लिये हितकर साबित होगी।

4.6.5 राष्ट्रपति का चुनाव व शक्तियाँ–राष्ट्रपति के निर्वाचन को लेकर भी अनेक दृष्टिकोण उभरकर आये। कुछ सदस्य राष्ट्रपति का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से कराने के पक्षधर थे परन्तु सभा इससे सहमत नहीं थी। अन्ततः अप्रत्यक्ष चुनाव की व्यवस्था की गयी।

राष्ट्रपति की शक्तियां विशेषकर आपात् काल को लेकर मतभेद था। हरिकृष्ण कामत का मत था कि जिस प्रकार हिटलर आपातकालीन शक्तियों के आधार पर तानाशाही बना ठीक उसी प्रकार भारत में होगा। परन्तु अन्य सदस्य सहमत नहीं थे। उनका तर्क था कि इन प्रावधानों का उद्देश्य संवैधानिक व्यवस्था को बनाये रखना है और इनका प्रयोगकर्ता राष्ट्रपति न होकर मन्त्रिपरिषद् और संसद होगी।

4.6.6 मन्त्रिपरिषद्–सभा में मन्त्रियों की योग्यता को लेकर वाद–विवाद हुआ। महावीर त्यागी मन्त्रियों के लिये शैक्षणिक योग्यता तय करना चाहते थे। वहीं के.टी. शाह मन्त्रियों के लिये आर्थिक ब्यौरा देना अनिवार्य बनाना चाहते थे।

4.6.7 संसद–संसद को द्विसदनात्मक बनाया जाये या एक सदनीय। राज्य सभा को लेकर मतभेद देखा गया और कुछ सदस्य इसे बनाने के पक्षधर नहीं थे लेकिन अन्ततः द्विसदनीय व्यवस्थापिका बनाया जाना तय किया गया। कुछ सदस्य राज्य सभा के संगठन से भी असहमत थे। के.टी.शाह राष्ट्रपति द्वारा 12 सदस्यों के मनोनयन के असमर्थक थे और कुछ सदस्य रज्य सभा में सभी राज्यों को सम्मान प्रतिनिधित्व देने की बात करते है।

4.6.8 संघीय न्यायपालिका–संविधान सभा के सम्मुख जब संघीय न्यायपालिका का मामला आया तब भी कुछ दृष्टिकोण उभर कर सामने आये। कुछ सदस्य शक्तियों के पूर्ण पृथक्करण के पक्षधर थे। उनका मानना था कि इसके बिना न्यायपालिका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम नहीं रख सकती लेकिन संसदीय व्यवस्था अपनाने के कारण कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को तो एक रखा गया परन्तु न्यायपालिका को इनसे स्वतन्त्र एवं पृथक रखा गया है।

4.6.9 उपराष्ट्रपति–के.टी.शाह व मोहम्मद ताहिर का मत था कि उपराष्ट्रपति का चुनाव राष्ट्रपति के समान ही उसी निर्वाचक मण्डल से होना चाहिए। जिसमें संसद के दोनों सदन तथा राज्यों के विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य सम्मिलित होते हैं।

4.6.10 वयस्क मताधिकार–मौलाना आजाद जैसे कुछ सदस्य आगामी 15 वर्ष तक वयस्क मताधिकार को शुरू करने के पक्षधर नहीं थे परन्तु राजेन्द्र प्रसाद, नेहरू वयस्क मताधिकार को लागू करना कांग्रेस के वचन को पूर्ण करना मानते थे।

4.6.11 जम्मू कश्मीर–जब संविधान की धारा 370 के तहत् जम्मू कश्मीर को विशेष राज्य का दर्जा देने की बात आयी तो अनेक सदस्यों ने इसका विरोध किया लेकिन पटेल ने राष्ट्र की एकता का जो तर्क दिया उसके सामने इन सदस्यों को झुकना पड़ा।

4.6.12 अल्पसंख्यकों की सुरक्षा–मौलाना आजाद ये चाहते थे कि अल्पसंख्यक एवं मुसलमानों में सुरक्षा की भावना बढ़ाने के लिये और संसद एवं विधानमण्डलों में उनका अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिये आरक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिये। लेकिन पटेल और एजाज रसुल जैसी मुस्लिम महिला सदस्य इसके पक्ष में नहीं थे।

4.7 भारतीय संविधान के स्रोत

जहाँ तक भारतीय संविधान के स्रोत का प्रश्न है तो इसके निर्माण में विश्व के अन्य राष्ट्रों के संविधानों व ब्रिटिश सरकार द्वारा बनाये गये अधिनियमों की महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। यही कारण है कि आलोचकों ने इसकी आलोचना करते हुए इसकी संज्ञा कैंची व गोंद से की है। अर्थात् संविधान निर्माताओं ने विश्व के संविधानों का अध्ययन किया तब उन्हें जो बात अच्छी लगी उसको कांट कर भारतीय संविधान में चिपका दिया। इसी प्रकार कुछ विद्वानों ने इसकी संज्ञा 1935 के अधिनियम की कार्बन कॉपी से की है। यद्यपि यह सही है कि भारतीय संविधान में विश्व के अनेक राष्ट्रों के संविधानों से बातें ग्रहण की गयी है परन्तु जितनी आलोचनायें की जाती हैं, वे न तो अनुचित है और न ही सार्थक। "भारतीय संविधान उधार की एक थैली है जिसने इसे भद्दा बना दिया है और उसके अनुसार वह बेमेल जटिल बन गया है।" फिर भी वास्तविकता यह है कि संविधान निर्माताओं ने श्चुनी हुई उधार लेने योग्य बातों के माध्यम से एक व्यावहारिक संविधान की खोज की। उन्हें जो बातें, जो सिद्धान्त अच्छे लगे उनको अपने संविधान में शामिल किया लेकिन अंधानुसरण भी नहीं किया उनको देश की परिस्थितियों के आधार पर ग्रहण किया।

4.7.1 विश्व के प्रमुख संविधान–भारतीय संविधान में विश्व के अनेक राष्ट्रों के संविधानों की महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है जिनकी अच्छाइयों को ग्रहण कर देश की परिस्थितियों के अनुसार संविधान में स्थान दिया गया जिन संविधानों का योगदान था वे निम्नलिखित है–

Uttarakhand Open University, Haldwani (Deemed University) Bharat Vishva Vidyalaya Institute Dehradun

1. ब्रिटिश संविधान :– ब्रिटिश संविधान व वहां की राजनीतिक व्यवस्था से हमने बहुत कुछ सीखा है क्योंकि यू.के. के साथ शासित देश के रूप में सम्पर्क दीर्घकाल तक रहा है। ब्रिटिश संविधान के निम्न प्रभाव भारतीय संविधान पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते है। यू.के. संविधान से संसदीय व्यवस्था के साथ संसदीय सर्वोच्चता के सिद्धान्त को ग्रहण किया गया, कानून निर्माण की प्रक्रिया, उत्तरदायी शासन व्यवस्था, मन्त्रिमण्डल का सामुहिक उत्तरदायित्व, प्रधानमन्त्री का नेतृत्व, मन्त्री परिषद की गोपनीयता, विधि का शासन, ब्रिटिश सम्राट की भांति राष्ट्रपति को संवैधानिक अध्यक्ष का दर्जा, एकीकृत संस्थागत ढाँचा जैसे एकीकृत न्याय व्यवस्था, इकहरी नागरिकता द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका, संसदीय विशेषाधिकार, प्रजातांत्रिक समाजवाद आदि उपबन्धों को ब्रिटिश संविधान से ग्रहण किया गया है।

2. संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान :– संविधान सभा के प्रथम व अस्थाई अध्यक्ष सच्चिदानन्द सिन्हा ने कहा था ष्मुझे तनिक भी संदेह नहीं कि आप किसी अन्य संविधान की तुलना में अमेरिकन संविधान की धाराओं पर विशेष ध्यान दे। भारतीय संविधान के अनेक उपबन्ध यू.एस.. संविधान से ग्रहण किये गये है। संविधान की प्रस्तावना में मौलिक अधिकार, सर्वोच्च न्यायालय द्वारा संविधान की रक्षा, उप राष्ट्रपति पद एवं संविधान संशोधन की प्रक्रिया आदि अमेरिकी संविधान के प्रभाव को दर्शाते हैं। इसके अतिरिक्त संघीय व्यवस्था के अनुभवों से भी कई बातें सीखी है जैसे शक्ति विभाजन सूक्ष्म नहीं होने चाहिए अन्यथा केन्द्र और राज्यों में आपसी विवाद अधिक होंगे, इसलिए शक्ति वितरण की व्यवस्था विस्तार से है। संघीय व्यवस्था की रक्षा के लिए अमेरिकी संविधान की भांति ही सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार दिया गया है ताकि वह संविधान का संरक्षण कर सके। न्यायाधीशों की स्वतंत्रता, उन्हें पद से हटाने की विधि, सर्वोच्च न्यायालय के संगठन आदि में अमेरीकी व्यवस्था की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

3. आयरलैण्ड का संविधान :– राज्य नीति के निर्देशक तत्व, राष्ट्रपति के निर्वाचन में निर्वाचक मण्डल का प्रावधान, राज्य सभा में विशिष्ट व्यक्तियों की मनोनयन प्रणाली आदि व्यवस्था पर आयरिश संविधान का स्पष्ट प्रभाव है। संविधान की प्रस्तावना में श्हम भारत के लोगश आयरिश संविधान की याद दिलाता है।

4. जापान का संविधान :– कानून द्वारा स्थापित प्रक्रियाष् का प्रावधान जापान के संविधान से लिया गया है और इसके द्वारा संसदीय सर्वोच्चता तथा न्यायिक सर्वोच्चता में सन्तुलन लाने का प्रयत्न किया गया है।

5. कनाडा का संविधान :– कनाडियन संविधान की भांति ही भारतीय संविधान एक विधि के रूप में समस्त सरकारों (संघ व राज्यों) की सरकारों के विधान व ढांचे का वर्णन करता है। कनाडियन संविधान के आदर्शों के आधार पर भारतीय संघ को यूनियन नाम दिया गया है। कनाडा की तरह अवशिष्ट शक्तियां भारत में केन्द्र को सौंपी गई है। उच्चतम न्यायालय को जो परामर्श का अधिकार है उसको भी कनाडा से ग्रहण किया।

6. आस्ट्रेलिया का संविधान :– भारतीय संविधान की प्रस्तावना, समवर्ती सूची तथा इस सूची पर निर्मित केन्द्र तथा राज्यों के कानूनों पर उत्पन्न विवादों का निपटारा आदि पर आस्ट्रेलिया संविधान का प्रभाव है।

7. दक्षिणी अफ्रीकी संविधान :– भारतीय संविधान में संशोधन सम्बन्धी प्रक्रिया दक्षिणी अफ्रीका के संविधान से ग्रहण की गई है।

8. वायमर जर्मनी का संविधान :– भारत में राष्ट्रपति की शक्तियां जो संविधान के अनुच्छेद 352, 356 व 360 में वर्णित है तथा संविधान को स्थगित करने की शक्ति वायमर जर्मनी से ग्रहण की गई है।

9. यू.एस.,स.आर. का संविधान :– भारतीय संविधान में नागरिकों के जिन मूल कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है तथा समाजवादी समाज की स्थापना की बात 42 वें संविधान संशोधन द्वारा की गई है यह बातें सोवियत रूस के संविधान से ग्रहण की गई है।

4.7.2 1935 का भारतीय शासन अधिनियम–1935 का भारत सरकार अधिनियम भारतीय संविधान का जन्म संबंधी एक महत्वपूर्ण व प्रमुख स्रोत माना जाता है। जैसा कि डी.डी. बसु ने लिखा है कि भारतीय संविधान का 75 प्रतिशत भाग 1935 के अधिनियम से लिया गया है। इसी प्रकार डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने कहा है कि मैं इस बात में किसी भी प्रकार का अनुभव नहीं करता कि नवीन संविधान का निर्माण करते समय हमने 1935 के अधिनियम की बहुत सी बातों को अपनाया है। किसी भी अच्छी बात को ग्रहण करने में संकोच नहीं करना चाहिए। दूसरे संवैधानिक सिद्धान्त किसी व्यक्ति अथवा देश का एकाधिकार नहीं होता। मुझे इस बात से अफसोस है कि 1935 के अधिनियम की अधिकांश संबंधी शासन की बारीकियों से है। आकार विषय सूची आदि पर 1935 के अधिनियम का पूरा–पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। इस प्रकार भारतीय संविधान में अधिकांश सिद्धान्तों का सम्बन्ध 1935 के अधिनियम से है जिनको इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :–

1. वर्तमान संविधान की धारा 256 में संघ राज्यों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों की चर्चा की गई है।
2. अनुच्छेद 352 व 353 में राष्ट्रपति को इस बात का अधिकार है कि अगर बाहरी आक्रमण या शस्त्र विद्रोह हो जाये तो उसको राष्ट्र में संकट काल की घोषणा का अधिकार होगा ऐसा ही प्रावधान 1935 के अधिनियम के अनुच्छेद 102 में किया गया है।
3. 1935 के अधिनियम के आधार पर भारत में पहली बार संघ सूची, राज्य सूची व समवर्ती सूची का निर्माण किया गया।
4. 1935 के अधिनियम में केन्द्र को राज्यों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बनाया गया था। इसी का अनुसरण वर्तमान संविधान में किया है।
5. 1935 के अधिनियम में केन्द्रीय व्यवस्थापिका को द्वि सदनीय तथा प्रान्तीय विधानमण्डलों को द्वि सदनात्मक बनाने का प्रावधान किया गया था। इस प्रकार के प्रावधान का वर्तमान संविधान में उल्लेख किया गया।

Jain (Nirwa Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

6. वर्तमान् संविधान के अनुच्छेद 200 व 201 के तहत् यह अधिकार राज्यपाल को दिया गया है कि वह किसी विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए रोक सकता है। ठीक इसी प्रकार का प्रावधान 1935 के अधिनियम में था।

7. अनुच्छेद 123 के तहत् राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह अध्यादेश जारी कर सकता है जो 1935 के अधिनियम से ग्रहण किया गया है।

8. अनुच्छेद 79 में राष्ट्रपति को संसद का अभिन्न अंग माना गया है जिसके तहत् उसके द्वारा अधिवेशन बुलाना, सत्रावसान करना, लोकसभा को भंग करना, लोक सभा में 2 आंग्ल भारतीयों को नियुक्त करना आदि यही बातें हमने 1935 से ग्रहण की है।

4.7.3 1927 की नेहरू रिपोर्ट–1927 में साइमन कमीशन की रिपोर्ट के बाद दिल्ली के सर्वदलीय सम्मेलन में मांग की गई कि भारतीय संविधान भारतीयों द्वारा निर्मित होना चाहिए लेकिन तत्कालीन भारत सचिव लार्ड बुकन हेड ने चुनौती दी कि भारतीय अपना संविधान स्वयं बनाने में असमर्थ हैं। 10 मई, 1928 को बम्बई के सर्वदलीय सम्मेलन में चुनौती को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान का निर्माण करने हेतु 80 व्यक्तियों की एक समिति मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में बनायी गई जिसने अपने अथक प्रयास से भारतीय संविधान को तैयार किया जिसे नेहरू रिपोर्ट के नाम से जाना जाता है। नेहरू संविधान में संघात्मक ढाँचा, साम्प्रदायिक चुनाव का अन्त करके अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा करने संसदीय शासन प्रणाली मौलिक अधिकार, राज्य के नीति निर्देशक तत्व आदि अनेक बातों का उल्लेख किया जिन्हें भारत के संविधान निर्माताओं ने अधिकांश बातों को वर्तमान् संविधान में स्थान दिया। नेहरू संविधान में प्रस्तावित 19 मौलिक अधिकारों में से 13 अधिकारों अक्षरःश वर्तमान् संविधान में ले लिया गया।

4.7.4 संविधान सभा में वाद विवाद–संविधान निर्माण के समय संविधान सना के सदस्यों ने अनेक उपबन्धों के सन्दर्भ में अपने सुझाव प्रस्तुत किये। संविधान के विभिन्न प्रावधानों के विषय में खुलकर वाद विवाद हुआ जिससे अनेक महत्वपूर्ण मतों दृष्टिकोणों और प्रवृतियों का जन्म हुआ और उन्हें संविधान निर्माताओं ने संविधान में उचित स्थान दिया।

4.7.5 संविधान में अधिकाधिक समाविष्टि करने की प्रवृति–भारतीय संविधान निर्माताओं ने इस बात पर बल दिया गया कि संविधान में अधिक से अधिक बातों को सम्मिलित किया जाये ताकि भविष्य में किसी भी प्रकार का विवाद उभरकर सामने आये तो उसका समाधान आसानी से किया जा सके। अनेक ऐसी छोटी–छोटी बातों को जिन्हें बाद में व्यवस्थापन, प्रशासनिक कार्यवाही, अभिसमयों या न्यायिक निर्णयों आदि के लिए छोड़ा जा सकता था लिखित संविधान में निहित कर दिया गया। इस प्रकार संविधान को विस्तृत होने दिया ।

4.7.6 संसद तथा राज्य विधान मण्डलों द्वारा निर्मित विधियां, निमय विनिमय व आदेश–भारतीय संविधान के अन्तर्गत संसद तथा प्रान्तीय विधानमण्डलों को प्रदान की गई शक्तियों के तहत् अनेक विधियों नियमों का निर्माण करने का अधिकार संविधान में दिया गया है। संसद का प्रत्येक सदन अपने कार्य संचालन के लिए नियम बनाता है। इसके अलावा निर्वाचन संबंधी कानून नागरिकता संबंधी कानून सर्वोच्च न्यायालयों तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के कार्य दशा संबंधी कानून इसी के तहत् आते हैं। भारतीय संसद ने कुछ निम्नलिखित महत्वपूर्ण कानून पारित किये है जो संविधान का अंग बन गये हैं–

1) निर्वाहक नजर बंदी अधिनियम 1950 2) जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1950 व 1951 3) राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति निर्वाचन 4) मंत्रियों के वेतन भत्ते अधिनियम 1952 5) उच्च न्यायालय के न्यायाधीशें की सेवा संबंधी अधिनियम 1954 6) भारतीय नागरिकता अधिनियम 1955 7) छूआछूत निवारक अधिनियम 1956 8) सर्वोच्च न्यायालय में जजों की संख्या सम्बन्धी अधिनियम 1956 9) मिसा (M.I.S.A.) अधिनियम 1971 10) सरकारी भाषा अधिनियम 1963 11) पोटा (आतंक निरोधी अधिनियम) 2002

4.7.7 संवैधानिक संशोधन–भारतीय संविधान में अब तक 89 संशोधन हो चुके है। यह हमारे संविधान के विकासवाद स्रोत हैं। प्रगतिशील समाज के लिए तथा क्रान्ति से सुरक्षा के लिए संविधान में अनेक महत्वपूर्ण संशोधनों द्वारा संविधान में कई अनुच्छेद जोड़े गये हैं और कई हटाये गये है और अनेकों में परिवर्तन किया गया है जो इस प्रकार है –

1) प्रथम संशोधन में 9 अनुच्छेदों में संशोधन किया गया तथा 31 (अ), 31 (ब) तो नये उपबन्ध जोड़े गये।

2) 24 वें संविधान संशोधन द्वारा संसद को संविधान में संशोधन करने का व्यापक अधिकार दिया गया।

3) 25वें संशोधन द्वारा संविधान में एक नया अनुच्छेद 31(स) जोड़ा गया।

4) 40वें संविधान संशोधन द्वारा केन्द्र तथा राज्यों द्वारा निर्मित 64 कानून का संविधान की 9वीं अनुसूची में शामिल करके न्यायालयों के क्षेत्राधिकार से बाहर कर दिया गया।

5) 42वें संविधान संशोधन द्वारा संविधान 59 धारा संशोधित की गई जिसमें प्रस्तावना, मौलिक अधिकार, राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियां, न्यायालयों के क्षेत्राधिकारों का पुनः निर्धारण किया गया। 10 मौलिक कर्तव्य संविधान मे जोड़े गये।

6) 44वें संशोधन के द्वारा सम्पत्ति के मौलिक अधिकार को मौलिक अधिकारों से हटाकर उसे एक कानूनी अधिकार के रूप में मान्यता दी गयी। इसी प्रकार दल–बदल विरोधी संशोधन, जनप्रतिनिधित्व अधिनियम संबंधी संशोधन संविधान के महत्वपूर्ण विकासवादी स्रोत की श्रेणी में आते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4.7.8 न्यायिक निर्णय–सर्वोच्च न्यायालयों तथा उच्च न्यायालयों द्वारा समय–समय पर संविधान की व्याख्या की जाती है और उसके सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय दिये जाते है । यद्यपि अमेरिकी न्यायपालिका की भांति भारतीय न्यायापलिका को इतनी अधिक शक्तियां प्राप्त नहीं हैं जिसके मुताबिक संविधान वही है जो न्यायाधीश कह दे, लेकिन भारतीय सर्वोच्च न्यायालय ने अपने अनेक ऐतिहासिक फैसलों ने संविधान की व्याख्या की है । उदाहरणार्थ ए.के. गोपाल बनाम मद्रास सरकार (1951) के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने निवारक नजर बंदी अधिनियम के तहत् व्यक्तियों के संवैधानिक अधिकारों की व्याख्या की, आत्माराम बनाम बम्बई राज्य के मुकदमे में प्रदत्त संरक्षणों की व्याख्या की । साकरी प्रसाद बनाम भारत संघ (1951) के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने संविधान के किन्ही दो अनुच्छेदों में गतिरोध होने की दशा में किये जाने वाले उपायों की घोषणा की, चम्पकमदुराची राजन बनाम मद्रास राज्य (1951) के मामले में मौलिक अधिकारों तथा निदेशक तत्वों के बीच उचित सम्बन्धों की व्याख्या की, गोलखनाथ बनाम पंजाब राज्य (1967) के ऐतिहासिक मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि संसद ऐसा कोई कानून नहीं बना सकती है जिससे मौलिक अधिकारों का हनन होता है । केशवनाथ भारती बनाम केरल राज्य (1971) के मुकदमे में सर्वोच्च न्यायालय ने संसद को संविधान के बुनियादी ढाँचे में परिवर्तन करने वाले संविधान संशोधन को मना कर दिया ।

4.7.9 अभिसमय–प्रो. ऑग के अनुसार ष्अभिसमय उन समझौतों, आदतों, प्रथाओं से मिलकर बनते हैं जो राजनैतिक, नैतिकता के नियम मात्र होने पर भी बड़ी–बड़ी सार्वजनिक सेवाओं के दिन प्रतिदिन के सम्बन्धों और गतिविधियों के अधिकांश भाग का नियमन करते हैं । यद्यपि भारतीय संविधान व्यापक रूप से लिखित है लेकिन फिर भी भारतीय संविधान में भी अनेक अभिसमय का विकास हो गया है जो संविधान का अंग बन गये हैं । इन अभिसमयों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :–

1) राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति से पूर्व सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों से परामर्श लेना चाहिए ।

2) संसद तथा विधानसभाओं के स्पीकर को अपनी दलीय स्थिति से ऊपर उठकर कार्य करना चाहिए ।

3) लोकसभा में बहुमत दल के नेता को ही प्रधानमंत्री पद के लिए राष्ट्रपति आमंत्रित करेगा ।

4) राज्य विधानसभाओं में बहुमत दल के नेता को ही राज्यपाल मुख्यमंत्री पद के लिए आमंत्रित करेगा ।

5) प्रधानमंत्री की सिफारिश पर ही राष्ट्रपति लोकसभा को भंग करेगा । जैसे 1971 में प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी की सलाह पर ही राष्ट्रपति वी.वी. गिरी ने लोकसभा भंग की थी । इसी प्रकार 1979 में चरणसिंह ने, 1990 में विश्वनाथ प्रताप सिंह तथा 1999 में कांग्रेस द्वारा समर्थन वापसी की स्थिति में चन्द्रशेखर ने तत्कालीन राष्ट्रपति आर. वेंकटरमण से सिफारिश की थी ।

6) राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह से ही मंत्रियों की नियुक्ति करेगा ।

7) किसी राजनैतिक दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने की स्थिति में राष्ट्रपति के लिए यह जरूरी नहीं कि वह सबसे बड़े दल को आमंत्रित करे । वह किसी को भी आमंत्रित कर सकता है ।

विशेष :– 1990 की नौवीं लोकसभा के चुनावों के बाद कांग्रेस सबसे बड़े दल के रूप में सामने आयी थी पर राष्ट्रपति ने राष्ट्रीय मोर्चे के वी.पी. सिंह को आमंत्रित किया ।

8) राष्ट्रपति इस बात के लिए बाध्य नहीं है कि वह मंत्रिमण्डल की प्रत्येक सलाह को माने ।

विशेष :– जब अक्टूबर 1997 को उत्तरप्रदेश की विधानसभा में हंगामेदार स्थिति के आधार पर केबिनेट ने वहां पर राष्ट्रपति शासन लगाने की सिफारिश की पर राष्ट्रपति ने पुनर्विचार के लिए लौटा दिया । अन्त में केबिनेट को यह प्रस्ताव वापिस लेना पड़ा ।

4.7.10 संविधान विशेषज्ञों, विधि विशेषज्ञों, लेखकों के विचार–संविधान पर महत्वपूर्ण विद्वानों द्वारा लिखित कई टीकायें संविधान के विकासवादी स्रोत है । ऐसी कुछ टीकायें निम्नलिखित है–

H.M. Seervi - Commontries on the constitaton of Indian, D.D. Basu - भारतीय संविधान पर टीकायें, Justice Douglous "From Marshall to Muktiriji"

4.8 भारतीय संविधान उधार की थैली नहीं

भारतीय संविधान के आलोचक इसकी आलोचना श्उधार की थैली से करते है । उनका यह तर्क है कि जिस प्रकार एक व्यक्ति अपनी आवश्यकता को पूरा करने के लिए विभिन्न व्यक्तियों से धन उधार लेता है ठीक उसी प्रकार भारतीय संविधान है जिसको विभिन्न देशों से उधार लेकर पूरा किया गया अर्थात् इसमें कुछ सिद्धान्त यू.के. से तो कुछ यू.एस.एस. तथा कुछ यू.एस. एस.आर. तो कुछ दक्षिणी अफ्रीका आदि अनेक संविधानों से लिये गये हैं ।

यद्यपि आलोचकों ने इस मत मैं सहमत हूं कि भारतीय संविधान में विभिन्न देशों के सिद्धान्तों को ग्रहण किया गया परन्तु इसको उधार की थैली नहीं कहा जा सकता है । भारतीय संविधान को उधार की थैली कहना बहुत बड़ी भूल है । हमें इस बात को भी कभी भी नहीं भूलना चाहिए कि संवैधानिक सिद्धान्तों पर किसी स्थान या व्यक्ति विशेष का एकाधिकार नहीं होता है और अगर अच्छी बात को ग्रहण कर लिया जाता है तो उसमें गलत क्या है । भारतीय संविधान अपने ढंग का एक विचित्र संविधान है । भारतीय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संविधान निर्माताओं ने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया। उनका लक्ष्य कोई मौलिक या अभूतपूर्व संविधान का निर्माण करना नहीं था बल्कि उनका उद्देश्य एक ऐसे व्यावहारिक संविधान का निर्माण करना था जिसे भारत की विशिष्ट परिस्थितियों एवं संकट की घड़ियों में क्रियान्वित किया जा सके। आलोचकों के उत्तर में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं–

1. संविधान निर्माताओं का उद्देश्य प्लेटो की रिपब्लिक की भांति एक आदर्श राज्य का निर्माण करना नहीं था। हमारे संविधान निर्माताओं ने यह कभी कल्पना नहीं की थी कि वे मौलिक या अद्‌भुत संविधान खोज निकाल लेंगे। वे अच्छा व कामचलाऊ संविधान बनाना चाहते थे जो भारतीय परिस्थितियों में ढाला जा सके। अतः उन्होंने संसार के प्रमुख एवं सफल संविधानों से अच्छे उपबन्ध लेने में संकोच नहीं किया। उस समय जरूरी नहीं था कि प्राचीन भारतीय मूलतः सिद्धान्तों पर आधारित संविधान का निर्माण किया जाता क्योंकि 1947 का भारत प्राचीन भारत से भिन्न था। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा यदि हम ऐसा नहीं करते तो सम्भवत अपने अहम् को संतुष्टि कर लेते परन्तु भारत की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते।

2. उधार लेना किसी तरह की साहित्यिक चोरी नहीं है। किसी देश का संविधान या किसी देश के संविधान में वर्णित कोई व्यवस्था उस की बपौती नहीं होती। 1946 में हमारे सामने विश्व के कई संविधान थे इसीलिए संविधान निर्माताओं अन्य देशों के सविधानों और उनके अनुभवों से लाभ उठाकर कोई गलती नहीं की बल्कि दूरदर्शिता का परिचय दिया।

Granvill Austin ने अपनी पुस्तक The Indian contitation में लिखा है कि 1947 से नये संवैधानिक सिद्धान्तों की खोज संविधान सभा के लिए असम्भव थी।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के अनुसार हमारे संविधान में अगर कोई नवीन बात हो सकती है तो यही है कि पुराने प्रचलित संविधान की गलतियों को दूर किया जाये और उन्हें देश की आवश्यकता के अनुरूप ढाला जाये। उधार लेना किसी तरह की साहित्येक चोरी नहीं। शासन व विधान के बुनियादी सिद्धान्तों के बारे में किसी का कोई, एकाधिकार नहीं होता है।

3. जब हम यह कहते है कि अमुक देश से अमुक संस्था की नकल की है तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह संस्था हमारे देश में भी उसकी तरह कार्य करेगी। लोग संस्था उधार ले सकते है लेकिन उस देश की संस्कशति, मानव व्यवहार आदि उधार नहीं ले सकते। यह जरूरी नहीं है कि एक देश में जो व्यवस्था सफल हुई है वह दूसरे राष्ट्र में भी सफल हो।

4. संविधान निर्माताओं ने दूसरे देशों के लिखित संविधान के साथ ही वहां की संवैधानिक परम्पराओं का अनुसरण किया। उपलब्ध अनुभवों एवं अच्छायी से मुख मोड़ लेना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं होती। कुएं का मेंढक रहना पिछड़ने व मूर्खता का आत्मघाती मार्ग है। उपरोक्त परिवर्तन व संशोधन संस्थाओं को नवीन प्राण शक्ति देते हैं और उन्हें सफलता की ओर अग्रसर करते है।

4.9 सारांश

इस प्रकार संविधान सभा का निर्माण 9 दिसम्बर, 1946 को कर दिया गया था परन्तु इसके गठन को लेकर अनेक विवाद खड़े हो गये थे जिसका मूलभूत कारण मुस्लिम लीग द्वारा इसकी बैठकों का बहिष्कार करना जिसके कारण चर्चिल द्वारा इसको बहुसंख्यकों की संस्था तथा लार्ड साइमन द्वारा हिन्दुओं की संस्था कहा गया जिसका भारतीयों द्वारा व्यापक विरोध किया गया लेकिन जब हमारा देश 15 अगस्त 1947 को आजाद हुआ तब एक नवीन संविधान सभा का गठन किया गया जिसमें 324 सदस्य रखे गये, जिसके तहत् 235 प्रान्तों से लिए तथा 89 देशी रियासतों से लिए गये।

भारतीय संविधान एक संविधान सभा द्वारा निर्मित है जिसके निर्माण में 2 वर्ष 11 माह व 18 दिन लगे थे। इस संविधान में 395 अनुच्छेद व 12 प्रतिष्ठ हैं। भारतीय संविधान में विश्व के अनेक संविधानों से अच्छी–अच्छी बातें ग्रहण कर उनको व्यवहार में लागू करने का प्रयास किया गया है। जैसे संसदीय व्यवस्था तथा लोकतन्त्र इंग्लैण्ड के संविधान से, गणतंत्र, संघात्मक मूल अधिकार अमेरिका से, मूल कर्तव्य, समाजवाद पूर्व सोवियत संघ से, राज्य के नीति निदेशक तत्व स्विट्जरलैण्ड से बातें ग्रहण की है तथा संविधान संशोधन की प्रक्रिया दक्षिणी अफ्रीका से ली है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न–

1. भारतीय संविधान सभा की मांग किस प्रकार उठी ? लेख लिखिये
2. संविधान सभा पर प्रकाश डालते हुए उसके गठन की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये
3. संविधान सभा में उभरने वाले दृष्टिकोण एवं प्रवशत्तियों पर प्रकाश डालिये ।
4. भारतीय संविधान के निर्माण हेतु कौन–से स्त्रोतों का योगदान रहा ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लघुत्तरात्मक प्रश्न–

1. संविधान सभा की समितियां बताओ क्या संविधान सभा एक प्रतिनिधित्वपूर्ण संस्था नहीं थी?
2. क्या संविधान सभा एक प्रतिनिधित्वपूर्ण संस्था नहीं थी?
3. संविधान सभा द्वारा समायोजन का सिद्धान्त व्यवहार में किस प्रकार बनाया गय ?
4. 1935 के अधिनियम का भारतीय संविधान पर क्या प्रभाव पड़ा ?
5. क्या भारतीय संविधान उधार की थैली है ?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न–

1. संविधान सभा का निर्माण कौनसी योजना के तहत् हुआ था ?
2. संविधान सभा की प्रथम एवं अन्तिम बैठक कब हुई ?
3. संविधान सभा एवं प्रारूप समिति के अध्यक्षों के नाम बताओं ?
4. भारतीय संविधान 26 जनवरी, 1950 को ही क्यों लागू किया गया ?
5. संविधान बनने में कितना समय लगा ?
6. मूल संविधान में कितने अनुच्छेद एवं अनुसूचियां थी ?
7. स्वतन्त्रता के बाद संविधान सभा की सदस्य संख्या कितनी थी

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची–

डी.डी. बसु, भारत का संविधान, वाधवा प्रकाशन, मेरठ।

सुभाष कश्यप, भारत का सांविधानिक विकास और संविधान, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

बी.पी. पाण्डेय, भारतीय शासन एवं राजनीति सरस्वती सदन, दिल्ली, 1972

बी.एल.फड़िया भारतीय शासन एवं राजनीति साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–5 : प्रस्तावना का स्वरूप

संरचना

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 प्रस्तावना का अर्थ एवं महत्त्व

5.3 42वें संवैधानिक संशोधन का प्रस्तावना पर प्रभाव

5.4 प्रस्तावना के लक्ष्य

- 5.4.1 संविधान का स्रोत जनता
- 5.4.2 शासन के उद्देश्यों की उद्घोषणा
- 5.4.3 सम्पूर्ण प्रभुत्त्व–सम्पन्न
- 5.4.4 लोकतान्त्रिक संविधान
- 5.4.5 गणराज्य (गणतन्त्र)
- 5.4.6 न्याय पर बल देना
- 5.4.7 स्वतन्त्रता
- 5.4.8 पंथ निरपेक्षता
- 5.4.9 समता
- 5.4.10 राष्ट्रीय एकता
- 5.4.11 सामाजिक न्याय
- 5.4.12 राजनीतिक न्याय
- 5.4.13 व्यक्ति की गरिमा और बन्धुता

5.5 प्रस्तावना : संविधान की आत्मा

- 5.5.1 प्रस्तावना संविधान की प्रेरणा और प्राण है
- 5.5.2 भावनाओं और संकल्पों का ज्ञान
- 5.5.3 संविधान की आत्मा के रूप में
- 5.5.4 स्वतन्त्रता संघर्ष की कल्पनाओं का भाव्य
- 5.5.5 विचारधारा का प्रभाव नहीं

5.5.6 भारतीय क्रान्ति के सूत्रधार के रूप में

5.5.7 भावी भारत का स्वरूप स्पष्ट करने वाली

5.5.8 प्रगति का मार्ग प्रदर्शक के रूप में

5.6 सारांश

5.0 उद्देश्य

इस अध्याय का उद्देश्य भारतीय संविधान की प्रस्तावना को परिचित कराना है। प्रस्तुत अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात् आप–

- भारतीय संविधान की प्रस्तावना का अर्थ समझ सकेंगे,
- प्रस्तावना के लक्ष्यों की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- प्रस्तावना संविधान की आत्मा होती है क्या? मूल्यांकन कर सकेंगे।

5.1 प्रस्तावना

प्रस्तावना संविधान की कुंजी होती है। इससे देश की राजनीतिक व्यवस्था के आदर्श तत्त्वों एवं दार्शनिक आधारों को जाना जा सकता है और राष्ट्रीय कानून, व्यवस्था, नीतियाँ, शासन प्रणाली आदि के बारे में प्रस्तावना के आधार पर जानकारी हासिल हो जाती है। वस्तुतः संविधान की प्रस्तावना हमारे संविधान का सार है। यह उसकी प्रेरणा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

और आधारशिला है। कानून की दृष्टि से प्रस्तावना संविधान का अंग नहीं है, किन्तु व्यवहार में यही कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का मार्ग–निर्देशन करने वाला प्रकाश स्तम्भ है। प्रस्तावना से यह प्रेरणा मिलती है कि हम क्या करेंगे, हमारा ध्येय क्या है और हम किस दिशा में जा रहे हैं ?

भारतीय संविधान की प्रस्तावना का आधार पं. जवाहरलाल नेहरू द्वारा प्रस्तुत उद्देश्य प्रस्ताव है जिसे उन्होंने 13 दिसम्बर, 1946 को संविधान–निर्मात्री सभा में प्रस्तुत किया था। उस समय समूचे देश में अविश्वास और अनिश्चितता का घना कोहरा छाया हुआ था। आम जनता के दिलों और दिमाग में अनेक प्रश्न दस्तक दे रहे थे। जैसे आजादी के बाद भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप क्या होगा ? क्या हमारी इच्छायें और आकांक्षायें जो आजादी की लड़ाई के दौरान संजोयी थी वे पूर्ण होगी या नहीं होगी ? देश विकास की दिशा में कैसे आगे बढ़ेगा? आदि।

5.2 प्रस्तावना का अर्थ एवं महत्त्व

1. पं. ठाकुरदास भार्गव के अनुसार प्रस्तावना संविधान का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। वह विधान की आत्मा है। यह विधान (कानून) की कुंजी है।
2. हिदायतुल्ला के शब्दों में भारतीय संविधान की प्रस्तावना समूचे संविधान की आत्मा है, शाश्वत् और अपरिवर्तनीय है। प्रस्तावना में समूचे संवैधानिक जीवन के वैविध्य का भी उल्लेख मिलता है और भविष्य दर्षन भी।
3. डॉ. सुभाष कश्यप के मतानुसार संविधान राष्ट्र का मूलभूत अधिनियम है। वह राज्य के विभिन्न अंगों का गठन कर उन्हें शरीर देता है, शक्ति देता है। उसके शरीर गठन के पीछे अंगों का व्यवस्था के पीछे एक प्रेरणा होती है, एक आत्मा होती है जिसको षब्द रूप मिलता है प्रस्तावना में।
4. बेरूबारी विवाद में सर्वोच्च न्यायालय का कहना है कि प्रस्तावना संविधान के निर्माताओं के आशय को स्पष्ट करने वाली कुंजी है।

संविधान की प्रस्तावना का अनेक दृष्टियों में महत्त्व है जो निम्नलिखित है –

प्रथम	–	प्रस्तावना शासन प्रणाली को स्पष्ट करती है
द्वितीय	–	शासन के सिद्धान्तों को प्रकट करने में सहायक
तृतीय	–	राजनीतिक एवं नैतिक दृष्टि से शासनकर्ताओं को दायित्व बोध करवाना
चतुर्थ	–	जटिल परिस्थितियों में संविधान के ध्येयों को इंगित करती है
पंचम	–	संविधान के संचालन में प्रकाश–स्तम्भ का कार्य करती है
षष्ठ	–	संविधान का निचोड़ एवं संक्षिप्त रूप
सप्तम्	–	प्रस्तावना संविधान की प्रेरक शक्ति के रूप में
अष्ठम्	–	सामाजिक न्याय की अवधारणा को महत्त्व देती है
नवम्	–	राष्ट्रीय एकता और अखण्डता का आभास करवाती है

भारतीय संविधान की प्रस्तावना अत्यन्त संक्षिप्त, आकर्षक एवं शब्द चयन की दृष्टि से प्रभावशाली है। प्रस्तावना पर पाश्चात्य एवं प्राचीन परम्पराओं के साथ–साथ आधुनिक युग की तीन क्रान्तियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा है–फ्रांस, अमरीका व रूस। फ्रांस की राज्य क्रान्ति में स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुत्व अमरीकी क्रान्ति राजनीतिक एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा रूस की बोल्शेविक क्रान्ति प्रस्तावना का एक–एक शब्द एकचित्र है। चित्र जो बोलता है, एक कहानी कहता है–तपस्या, त्याग और बलिदान की प्रस्तावना इस प्रकार है–

हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व–सम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्ति के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छः विक्रमी) को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मसमर्पित करते हैं।

5.3 42वें संवैधानिक संशोधन का प्रस्तावना पर प्रभाव– 42वें संवैधानिक संशोधन (1976) का संविधान की प्रस्तावना पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इससे संविधान के मूलभूत सिद्धान्तों एवं बुनियादी आधारों में और अधिक स्पष्टता आई। इसके द्वारा प्रस्तावना में तीन नये शब्द जोड़े गये – प्रथम समाजवाद द्वितीय पंथनिरपेक्षता तृतीय राष्ट्रीय एकता के साथ अखण्डता। इन शब्दों के जोड़ने का आशय यह नहीं है कि इनसे पूर्व संविधान में इनसे सम्बद्ध नहीं प्रावधान थे। बल्कि संविधान निर्माताओं ने व्यापक सोच एवं जन इच्छा को मद्देनजर रखते हुए इनसे सम्बन्धित तमाम प्रावधान कर दिये गये थे।

5.4 प्रस्तावना के लक्ष्य

डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी के अनुसार हमारे संविधान की आत्मा (प्रस्तावना) में मनुष्यक की सभ्यता के आधुनिक विकास क्रम का हृदय–स्पन्दन है, उसकी अन्तरात्मा, न्याय और समता एवं अधिकार और बन्धुत्व के आसव से अभिसिंचित है।

Jan Vishal Bharati Institute (Deemed University) Latur

डॉ. जे.आर. सिवाच प्रस्तावना को चार भागों में बांटते हैं –

1. सत्ता का स्रोत (Source of Authority)
2. शासन का प्रकार (Type of Government)
3. शासन प्रणाली के लक्षण (Objectives of the Political Sustem)
4. स्वीकृति एवं क्रियान्वयन की तिथि (Date of Adoption and Enactment)

5.4.1 संविधान का स्रोत जनता–प्रस्तावना संविधान का स्रोत जनता को बनाती है। षासन की अन्तिम शक्ति जनता में ही निहित होगी। जनता की इच्छा से शासन व्यवस्था का संचालन होगा और सम्प्रभुता का निवास भी जनता में होगा। प्रस्तावना की प्रथम पंक्ति हम भारत के लोग इस स्रोत को बल देते है। संविधान का निर्माण भी जनता की ओर से संविधान सभा ने किया है। प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ. भीमराव अम्बेडकर के अनुसार प्रस्तावना यह स्पष्ट कर देती है कि इस संविधान का आधार जनता है एवं इनमें निहित प्राधिकार और प्रभुसत्ता सब जनता से प्राप्त हुई है।

5.4.2 शासन के उद्देश्यों की उद्घोषणा–प्रस्तावना के अनुसार सरकार का उद्देश्य क्या होगा ? तथा उन्हें कैसे प्राप्त किया जायेगा ? पर बल देती है। प्रस्तावना के अनुसार भारतीय गणतन्त्र के चार मुख्य ध्येय है। स्वतन्त्रता, समानता, न्याय और बन्धुत्व। संविधान निर्माता इस बात से भली–भाँति परिचित थे कि उनका उद्देश्य केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं लाना है अपितु आर्थिक स्वतन्त्रता एवं समानता लाना है ताकि भूख, गरीबी, अन्धविश्वास, अज्ञान, शोषण, अत्याचार, लाचारी और विवशता से देश के करोड़ों लोगों को निजात मिले। इनके बिना राजनीतिक स्वतन्त्रता केवल दिखवा मात्र है।

5.4.3 सम्पूर्ण प्रभुत्व–सम्पन्न–प्रस्तावना भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्व–सम्पन्न राज्य घोषित करती है अर्थात् भारत आन्तरिक तथा वैदेशिक मामलों में पूर्णतया स्वतन्त्र है और किसी भी बाहरी शक्ति के नियन्त्रण में नहीं है और कोई भी ताकत अपना आदेष थोप नहीं सकती। हम हमारी सीमा के भीतर किसी भी प्रकार का कानून बनाकर लागू कर सकती है, जिसके लिए कोई भी शक्ति रोक नहीं लगा सकती।

5.4.4 लोकतान्त्रिक संविधान–संविधान की प्रस्तावना भारत को एक लोकतान्त्रिक राज्य घोषित करती है। जिसमें षासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित होगी। शासन पर किसी एक वर्ग विशेष का नियन्त्रण नहीं होगा और बहुमत के सिद्धान्त के अनुसार शासन का संचालन होगा। सभी प्रकार के भेद निषेद्ध होंगे। प्रस्तावना में प्रयुक्त शब्द न्याय, स्वतन्त्रता, समता, व्यक्ति की गरिमा आदि इस बात को प्रकट करते हैं कि संविधान केवल राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना करना नहीं चाहता अपितु आर्थिक लोकतन्त्र की स्थापना के लिए कृत संकल्प है।

5.4.5 गणराज्य (गणतन्त्र)–संविधान की प्रस्तावना भारत को लोकतन्त्र के साथ–साथ गणराज्य भी घोषित करता है। गणराज्य से अभिप्राय ये है कि भारत का राज्य प्रमुख ब्रिटिश सम्राट की भाँति वंशानुगत आधार पर नियुक्ति न होकर जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होता है और देश को कोई भी नागरिक जो निश्चित योग्यतायें रखता है वह राष्ट्रपति पद का चुनाव लड़ सकता है। हमारे गणराज्य में उच्चतम शक्ति सार्वभौम वयस्क मताधिकार से सम्पन्न भारतीय जन समुदाय में निहित है।

5.4.6 न्याय–हमारे संविधान में सबसे अधिक बुनियादी और मौलिक अवधारणा न्याय की है। इसीलिए संविधान की प्रस्तावना में न्याय कोई स्वतन्त्रता और समता से ऊपर रखा गया। भारतीय संविधान में न्याय का आदर्श है – सर्वजनः सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामया संविधान के भाग 4 में उल्लेखित राज्य के नीति निदेशक तत्त्वों के अनुच्छेद 38 में राज्य को यह स्पष्ट निर्देश दिया गया है कि वह लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना के प्रयास करेगा जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय की अवधारणा को बल मिल सके।

5.4.7 स्वतन्त्रता–स्वतन्त्रता व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए बहुत जरूरी है। इसीलिए प्रस्तावना में इस बात पर जोर दिया गया है कि राज्य समस्त नागरिकों को स्वतन्त्रता उपलब्ध करवायेगा। यहाँ स्वतन्त्रता से तात्पर्य नागरिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता है। जिसमें विचार, अभिव्यक्ति, भाषण, संगठन बनाने, भ्रमण, निवास, मतदान, चुनाव लड़ने, सार्वजनिक पद ग्रहण करने आदि षामिल हैं। जिनका उल्लेख भारतीय संविधान के भाग 3 के अनुच्छेद 19–22 के मध्य किया गया है।

5.4.8 पंथ निरपेक्षता–प्रस्तावना भारत को एक पंथ निरपेक्ष (धर्म निरपेक्ष) राज्य घोषित करती है। जिसका अर्थ है कि राज्य के द्वारा किसी धर्म विशेष को महत्त्व नहीं दिया जायेगा, धार्मिक शिक्षा सार्वजनिक शिक्षण संस्थाओं में नही दी जायेगी, धर्म के आधार पर तमाम प्रकार के भेदभाव को निषेध करार दिया गया है। सभी धर्मों के अनुयायियों को धर्म और उपासना की पूर्ण स्वतन्त्रता है। पंथ निरपेक्षता की स्पष्ट झलक भाग 3 में उल्लेखित मौलिक अधिकारों में देखी जा सकती है। यद्यपि पंथनिरपेक्षता शब्द 42वें संविधान संशोधन (1976) को प्रस्तावना में जोड़ा गया था।

5.4.9 समता–समता से अभिप्राय है कि सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर उपलब्ध होने चाहिये तथा जाति धर्म भाषा, रंग, लिंग, वर्ण, जन्म, स्थान, आदि सभी आधारों के भेद निषेध किये जाने चाहिये। समान योग्यता एव समान श्रम के आधार पर समान वेतन मिलना चाहिये। इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिये जिसमें किसी व्यक्ति का आर्थिक शोषण न हो। ये सभी प्रावधान भारतीय संविधान में मौजूद हैं।

Jai Narain Vyas University, Bharati Institute (Deemed University), Jodhpur

5.4.10 राष्ट्रीय एकता–भारत विविधता वाला राष्ट्र है। राष्ट्रीय एकता कायम करने के लिए संविधान निर्माताओं ने न केवल बल दिया अपितु संविधान की प्रस्तावना में सम्मानजनक स्थान दिया। 42वें संवैधानिक संशोधन (1976) द्वारा राष्ट्रीय एकता के साथ अखण्डता शब्द जोड़ा गया है।

5.4.11 सामाजिक न्याय–संविधान की प्रस्तावना में आर्थिक न्याय पर भी बल दिया गया है। जिसके तहत राज्य इस बात की हर सम्भव कोशिश करेगा कि आर्थिक असमानता की खाई गहरी न हो, आजीविका के साधनों पर कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित न रहे, स्त्री–पुरुषों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले, बालश्रम पर रोक।

5.4.12 राजनीतिक न्याय–भारतीय संविधान सार्वभौम वयस्क मताधिकार की स्थापना, साम्प्रदायिक निर्वाचन का अन्त, अनुच्छेद 19–22 तक के तहत स्वतन्त्रता का अधिकार तथा अनुच्छेद 32 संवैधानिक उपचारों का अधिकार राजनीतिक न्याय को मूर्त रूप प्रदान करता है।

5.4.13 व्यक्ति की गरिमा और बन्धुता–प्रस्तावना में अन्य दो आधारभूत सिद्धान्त एवं आदर्श हैं – व्यक्ति की गरिमा और बन्धुता। संविधान में समानता और समता के आदर्श ने व्यक्ति की गरिमा को प्रतिष्ठित किया है।

इसके अलावा सारे देश के नागरिकों के लिए एक प्रशासनिक व्यवस्था, एकल संविधान, एकल नागरिकता, एकल न्यायपालिका, एकल कानून आदि की व्यवस्था देश को एकता के सूत्र में बांधती है और नागरिकों में इस भावना का संचार करती है कि देश के सम्मुख आने वाले प्रत्येक संकट का वे मुंह तोड़ के जवाब देंगे।

5.5 प्रस्तावना–संविधान की आत्मा

प्रस्तावना भारतीय संविधान की आत्मा है। जिस प्रकार आत्मा के बिना जीव या प्राणी का अस्तित्व नहीं होता ठीक उसी प्रकार संविधान एवं उसके सिद्धान्तों को कायम रखने में प्रस्तावना का योगदान होता है। प्रस्तावना संविधान का दर्पण है, जिसे देखकर हम संविधान को भाँति से समझ सकते हैं। इससे राष्ट्रीय एकता, अखण्डता तथा बन्धुता की भावना को प्रोत्साहन मिलता है तथा न्याय एवं समता पर आधारित समाज की नींव रखी जा सकती है।

5.5.1 प्रस्तावना संविधान की प्रेरणा और प्राण है–डॉ. सुभाष कश्यप के शब्दों में संविधान शरीर है तो प्रस्तावना उसकी आत्मा, प्रस्तावना आधारशिला है तो संविधान उस पर खड़ी अट्टालिका, प्रस्तावना तथ्य निर्देश है तो संविधान के विभिन्न अनुच्छेद उस तथ्य की सिद्धि के साधन है। इस प्रकार संविधान का सार प्रस्तावना से स्पष्ट होता है यद्यपि कानूनी दृष्टि से यह संविधान का अंग नहीं है।

5.5.2 भावनाओं और संकल्पनाओं का ज्ञान–प्रस्तावना इच्छा और संकल्पनाओं का ज्ञान करवाती है। इससे शासनकर्ताओं को नई दिशायें एवं सामाजिक समता और न्याय करने के लिए संकल्पों का बोध होता है। यह भूमिका संविधान का अमूल्य अंग है। यह संविधान की आत्मा तथा संविधान की कुंजी है। यह संविधान को उत्कर्ष रूप प्रदान करती है। संविधान निर्माताओं के विचार एवं उद्देश्य स्पष्ट होता है।

5.5.3 संविधान की आत्मा के रूप में–प्रस्तावना संविधान की आत्मा के रूप नें अपनी भूमिका का निर्वहन करती है। सर्वोच्य न्यायालय ने बेरूबारी मामले में अपना निर्णय देते हुए प्रस्तावना को संविधान या अधिनियम के निर्माताओं के आशय को स्पष्ट करने वाली कुंजी कहा है।

5.5.4 स्वतन्त्रता संघर्ष की कल्पनाओं का भारत–जिन धारणाओं और कल्पनाओं को हमारे स्तन्त्रता सेनानियों ने संजोया था कि आजादी के बाद हम एक ऐसी न्याय पर आधारित समाज की स्थापना करेंगे जो शोषण विहीन, अन्याय विहीन, अत्याचार रहित होगा तथा सभी को अपने विकास के समान अवसर प्राप्त होंगे। राजनीति में भी जनता की भागीदारी अधिक से अधिक होगी। उसी कल्पनाओं को न केवल दोहराती है अपितु व्यवहारिक स्तर पर लागू करती है।

5.5.5 विचारधारा का प्रभाव नहीं–आधुनिक राजनीतिक विज्ञान में अनेक विचारधाराओं एवं वादों का विकास हुआ है। जिन प्रभाव से विश्व की राजनीतिक व्यवस्था अछूती नहीं रही है। जैसे जैसे पूर्व सोवियत संघ के संविधान पर मार्क्सवाद, अमरीकी संविधान पर पूंजीवाद की स्पष्ट छाया दिखाई पड़ती है लेकिन भारतीय संविधान एवं उसकी प्रस्तावना इनसे अछूती है। संविधान निर्माता भारतीय जनता को किसी विचारधारा विशेष के साथ बांधना नहीं चाहते थे। इसीलिये उन्होंने प्रस्तावना में सभी विचारधाराओं की अच्छाईयों को स्थान दिया है। जैसे आर्थिक क्षेत्र में न तो पूर्णतया साम्यवाद को अपनाया और न ही पूंजीवाद अपितु बीच का रास्ता अपना जिसे हम मिश्रित अर्थव्यवस्था कहते हैं।

5.5.6 भारतीय क्रान्ति की सूत्रधार के रूप में–संविधान की प्रस्तावना पर फ्रांसीसी, अमरीकी और रूसी क्रान्ति की झलक स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व पर जोर देती है। अमरीकी क्रान्ति वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा रूसी क्रान्ति आर्थिक समानता पर जोर देती है। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में अन्तर्निहित सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय की धारणा में तीनों क्रान्तियों का सूत्रधार है।

5.5.7 भावी भारत का स्वरूप स्पष्ट करने वाली–प्रस्तावना संविधान निर्माताओं की कल्पना के भारत का रूप चित्रित करती है। संविधान निर्माताओं का मानना था कि हमें आर्थिक एवं राजनीतिक लोकतन्त्र प्राप्ति का ऐसा लक्ष्य तय करना है, जिससे भावी भारत का स्वरूप स्पष्ट हो सके। प्रस्तावना के यह लक्ष्य हमारे आदर्श हैं जिनकी प्राप्ति के प्रयास आने वाली प्रत्येक सरकार को करना ही होगा।

5.5.8 प्रगति का मार्ग प्रदर्शक के रूप में–भारतीय संविधान की प्रस्तावना निश्चित तौर पर समाज के विकास एवं प्रगति हेतु–पथ प्रदर्शक की हैसियत से काम करती है। प्रस्तावना में उल्लेखित स्वतन्त्रता, समानता, समता, न्याय, बन्धुता, एकता व अखण्डता, पंथ निरपेक्ष व लोकतन्त्र आदि ऐसे मूल्य हैं, जिन्हें अपना समाज बुलन्दियों के ऊँचे से ऊँचे शिखर पर पहुँचकर अपने आप की श्रेष्ठता सिद्ध कर सकता है और अपनी बुराईयों एवं समस्याओं से मुक्ति पा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

5.6 सारांश

उपरोक्त विवेचना के तत्पश्चात् यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान निर्माताओं ने जो सपने गुलामी के दौरान संजोये थे, उन्हें व्यावहारिकता का जामा प्रस्तावना के द्वारा पहनाया। उनके आदर्श, सोच तथा चिन्त निश्चिन्त तौर पर काबिले तारीफ था। वे चाहते थे कि जिन चुनौतियों एंव समस्याओं से हमें जूझना पड़ा हमारी भावी पीढ़ी इनसे मुक्त रहे। डॉ. सुभाष कश्यप के अनुसार प्रस्तावना में निहित पावन आदर्श हमारे राष्ट्रीय आदर्श है और जहां वे एक ओर हमें अपने गौरवमय अतीत से जोड़ते हैं वहां उस भविष्य की आशंका को भी संजोते हैं।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान की प्रस्तावना के स्वरूप को स्पष्ट करो।
2. प्रस्तावना की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. प्रस्तावना संविधान की आत्मा है सिद्ध कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. किसी संविधान के लिए प्रस्तावना का क्या महत्त्व है ?
2. 42वें संवैधानिक संशोधन का प्रस्तावना पर क्या प्रभाव पड़ा ?
3. प्रस्तावना अन्तिम शक्ति जनता को प्रदान करती है। स्पष्ट करो।
4. न्याय की अवधारणा कायम करने में प्रस्तावना की क्या भूमिका है ?
5. भारतीय संविधान की प्रस्तावना लिखिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा प्रस्तावना में कोने–कोने से शब्द जोड़े गये हैं।
2. प्रस्तावना में एकता के साथ क्या शब्द जोड़ा गया है।
3. गणराज्य का अर्थ बताओ।
4. प्रस्तावना का आधार क्या है ?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

डी.डी. बसु भारत का संविधान, वाधवा प्रकाशन, मेरठ।

डॉ. बी.एल. फड़िया भारत का संविधान, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

डॉ. सुभाष कश्यप संविधान की आत्मा

जवाहरलाल नेहरू कॉन्स्टीट्यूएन्ट असेम्बली डिवेट्स खण्ड 2

जय नारायण पाण्डेय, भारत का संविधान, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–6 : भारतीय संविधान की विशेषताएँ

संरचना

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ

- 6.2.1 लोकप्रिय प्रभुसत्ता पर आधारित संविधान
- 6.2.2 लिखित और निर्मित संविधान
- 6.2.3 विश्व का सर्वाधिक विस्तृत संविधान
- 6.2.4 सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न
- 6.2.5 लोकतन्त्रात्मक
- 6.2.6 गणराज्य
- 6.2.7 समाजवाद
- 6.2.8 पंथनिरपेक्ष
- 6.2.9 लचीला व कठोर संविधान
- 6.2.10 संसदात्मक शासन व्यवस्था
- 6.2.11 एकात्मक एवं संघात्मक का मिश्रण
- 6.2.12 संसदीय प्रभुता तथा न्यायिक सक्रियता में समन्वय
- 6.2.13 मौलिक अधिकार और मूल कर्त्तव्य
- 6.2.14 नीति निदेशक तत्व
- 6.2.15 स्वतन्त्र न्यायपालिका और अन्य स्वतन्त्र अभिकरण
- 6.2.16 साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का अन्त और वयस्क मताधिकार का प्रारम्भ
- 6.2.17 एकल नागरिकता
- 6.2.18 सामाजिक न्याय की स्थापना
- 6.2.19 लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना

6.3 सारांश

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत भारतीय संविधान की विशेषताओं का वर्णन किया गया है। इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप–

- संसदीय एवं अध्यक्षीय शासन प्रणाली के मिश्रण की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- शासन के अंगों का पृथक्करण समझ सकेंगे,
- एकात्मक एवं संघात्मक शासन मिश्रण का महत्त्व समझ सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

संविधान का महत्व प्रत्येक राष्ट्र के लिए होता है। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक संविधान होता है। भारत ने भी अपनी आजादी के बाद अपना एक संविधान बनाया जिसके अनुसार हमारी शासन व्यवस्था का संचालन होता है। संविधान राजनीति एवं कानूनों का खाका मात्र न होकर राष्ट्र की जनता की आस्थाओं एवं मान्यताओं को अभिव्यक्त करता है। संविधान जीवन की शैली है, जिसको आधार मानकर व्यक्ति और समाज जीवन पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। इसीलिए हमारे संविधान निर्माताओं ने ऐसे व्यावहारिक संविधान का निर्माण किया ताकि संकटकाल की घड़ी में भी देश को चलाया जा सके। डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने स्पष्टतः स्वीकार किया था कि हमारे संविधान में यदि नवीन बात हो सकती है तो यही कि उसके द्वारा पुराने प्रचलित संविधान की गलतियों को दूर कर दिया जाए और उसे देश की आवश्यकताओं के अनुरूप ढ़ाला जाए। उधार लेने में किसी तरह की साहित्यिक चोरी नहीं है। शासन और विधान (कानून) के बुनियादी सिद्धान्तों के बारे में किसी का कोई अधिकार नहीं होता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भारतीय संविधान का निर्माण एक विशेष संविधान सभा के द्वारा हुआ है जिसने दुनिया के प्रमुख संविधानों एवं अंग्रेजों के शासन काल में लाए गये अधिनियमों का गहन अध्ययन कर उनकी अच्छाईयों को स्वीकार किया और हमारे सामाजिक मूल्यों के अनुसार ढालने का प्रयास किया। भारतीय संविधान व्यापक विशेषताएं लिये हुए है, जिसे दूसरे संविधानों की कार्बन कॉपी या नकल या उधार की थैली कहना गलत होगा। यदि ऐसा होता तो हमारी संवैधानिक व्यवस्था रूपी महल कभी का ढह जाता। इसकी प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :–

6.2 भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताएँ

6.2.1 लोकप्रिय प्रभुसत्ता पर आधारित संविधान–भारतीय संविधान लोकप्रेय प्रभुसत्ता पर आधारित है। अर्थात् यह भारतीय जनता द्वारा निर्मित संविधान है। तथा शासन की अन्तिम शक्ति जनता को प्रदान की गई है। संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है हम भारत के लोग.....दृढ़ संकल्प द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।

6.2.2 लिखित एवं निर्मित संविधान–भारतीय संविधान ब्रिटिश संविधान की भांति परम्पराओं पर आधारित एवं अलिखित नहीं हैं, अपितु इसके अधिकांश प्रावधानों को लिखित रूप दिया गया है। इसका निर्माण भी एक विशेष संविधान सभा द्वारा किया गया है जिसके निर्माण में 2 वर्ष 11 माह 18 दिन का समय लगा

6.2.3 विश्व का सर्वाधिक विस्तृत संविधान–डॉ. आइवर जैनिंग्ज के शब्दों में भारतीय संविधान विश्व का सर्वाधिक व्यापक संविधान है। भारत के मूल संविधान में 395 अनुच्छेद तथा 8 अनुसूचियां थीं परन्तु आज 12 अनुसूचियां हो गई है। जबकि अमरीका के संविधान में 7, कनाड़ा के संविधान में 147 और आस्ट्रेलिया के संविधान में 128 अनुच्छेद ही हैं।

6.2.4 सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न–भारतीय संविधान की प्रस्तावना भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न देश घोषित करता है। जिसके अनुसार भारत आन्तरिक और बाहरी दोनों दृष्टि से पूर्ण स्वतन्त्र है और बिना किसी बाहरी शक्ति के दबाव में आकर कोई फैसला लेगा। हम हमारी सीमा के भीतर किसी भी प्रकार का कानून बना सकते है तथा बिना किसी दबाव के विदेशों के साथ नीति निर्धारित कर सकते है।

6.2.5 लोकतन्त्रात्मक–भारत एक लोकतांत्रिक व्यवस्था पर आधारित राज्य है जहां शासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित है। जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनकर संसद और विधानमण्डल में भेजेगी। जन प्रतिनिधि जनता के सेवक होंगे न कि स्वामी तथा जनता के प्रति उत्तरदायी होकर कार्य करेंगे।

6.2.6 गणराज्य–भारतीय संविधान भारत को लोकतंत्र के साथ–साथ गणराज्य भी घोषित करता है । अर्थात् भारत का राज्य प्रमुख (राष्ट्रपति) वंशानुगत आधार पर नियुक्त न होकर जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाएगा।

6.2.7 समाजवाद–यद्यपि भारत के मूल संविधान प्रस्तावना में समाजवाद नहीं था, क्योंकि संविधान निर्माता उस समय भारतीय जनता को किसी विचारधारा के साथ बांधना नहीं चाहते थे लेकिन 42वें संविधान संशोधन द्वारा समाजवाद शब्द जोड़ा गया। जिसका प्रमुख उद्देश्य आर्थिक संसाधनों पर समाज (राज्य) का नियंत्रण स्थापित करना और गरीब–अमीर के बीच की खाई को पाटना था।

6.2.8 पंथनिरपेक्ष–भारतीय संविधान किसी भी धर्म या सम्प्रदाय विशेष को विशेष स्थान नहीं देता और संविधान में धर्म के आधार पर किये जाने वाले तमाम भेदभाव निषिद्ध किये गये है। 42वें संविधान संशोधन द्वारा प्रस्तावना में भारत को पंथनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है। आर. वेंकटरमन के शब्दों में पंथ निरपेक्ष राज्य न धार्मिक है और न अधार्मिक और न धर्म विरोधी, परन्तु धार्मिक कार्यों और सिद्धान्तों से सर्वथा पृथक है और इस प्रकार धार्मिक मामलों में पूर्णतया तटस्थ है।

6.2.9 लचीला व कठोर संविधान–लचीला व कठोरता शब्द संविधान संशोधन की प्रक्रिया की ओर इंगित करता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 में संविधान संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। जिसके अनुसार संविधान के अधिकांश भाग में संशोधन संसद द्वारा अपने साधारण बहुमत से कर दिया जाता है। इसके लिए संविधान लचीला है। कुछ भाग जैसे राष्ट्रपति की निर्वाचन पद्धति, केन्द्र–राज्यों के बीच शक्ति विभाजन आदि में संशोधन के लिए आधे राज्य विधानमण्डल की स्वीकृति आवश्यक होती है इसलिये संविधान कठोर है।

विशेष : भारतीय संविधान में अब तक 89 संशोधन हो चुके हैं।

6.2.10 संसदात्मक शासन व्यवस्था–संविधान सभा में इस प्रश्न को लेकर व्यापक विचार विमर्श हुआ कि हमें अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली या संसदात्मक शासन प्रणाली को अपनाना चाहिए। अतः पूर्व ब्रिटिश कालीन अनुभवों के अनुसार संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया जिसके तहत कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति सामुहिक रूप से उत्तरदायी होती है तथा व्यवस्थापिका का विश्वास खो देने पर कार्यपालिका अपना अस्तित्व नहीं रख सकती तथा कार्यपालिका के दो रूप अर्थात् नाममात्र व वास्तविक होती है।

6.2.11 एकात्मक एवं संघात्मक का मिश्रण–भारतीय संविधान का अनुच्छेद 1 भारत को राज्यों का संघ घोषित करता है। इस प्रकार भारत में संघात्मक व्यवस्था स्थापित की गई है। इसके अलावा संविधान में संघात्मक व्यवस्था के लक्षण विद्यमान है जैसे केन्द्र राज्यों के बीच विषयों का स्पष्ट बंटवारा, संविधान का लिखित एवं कठोर, न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति आदि इनके साथ–साथ एकात्मक व्यवस्था के भी तत्वों को शामिल किया गया है जैसे एकल नागरिकता एकल संविधान,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एकल न्यायपालिका, अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवाएं, राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियां, केन्द्र को अधिक महत्व आदि। इस प्रकार भारतीय संविधान निर्माताओं ने बीच का रास्ता अपनाया है।

दुर्गादास बसु ने कहा है कि भारतीय संविधान न तो पूर्ण संघात्मक और न एकात्मक अपितु यह दोनों का सम्मिश्रण है। यह नवीन प्रकार का संघ है।

6.2.12 संसदीय प्रभुता तथा न्यायिक सर्वोच्चता में समन्वय–संसदीय प्रभुता का अर्थ ये है कि संसद द्वारा बनाया गया कानून सर्वोच्च एवं अन्तिम होता है जिसके विरूद्ध कही पर भी चुनौती नहीं दी जा सकती जो ब्रिटेन में पाया जाता है। इसके विपरीत न्यायिक सर्वोच्चता का सिद्धान्त है जिसके अनुसार न्यायालय संविधान का रक्षक और अभिभावक है। इस व्यवस्था में न्यायालय को यह अधिकार होता है कि वह अपनी न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के द्वारा व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून और कार्यपालिका के आदेश को संविधान के विरूद्ध होने पर अवैध घोषित कर सकती है। ये अमरीकी व्यवस्था में पायी जाती है। भारतीय संविधान में दोनों के महत्व को ध्यान में रखकर दोनों को शामिल किया है। इसीलिए यह कहा जाता है कि भारतीय संसद सम्प्रभु है पर सर्वोच्च नहीं तथा न्यायपालिका न्यायिक पुनरावलोकन की सीमित शक्तियां रखती है।

6.2.13 मौलिक अधिकार और मूल कर्तव्य–नागरिकों के सर्वांगीण विकास के लिए मौलिक अधिकारों का होना नितान्त जरूरी है। इसलिए दुनिया के अधिकांश संविधानों द्वारा नागरिकों को अधिकारों से सुशोभित किया गया है। भारतीय संविधान में भी नागरिकों को 6 मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं, जिनका उल्लेख संविधान के भाग 3 के अनुच्छेद 14–35 में है। मूल संविधान में 7 मौलिक अधिकार थे लेकिन 44वें संविधान संशोधन द्वारा सम्पति का मूल अधिकार समाप्त कर दिया गया है।

मूल संविधान में केवल मौलिक अधिकारों की व्यवस्था थी 42वें संविधान संशोधन द्वारा भाग 4 (क) जोड़कर नागरिकों को 10 मौलिक कर्तव्य प्रदान किये गये है।

6.2.14 नीति निदेशक तत्व–भारतीय संविधान के भाग 4 के अनुच्छेद 36–51 के मध्य राज्य के नीति निदेशक तत्वों का उल्लेख किया गया जो राज्य को एक निर्देश देने वाला तत्व है कि वह इन तत्वों को आधार मानकर नीति का निर्धारण करेगा लेकिन इन्हें मानने के लिए राज्य बाध्य नहीं है और न ही इनके उल्लंघन की स्थिति में न्यायालय में अपील की जा सकती है। ये तत्व भारत में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना करते हैं। जी.एन. जोशी के शब्दों में ये तत्व आधुनिक प्रजातन्त्र के लिए व्यापक राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रम प्रस्तुत करते है।

6.2.15 स्वतन्त्र न्यायपालिका और अन्य स्वतन्त्र अभिकरण–भारतीय संविधान द्वारा संविधान की व्याख्या और रक्षा के लिए स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका की व्यवस्था की गई जो नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा भी करती है। न्यायपालिका की स्थिति सुदृढ़ बनाने के लिए भी संविधान में व्यापक प्रबन्ध किया गया है जैसे न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा, न्यायाधीशों को पद की पर्याप्त सुरक्षा, न्यायपालिका को व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के अनुचित नियंत्रण से दूर रखा गया है। इस प्रकार भारतीय न्यायपालिका ने पिछले 53 वर्षों में अपनी स्वतन्त्रता का परिचय दिया है।

स्वतन्त्र न्यायपालिका के अलावा अन्य स्वतन्त्र अभिकरण मौजूद हैं, जैसे निर्वाचन आयोग, नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक, लोक सेवा आयोग आदि।

6.2.16 साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का अन्त और वयस्क मताधिकार का प्रारम्भ–अंग्रेजों द्वारा फूट डालो और राज करो की नीति के तहत् 1909 के अधिनियम द्वारा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रणाली शुरू की गई, जिसका भारतीय संविधान द्वारा अन्त कर वयस्क मताधिकार को प्रारम्भ किया गया। जिससे करोड़ों नागरिकों को मताधिकार प्राप्त हुआ। मूल संविधान में वयस्कता की आयु 21 वर्ष थी लेकिन 61वें संविधान संशोधन द्वारा 18 वर्ष कर दी गई है। प्रो. श्री निवासन के शब्दों में साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति की समाप्ति और वयस्क मताधिकार का प्रारम्भ नये संविधान की महान और क्रांतिकारी विशेषता है।

6.2.17 एकल नागरिकता–भारतीय संविधान निर्माताओं का यह मत था कि दोहरी नागरिकता राष्ट्रीय एकता अखण्डता के लिए बाध्यकारी हो सकती हैं अतः एकल नागरिकता के सिद्धान्त को अपनाया गया अर्थात् हम केवल भारत के नागरिक है न कि किसी इकाई (प्रान्त) के।

6.2.18 सामाजिक न्याय की स्थापना–सामाजिक न्याय से हमारा अभिप्रायः यह है कि सभी नागरिकों के साथ बिना किसी भेदभाव के समानता का व्यवहार करना और विकास के समान अवसर उपलब्ध करवाना। इसके लिए भारतीय संविधान में व्यापक प्रबन्ध किया गया है। जैसे अनुच्छेद 17 के अनुसार छूआछूत का अन्त किया गया है, समाज के दलित व पिछड़ों के उत्थान की उचित व्यवस्था की गई है, आदि।

6.2.19 लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना–लोककल्याणकारी राज्य से अभिप्राय उस राज्य से है जिसके द्वारा व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पन्न होने वाली तमाम जन उपयोगी क्रियाओं का संचालन किया जाता है। इसके लिए भी भारतीय संविधान में प्रावधान किये गये है।

6.3 सारांश

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि भारत का संविधान व्यापक विशेषताएं लिए हुए है जिसमें दुनियां के सभी महत्वपूर्ण संविधानों की अच्छाईयों को शामिल किया गया है। यह एक ऐसे समाज की स्थापना की ओर कदम रखता है जिसमें नागरिकों का चहूँमुखी विकास सम्भव है। संविधान में सभी वर्गों की उन्नति की बात कहकर सामाजिक समरसता लाने का प्रयास किया गया है। संविधान में जन इच्छाओं और आकांक्षा को पूरी तर्जी दी गई है। जिन्हें जनता गुलामी के दौरान आदर्श सपने के रूप में सोचती थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न–

1. भारतीय संविधान की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न–

1. भारतीय संविधान श्लचीला व कठोर है, सिद्ध करो।
2. भारतीय संविधान एकात्मक व संघात्मक का मिश्रण है स्पष्ट करो।
3. भारतीय संविधान में संसदीय सर्वोच्चता का न्यायिक सर्वोच्चता में समन्वय बनाने का कहां तक प्रयास किया गया है?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न–

1. भारतीय संविधान को बनने में कितना समय लगा?
2. भारतीय संविधान में कितने अनुच्छेद व अनुसूचियां हैं?
3. संविधान संशोधन प्रक्रिया का उल्लेख कौनसे अनुच्छेद में है?
4. लोककल्याणकारी राज्य का अर्थ बताओ।
5. संसदीय सर्वोच्चता का सिद्धान्त किस संविधान में पाया जाता है?
6. न्यायिक पुनरावलोकन का क्या अर्थ है?
7. वयस्क मताधिकार की आयु में सशोधन कौन से संविधान सशोधन द्वारा किया गया?
8. गणराज्य का अर्थ बताओ।
9. भारतीय संविधान में अब तक कितनी बार संशोधन किया जा चुका है?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

जय नारायण पाण्डेय, भारत का संविधान, सैन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहबाद।

डी.डी.बसु, भारत का संविधान, वाधवा प्रकाशन, मेरठ।

सुभाष कश्यप, भारत का संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया।

बी.एल.फड़िया, भारत का संविधान साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

डी.एन. बनर्जी, गारतीय रांविधान वर्ल्ड प्रेरा, कलकत्ता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–7 : मौलिक अधिकार एवं कर्त्तव्य

संरचना

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 संविधान द्वारा प्रदत मौलिक अधिकार

- 7.2.1 समानता का अधिकार
- 7.2.2 स्वतन्त्रता का अधिकार
- 7.2.3 शोषण के विरूद्ध अधिकार
- 7.2.4 धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार
- 7.2.5 संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार
- 7.2.6 संवैधानिक उपचारों का अधिकार

7.3 मौलिक कर्त्तव्य

- 7.3.1 मौलिक कर्त्तव्यों का वर्गीकरण
- 7.3.2 मौलिक कर्त्तव्यों के पक्ष में तर्क
- 7.3.3 मौलिक कर्त्तव्यों के विपक्ष में तर्क

7.4 सारांश

7.0 उद्देश्य

इस पाठ के अन्तर्गत भारतीय नागरिकों के मौलिक अधिकार एवं कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है। इस पाठ को पढ़कर आप–

- भारतीय संविधान में उल्लिखत नागरिकों के मौलिक अधिकारों को समझ सकेंगे।
- नागरिकों के कर्त्तव्यों की जानकारी प्राप्त करेंगे।

7.1 प्रस्तावना

व्यक्ति और राज्य के मध्य संबंध किस प्रकार का होना चाहिए, यह विषय राजनीति शास्त्र में सदैव विवाद का मुद्दा रहा है। यदि व्यक्ति को अधिक महत्व दे दिया जाए या उसे पूर्ण अधिकार सम्पन्न बना दिया जाए तो समाज में अराजकता की स्थिति पैदा हो जायेगी। यदि व्यक्ति के स्थान पर राज्य को महत्व दे दिया जाए तो राज्य शक्तिसम्पन्न बनकर व्यक्ति के अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं को कुचलने का प्रयास करेगा। जिसका परिणाम यह होगा कि स्वतंत्रता के अभाव में व्यक्ति के व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं होगा। अत राजनीति शास्त्र में मध्य मार्ग अपनाने पर बल दिया जाता है। जिसमें व्यक्ति को अधिकार एवं स्वतंत्रताएं प्रदान तो की जाती है परन्तु उन पर राज्य को उचित नियंत्रण लगाने की शक्ति होती है, ताकि व्यक्ति द्वारा अधिकारों के दुरूपयोग को रोका जा सके और राष्ट्रीय एकता, अखण्डता एवं शांति कायम की जा सके।

मानव सभ्यता एवं संस्कृति के इतिहास पर दृष्टिपात करे तो हम पाते हैं कि यह स्वतंत्रता एवं अधिकार प्राप्ति की घटनाओं से भरा पड़ा है और मनुष्य अपने अधिकारों की रक्षा के लिए प्राणों की बलिदानी देने से पीछे नहीं हटता है। जॉन लॉक के अनुसार मनुष्य अपने जन्म के साथ तीन अधिकार लेकर पैदा होता है स्वतंत्रता का अधिकार, जीवन का अधिकार और सम्पति का अधिकार।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व का नारा देती है। इसके उपरान्त संविधान मानवीय अधिकारों की घोषणा (1789) में की जाती है। यहीं से नागरिकों के अधिकारों को संवैधानिक दर्जा देने का दौर प्रारम्भ हुआ। इसके बाद 1791 में संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान में प्रथम 10 संशोधनों द्वारा व्यक्ति के अधिकारों को संवैधानिक रूप दिया गया। इसके बाद यूरोप के अनेक संविधानों में नागरिक अधिकारों को सम्मानजनक स्थान देकर लागू किया गया। 26 जनवरी, 1950 को लागू भारतीय संविधान में मूल अधिकार को भाग 3 में उल्लेखित किया गया है। इस तरह मौलिक अधिकार संविधानों की आभा है। जिस प्रकार शृंगार के बिना नवविवाहित दुल्हन अधूरी है ठीक उसी प्रकार मूल अधिकारों के बिना संविधान अधूरा है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मौलिक अधिकारों को मान्यता देने का कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ ने किया। जिसने 10 दिसम्बर, 1948 को मानव अधिकारों की सार्वभौम घोषणा की। इन्हीं अधिकारों को प्रभावी बनाने के लिए प्रतिवर्ष 10 दिसम्बर को मानव अधिकार दिवस के रूप में मनाया जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था मौलिक अधिकारों के महत्व को और अधिक सिद्ध करती है क्योंकि इनके अभाव में तानाशाही एवं निरंकुश तत्वों को बढ़ने का मौका मिलता है, जो मानवाधिकारों का हनन करने से नहीं चूकते हैं। इस प्रकार मौलिक अधिकार नगरिकों को न्याय और उचित व्यवहार की सुरक्षा प्रदान करते हैं और राज्य के बढ़ते हुए हस्तक्षेप तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता में समन्वय स्थापित करते हैं।

7.2 संविधान द्वारा प्रदत मौलिक अधिकार

भारतीय जनमानस अधिकारों से वाकिफ था। गुलामी के दौरान भी कांग्रेस सहित अनेक मंचों से अधिकार प्राप्ति की मांग उठी थी लेकिन अंग्रेज ऐसी मांगों को कुचल देते थे। अधिकार भारतीयों के लिए उस समय केवल सपना मात्र थे, लेकिन आजादी के बाद संविधान सभा ने जिस संविधान का निर्माण किया, उसमें नागरिकों को मौलिक अधिकारों से नवाजा (सुशोभित) किया गया जिनका उल्लेख संविधान के भाग 3 के अनुच्छेद 14–35 के बीच किया गया है। मूल संविधान में नागरिकों को 7 प्रकार के अधिकार दिये गये थे, लेकिन 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) द्वारा सम्पति का अधिकार मौलिक अधिकार के रूप में समाप्त कर केवल कानूनी अधिकार का दर्जा दिया गया है। इस प्रकार वर्तमान में 6 मौलिक अधिकार नागरिकों को प्राप्त है। जिनका विवरण इस प्रकार है–

7.2.1 समानता का अधिकार (अनुच्छेद 14–18)–समानता लोकतंत्र का आधार स्तम्भ है। अतः भारत के प्रत्येक नागरिक को विधि के समक्ष समानता, अवसर की समानता आदि प्रदान की गई है और तमाम प्रकार के भेदभावों को निषेध करार दिया गया है।

कानून के समक्ष समानता (अनुच्छेद 14) – भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 के अनुसार भारत के राज्य क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समानता या विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं किया जाएगा और कानून का उल्लंघन करने पर समान प्रकार के दण्ड की व्यवस्था की गयी है अर्थात् कानून की नजरों में सभी समान है।

तमाम भेदभाव निषेध (अनुच्छेद 15) – अनुच्छेद 15 के अनुसार राज्य के द्वारा जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र, लिंग, वर्ण, रंग, जन्म स्थान, नस्ल आदि के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायेगा। विधि द्वारा निश्चित किया गया है कि सार्वजनिक स्थल जैसे कुआं, तालाब, स्नानघर, सड़कों, स्कूलों, धर्मशालाओं आदि पर कोई भेदभाव नहीं किया जायेगा।

राज्य अधीन नौकरियों का समान अवसर (अनुच्छेद 16) – अनुच्छेद 16 के अनुसार बिना किसी भेदभाव के निश्चित योग्यता रखने वाले सभी नागरिकों को राज्य के अधीन सरकारी नौकरियों का समान अवसर प्राप्त है। इसी प्रकार की सेवाओं में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग, महिला या अन्य के लिए स्थान आरक्षित किये जा सकते हैं।

अस्पृश्यता का निषेध (अनुच्छेद 17) – सामाजिक न्याय की अवधारणा को मजबूती प्रदान करने के लिए संविधान के अनुच्छेद 17 द्वारा अस्पृश्यता (छूआछूत) को गैर–कानूनी घोषित किया गया है और ऐसा करने के लिए दण्डनीय अपराध होगा। अस्पश्यता के रोग को समाप्त करने के लिए सरकार ने अस्पश्यता अपराध अधिनियम (1955), नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम (1976), अनुसूचित जाति व जनजाति निरोधक कानून (1989), पारित किये है।

उपाधियों का अन्त (अनुच्छेद 18) – इसके अन्तर्गत राज्य सेना या शिक्षा सम्बन्धी सम्मान के अतिरिक्त कोई उपाधि प्रदान नहीं करेगा परन्तु भारत का कोई भी नागरिक राष्ट्रमण्डल के किसी भी देश की उपाधि ग्रहण कर सकता है, उसे संविधान का उल्लंघन नहीं माना जाएगा।

7.2.2 स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 19–22)–भारतीय संविधान का उद्देश्य विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता को सुनिश्चित करना है। अतः संविधान द्वारा विविध प्रकार की स्वतंत्रताएं प्रदान की गई है। (अनुच्छेद 19 में प्रदत स्वतंत्रताएं)

विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19 (1) (क) – भारत के सभी नागरिकों को विचार करने और भाषण देने की स्वतंत्रता है। इसमें प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल है, लेकिन राष्ट्रीय एकता, अखण्डता, सम्प्रभुता की रक्षा तथा शांति व्यवस्था आदि कायम करने के उद्देश्य से विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता सीमित की जा सकती है।

अस्त्र–शस्त्र रहित तथा शांतिपूर्वक सम्मेलन करने की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19 (1) (ख) – व्यक्तियों द्वारा अपने विचारों के प्रचार के लिए शांति पूर्वक अस्त्र–शस्त्र रहित शांतिपूर्वक जुलूस निकालने एवं सम्मेलन करने की आजादी प्राप्त है। यह स्वतंत्रता भी असीमित नहीं है। राज्य द्वारा सार्वजनिक सुरक्षा के हित में सीमित किया जा सकता है।

समुदाय और संघ निर्माण की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19 (1) (ग) – इसके अनुसार कोई भी नागरिक अपनी इच्छा अनुसार संगठन या संघ बना सकता है। परन्तु यदि इस स्वतंत्रता की आड़ में व्यक्ति षड्यंत्र करें अथवा शांति व्यवस्था को भंग करे तो राज्य उन पर प्रतिबन्ध लगा सकता है।

विशेष : केन्द्र सरकार ने स्टुडेन्ट्स इस्लामिक मूवमेन्ट (सिमी) पर प्रतिबंध इस कारण लगाया था कि उसकी गतिविधियां राष्ट्रीय एकता व अखण्डता के लिए संदिग्ध थी।

भारत के राज्य क्षेत्र में अबाध भ्रमण की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19 (1) (घ) – भारत के सभी नागरिक बिना किसी प्रतिबन्ध के भारत के किसी भी क्षेत्र में भ्रमण कर सकते हैं। इस अधिकार पर राज्य सामान्य जनता के हित में और अनुसूचित जनजाति के हित में उचित प्रतिबन्ध लगा सकता है।

Jan Vishwa Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

भारत राज्य क्षेत्र में अबाध निवास की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19 (1) (ड) – भारत के सभी नागरिक बिना किसी प्रतिबन्ध या विशेष अधिकार पत्र के राज्य के किसी भी भाग में स्थाई या अस्थाई रूप में बस सकता है किन्तु राज्य सामान्य जनता के हित में उचित प्रतिबन्ध लगा सकता है।

कोई वृति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 19 (1) (छ) – संविधान ने सभी नागरिकों को कोई वृति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता प्रदान की है, किन्तु राज्य जनता के हित में उचित प्रतिबंध लगा सकता है। राज्य किन्हीं व्यवसायों को करने के लिए योग्यताएं निर्धारित कर सकता है या किसी कारोबार को पूर्ण या आंशिक रूप से अपने हाथ में ले सकता है।

अपराध की दोषसिद्धि के विषय में संरक्षण (अनुच्छेद 20) – अनुच्छेद 20 में कहा गया है कि षकिसी व्यक्ति को उस समय तक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता जब तक कि उसने अपराध के समय लागू कानून का उल्लंघन न किया हो।ष इसके साथ एक अपराध के लिए व्यक्ति को एक प्रकार का दण्ड दिया जा सकता है।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा जीवन की सुरक्षा (अनुच्छेद 21) – इसके अनुसार किसी व्यक्ति को उसके प्राण तथा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से वंचित नहीं किया जा सकता।

विशेष :– 44वें संवैधानिक संशोधन (1979) द्वारा इस स्वतंत्रता को और अधिक महत्व प्रदान कर दिया है। अब आपातकाल में जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकता।

बंदीकरण की अवस्था में संरक्षण (अनुच्छेद 22) – इसके अनुसार किसी नागरिक को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य प्रकार से बन्दी नहीं बनाया जा सकता। इसके अलावा बन्दी बनाने से पूर्व कारण बताने होंगे। उसे अपने वकील से परामर्श करने और बचाव का अधिकार होगा। बन्दी बनाने के 24 घण्टे के भीतर उसे न्यायालय में पेश करना अनिवार्य है। अनुच्छेद 22 की यह व्यवस्था दो प्रकार के अपराधियों पर लागू नहीं होती प्रथम शत्रु देश के निवासियों पर और द्वितीय निवारक निरोध अधिनियम के अन्तर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों पर।

निवारक निरोध अधिनियम से तात्पर्य बिना किसी न्यायिक प्रक्रिया के नजरबंदी से है। किसी भी व्यक्ति को राज्य के हित में चाहे शांतिकाल हो या आपातकाल नजरबन्द बनाया जा सकता है। (अनुच्छेद 22 के खण्ड 4 से 7), संविधान में इसकी पूरी प्रक्रिया दे रखी है। संसद को अधिकार है कि समय–समय पर आवश्यकतानुसार निवारक निरोध अधिनियम पारित करें परन्तु स्थाई रूप से बनाने का कोई प्रावधान नहीं है। संसद ने समय–समय पर राष्ट्रीय सुरक्षा, एकता व अखण्डता तथा राष्ट्र को विध्वंसक कार्यवाहियों से बचाने के लिए इसका प्रयोग किया है। जैसे आन्तरिक सुरक्षा व्यवस्था अधिनियम (मीसा) (1971) राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम (1983), आतंकवाद एवं विध्वंसक गतिविधियां (निरोधक) अधिनियम (टाडा) (1993) तथा आतंकवाद निरोधक अधिनियम (पोटा) 2002, जो आज तक जारी है। इन निवारक निरोधक अधिनियमों को अधिकार एवं स्वतंत्रता विरोधी माना जाता है। जो एक भरी हुई बन्दूक के समान है जिसका प्रयोग कभी भी किया जा सकता है। केन्द्र में बनने वाली प्रत्येक सरकार अपनी राजनीतिक स्वार्थ सिद्धि के लिए इनका प्रयोग करती है न कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए। मानवाधिकार संगठन भी इसका विरोध करते हैं।

7.2.3 शोषण के विरूद्ध अधिकार (अनुच्छेद 23 और 24)–बेगारी उन्मूलन (अनुच्छेद 23) – इसके द्वारा बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य जबरदस्ती किया हुआ श्रम निषिद्ध ठहराया गया है, जिसका उल्लंघन करना दण्डनीय अपराध है किन्तु राज्य सार्वजनिक उद्देश्य से अनिवार्य श्रम की योजना लागू कर सकता है। ऐसा करते समय राज्य द्वारा किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा।

बाल श्रम का निषेध (अनुच्छेद 24) – इसके अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है कि 14 वर्ष से कम आयु के किसी बच्चे को कारखानों, खानों या अन्य जोखिम भरे काम पर नियुक्त नहीं किया जा सकता लेकिन अन्य कामों में लगाया जा सकता है। भारतीय समाज में बंधुवा मजदूरी भी शोषण के रूप में प्रचलित थी, जिसे समाप्त करने के लिए 1975–76 में कुछ कदम उठाए गए।

वास्तविक अर्थों में शोषण के विरूद्ध अधिकार भारतीय समाज के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है इससे सामाजिक लोकतंत्र एवं सामाजिक न्याय की अवधारणा को बल मिला तथा समाज में सदियों से प्रचलित बेगारी जैसी कुप्रथा पर रोक लग सकी है।

7.2.4 धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (अनुच्छेद 25–28)–भारत जैसे विविधता वाले राज्य में जहां अनेक धर्मों, सम्प्रदायों एवं मतों के लोग रहते हैं और राष्ट्रीय एकता बनाने के लिए तथा पंथनिरपेक्ष राज्य की स्थापना के लिए धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार जरूरी है।

अन्तःकरण की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 25) – इसके अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म को अंगीकार कर सकता है, उसे उसका अनुसरण एवं प्रचार करने का अधिकार प्राप्त होगा। सिक्खों द्वारा कृपाण धारण करना और उसको लेकर चलना धार्मिक स्वतंत्रता का अंग है।

धार्मिक मामलों का प्रबन्ध करने की स्वतंत्रता (अनुच्छेद 26) – इस अनुच्छेद के अनुसार प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को निम्न अधिकार प्राप्त है –

(अ) धार्मिक संस्थाओं की स्थापना तथा उनका पोषण करने का अधिकार
(ब) धर्म संबंधी निजी मामलों का स्वयं प्रबन्ध करने का अधिकार।
(स) चल और अचल सम्पति के अर्जन और स्वामित्व का अधिकार।
(द) उक्त सम्पति का विधि द्वारा संचालन का अधिकार।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

धार्मिक व्यय के लिए निश्चित धन पर कर अदायगी से छूट (अनुच्छेद 27)

राजकीय शिक्षण संस्थाओं से धार्मिक शिक्षा निषिद्ध (अनुच्छेद 28) – इसके अनुसार राजकीय निधि से संचालित किसी भी शिक्षण संस्था में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं की जाएगी और न ही किसी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की शिक्षा ग्रहण करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार भी प्रतिबन्ध रहित नहीं है। राज्य सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता एवं स्वास्थ्य इत्यादि के हित में इसके प्रयोग पर प्रतिबंध लगा सकता है। इसी प्रकार राज्य आवश्यकतानुसार धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप कर सकता है।

7.2.5 संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार (अनुच्छेद 29 और 30)–अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण (अनुच्छेद 29) – इसके अनुसार नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति सुरक्षित रखने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह भी कहा गया है कि राजकीय या राजकीय सहायता से संचालित शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश से संबंधित किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा।

अल्पसंख्यक वर्गों को शिक्षण संस्था स्थापित करने का अधिकार (अनुच्छेद 30) – इसके तहत् धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रूचि की शैक्षणिक संस्थाओं की स्थापना तथा उनके प्रशासन का अधिकार होगा। यह भी कहा गया है कि अनुदान देने में राज्य किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करेगा।

7.2.6 संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनुच्छेद 32)–संविधान में केवल मौलिक अधिकारों का उल्लेख ही नहीं किया गया अपितु इसके एक कदम आगे संरक्षण के भी व्यापक प्रावधान किये गये हैं। जिसके अनुसार यदि किसी नागरिक के अधिकारों का हनन राज्य या संस्था या व्यक्ति या व्यक्ति समूह द्वारा किया जाता है तो नागरिक अपने अधिकारों की सुरक्षा हेतु न्यायालय का दरवाजा खटखटा सकता है अर्थात् न्यायालय की शरण ले सकता है। संविधान न्यायालय को यह अधिकार देता है कि यदि कार्यपालिका का कोई आदेश और व्यवस्थापिका का कोई कानून संविधान के विरूद्ध हो तो वह अपनी न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति द्वारा अवैध घोषित कर सकता है। संवैधानिक उपचारों के अधिकार के महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. अम्बेडकर का कहना है यदि कोई मुझसे यह पूछे कि संविधान का कौनसा अनुच्छेद है जिसके बिना संविधान शून्य प्राय हो जाएगा, तो अनुच्छेद (32) को छोड़कर मैं और किसी अनुच्छेद की ओर संकेत नहीं कर सकता। यह तो संविधान का हृदय और आत्मा है।

इस अनुच्छेद के कारण उच्चतम न्यायालय नागरिक अधिकारों का सजग प्रहरी बन गया है। सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालय के द्वारा नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए निम्न पांच प्रकार के लेख जारी किये जा सकते हैं :

(अ) बन्दी प्रत्यक्षीकरण – व्यक्ति की स्वतंत्रता की सुरक्षा के लिए यह लेख सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस लेख द्वारा न्यायालय बन्दी बनाने वाले अधिकारी को यह आदेश देता है कि बन्दी बनाये गये व्यक्ति को एक निश्चित तिथि और स्थान पर न्यायालय में पेश करे। जिससे न्यायालय यह निर्णय ले सके कि बन्दी बनाये जाने के कारण वैध है या अवैध।

(ब) परमादेश – यह लेख उस समय जारी किया जाता है जब कोई पदाधिकारी अपने सार्वजनिक कर्तव्य का निर्वाह नहीं करता है। इस प्रकार के लेख द्वारा अधिकारी को अपने कर्तव्य पालन का आदेश न्यायालय दे सकता है।

(स) प्रतिषेध – यह आज्ञापत्र सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय द्वारा निम्न न्यायालय तथा अर्द्ध–न्यायाधिकरणों को जारी करने का आदेश दिया जाता है कि इस मामले में अपनी कार्यवाही स्थगित कर दे, क्योंकि यह मामला उसके अधिकार क्षेत्र के बाहर है।

(द) उत्प्रेषण – यह लेख अधिकांशतः किसी विवाद को निम्न न्यायालय से उच्च न्यायालय में भेजने के लिए जारी किया जाता है। जिससे वह अपनी शक्ति का दुरूपयोग करते हुए न्याय के प्राकृतिक सिद्धान्तों को भंग न करे। इसके द्वारा उच्च न्यायालय निम्न न्यायाधीशों से किन्ही विवादों के संबंध में सूचना प्राप्त कर सकते हैं।

(य) अधिकार पृच्छा – जब कोई व्यक्ति ऐसे पदाधिकारी के रूप में कार्य करने लगता है, जिसके रूप में कार्य करने का वैधानिक अधिकार नहीं है तो न्यायालय इस लेख द्वारा यह प्रश्न पूछ सकता है कि वह किस आधार पर यह कार्य कर रहा है। सन्तोषजनक उत्तर न देने पर न्यायालय उसे कार्य करने से रोक सकता है।

7.3 मौलिक कर्तव्य

संविधान में नागरिकों के कर्तव्य का उल्लेख किया जाना भारतीय संविधान के लिए अवश्य नयी बात हैं किन्तु यह कोई नया संवैधानिक आविष्कार या अनुभव नहीं है। विश्व के अधिकांश साम्यवादी देशों यथा हंगरी, रोमानिया आदि के संविधानों में नागरिकों के अधिकारों के साथ ही उनके मूल अथवा मौलिक कर्त्तव्यों का उल्लेख पाया जाता था। वर्तमान् में साम्यवादी चीन के संविधान में भी मौलिक कर्तव्यों का उल्लेख पाया जाता है। इटली, जापान, नीदरलैण्ड आदि कुछ गैर–साम्यवादी देशों के संविधान में भी मौलिक कर्तव्यों का समावेश किया गया है। भारत के मूल संविधान में नागरिकों के अधिकारों का उल्लेख तो किया गया था लेकिन मूल कर्तव्यों का पृथक से कोई उल्लेख नहीं था, सम्भवतः इसी मान्यता के कारण कि मूल अधिकारों के साथ कर्तव्य अपने आप जुड़े होते हैं। लेकिन संविधान के 42वें संशोधन अधिनियम, 1976 संविधान के भाग (4) के पश्चात् एक नया भाग (4–क) जोड़कर पहली बार संविधान में नागरिकों के मौलिक कर्तव्यों को भी समाविष्ट कर दिया गया है। इसमें नागरिकों के 10 मौलिक कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7.3.1 मौलिक कर्त्तव्यों का वर्गीकरण–संविधान के अनुच्छेद 51–क के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह –

1. संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे,
2. स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए और उनका पालन करे,
3. भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करें और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे,
4. देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे,
5. भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा, प्रदेश या वर्ग आधारित सभी भेदभाव से परे हों, ऐसी प्रथाओं का त्याग करें जो स्त्रियों के सम्मान के विरूद्ध है,
6. हमारी सामाजिक या मिश्रित संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझे और उसका परिरक्षण करे,
7. प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव नी हैं, रक्षा करे और उनका संवर्द्धन करे तथा प्राणी मात्र के प्रति दया भाव रखे,
8. वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे,
9. सार्वजनिक सम्पति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे,
10. व्यक्तिगत और सामुहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयत्न करे जिससे राष्ट्र निरन्तर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धियों की नई ऊँचाईयों को छू ले।

7.3.2 मौलिक कर्तव्यों की व्यवस्था के पक्ष में तर्क–संविधान में मौलिक कर्तव्यों की व्यवस्था का अपना महत्व है। भारतीय संविधान में कुछ कर्तव्य बड़े स्पष्ट रूप से गिनाए गए हैं, उदाहरणार्थ–संविधान और संस्थाओं का सम्मान, देश की अखण्डता और एकता की रक्षा, महिलाओं का सम्मान, प्राकृतिक पर्यावरण की रक्षा आदि। इन कर्तव्यों को सभी समझ सकते हैं और सभी उनका अनुसरण कर सकते हैं। कर्तव्यों की इस व्यवस्था में आदर्शवाद का पुट होता है और आदर्शवादिता राष्ट्रीय जीवन को आदर्शोन्मुख बनाती है। जीवन को ऊंचा उठाने के लिए कुछ आदर्शों को सामने रखा जाना आवश्यक है। आदर्श मूलक कर्तव्य हमें इस बात का बोध कराते हैं कि हमें किन उद्देश्यों पर चलना है और राष्ट्रीय जीवन को किस प्रकार आदर्शोन्मुख बनाना है। भारतीय संविधान में गिनाए गए नागरिकों के कर्तव्य लोकतंत्र की व्यवस्था को सुदृढ़ करने वाले हैं, बशर्ते कि उनका पालन किया जाए। पर्यावरण–सुरक्षा–संबंधी कर्तव्य जहां वातावरण को दूषित होने से बचाने के लिए उपयोगी है, वहाँ राष्ट्रीय जीवन को उच्च स्तरीय बनाने की दृष्टि से वैयक्तिक एवं सार्वजनिक रूप में योग्यता तथा श्रेष्ठता प्राप्त करने का कर्तव्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इतना ही नहीं संविधान में मौलिक कर्तव्यों का समावेश करने से मौलिक अधिकारों की स्थिति भी सुदृढ़ होगी। देश के नागरिक उचित उत्तरदायित्व की भावना से प्रेरित होकर कार्य करेंगे। फलस्वरूप देश की एकता और अखण्डता को सुरक्षित रखने में भारी सहायता मिलेगी। इस प्रकार देश की एकता और अखंडता की सुरक्षा में मौलिक कर्तव्यों की महत्वपूर्ण भूमिका है।

7.3.3 मौलिक कर्तव्यों के विपक्ष में तर्क–संविधान में संशोधन द्वारा मौलिक कर्तव्यों की जो व्यवस्था की गई है, उसकी अनेक क्षेत्रों में आलोचना हुई है। डॉ. जयनारायण पाण्डेय के मतानुसार संविधान समिति के सदस्यों का यह मत बिल्कुल गलत है कि भारत के लोग केवल अधिकारों पर ही जोर देते हैं, कर्तव्यों पर नहीं। अनादि काल से भारत में कर्तव्यों के पालन पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। भारत के सभी धर्म–ग्रन्थों में कर्तव्य पालन का ही उपदेश प्रमुख है। संविधान के उपबन्धों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाती है कि हमारे संविधान ने जहां नागरिकों को मूल अधिकार प्रदान किए हैं, वही उन पर कर्तव्यों को भी अधिरोपित किया है। नागरिक अपने मूल अधिकारों का प्रयोग सार्वजनिक हित के विरूद्ध नहीं कर सकता। राज्य को लोकहित में उसके मूल अधिकारों पर निर्बन्धन लगाने की शक्ति प्राप्त है।

मौलिक कर्तव्यों की व्यवस्था के विरोध में डॉ. इकबाल नारायण ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं –

1. मूल कर्तव्यों की व्यवस्था में जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया है, उससे यह सम्भव हो सकता है कि शासन उसकी आड़ में लोगों को अनावश्यक रूप से तंग कर सके। उदाहरणार्थ, संविधान के पालन के कर्तव्य के नाम पर लोगों को उसकी व्यवस्थाओं के प्रति मतभेद व्यक्त करने से रोका जा सकता है। भारत की प्रभुसत्ता की मान्यता के नाम पर शासन की प्रभुसत्ता पर अनावश्यक बल दिया जा सकता है तथा इसके कार्यों की आलोचना व विरोध को संविधान का उल्लंघन माना जा सकता है। इसी प्रकार धार्मिक, भाषायी, क्षेत्रीय एवं वर्गीय विभिन्नता एवं सद्भावना, मिश्रित संस्कृति, जीवधारियों के प्रति सहानुभूति, तथा सुधार की भावना आदि ऐसे विचार हैं, जिनका कोई सर्वसम्मत अर्थ सामान्यतः नहीं हो सकता तथा इनके आधार पर शासन व व्यक्तियों तथा विविध समुदायों व वर्गों के बीच अनावश्यक टकराव हो सकता है तथा शासन की ओर से जनता के साथ अनावश्यक रूप से कठोर व्यवहार किया जा सकता है।

2. अनेक मूल कर्तव्य ऐसे हैं, जिन्हें अच्छी तरह से न समझा जा सकता है और न उनका पालन ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, स्वतंत्रता संग्राम के आदर्श इतने विविध प्रकार के थे कि उन्हें प्रत्येक व्यक्ति अपने–अपने दृष्टिकोण से समझ सकता है। मिश्रित संस्कृति की बात भी ऐसी ही है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानवता आदि से सम्बन्धित कर्तव्य ऐसे हैं, जो साधारण व्यक्ति की बुद्धि से परे की वस्तु है।

Jan Vishwa Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

3. अनेक मूल कर्तव्य व्यावहारिक न होकर आदर्शवादी है। उदाहरणार्थ, सौहार्द्र, भाईचारे की भावना, अहिंसा तथा मानवता सम्बन्धों को ले सकते हैं, जो आदर्श की ही वस्तुएं हैं तथा जिन्हें व्यवहार में क्रियान्वित किया जाना असम्भव ही है।

4. अनेक कर्तव्य ऐसे हैं, जिनके पालन के लिए विधि द्वारा किसी को बाध्य नहीं केया जा सकता। उदाहरणार्थ राष्ट्रीय आन्दोलन के आदर्शों के पालन, वैज्ञानिक तथा मानवीय दृष्टिकोण के विकास तथा सांस्कृतिक विभिन्नता के आदर्श कर्तव्य ऐसे कर्तव्य हैं, जिनका पालन कराने के लिए कोई कानून व्यवस्था किया जाना सम्भव नहीं है।

संविधान में जिन मूल कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है यदि उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाए तो उनका महत्व और भी कम होता हुआ प्रतीत होता है। प्रसिद्ध विधिवेत्ता एन.ए. पालकीवाला ने ठीक ही कहा है कि संविधान में गिनाए गए मूल कर्तव्य नागरिकता के अधिकार में निहित हैं अर्थात् जब कोई व्यक्ति किसी देश की नागरिकता को ग्रहण करता है तो उस पर स्वयं यह कर्तव्य रोपित हो जाता है कि वह उस देश के राष्ट्रीय ध्वज, राष्ट्रीय गान और संविधान का आदर तथा पालन करे तथा देश की प्रभुता एकता और अखण्डता को बनाए रखे। इस दृष्टि से अनुच्छेद 51–ए के कोष्ठक क, ख, ग, घ में उल्लेखित कर्तव्यों का संविधान में वर्णन करना अनावश्यक प्रतीत होता है।[6]

शेष मूल कर्तव्यों में कुछ ऐसे कर्तव्य है जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मूल अधिकारों और नीति–निदेशक तत्वों में पाया जाता है। उदाहरण के लिए धर्म, भाषा तथा प्रदेश या वर्ग के आधार पर आपस में भेदभाव न करने का उपदेश अनुच्छेद 14 देता है, प्राकृतिक पर्यावरण की जिसके अन्तर्गत वन्य जीव भी सम्मिलित है, रक्षा करने का कर्तव्य अनुच्छेद 48–ए तथा ऐतिहासिक स्थानों की सुरक्षा करने का उत्तरदायित्व अनुच्छेद 40 में पाया जाता है और यह आशा की जाती है कि सरकार नीति निदेशक तत्वों को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक कानूनों का निर्माण करेगी। उन कानूनों का पालन करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य होगा। इस प्रकार नीति–निदेशक तत्वों के कार्यान्वयन का स्वाभाविक परिणाम नागरिकों के द्वारा उन कर्तव्यों का पालना करना होगा।

मूल कर्तव्यों के सम्बन्ध में एक व्यावहारिक कठिनाई यह है कि ये कर्तव्य अत्यधिक अस्पष्ट, अनिश्चित तथा काल्पनिक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए इन कर्तव्यों में यह कहा गया है कि नागरिक स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में सजोए रखे और उनका पालन करे, हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझे और उसका परिरक्षण करे, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे आदि। प्रश्न यह है कि राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्श क्या थे, इसका निश्चय कौन करेगा क्योंकि इस सम्बन्ध में अलग–अलग विचारधाराएं हो सकती है। इसी प्रकार वैधानिक दृष्टिकोण और मानववाद के क्या आवश्यक तत्व है और इसको विकसित करने के लिए हमें क्या करना होगा इनका निश्चय कौन और कैसे करेगा? सामाजिक संस्कृति की परिभाषा और उसके तत्व क्या है जिनका परिरक्षण करना हमारा कर्तव्य बताया गया है, इसका उत्तर अलग–अलग व्यक्ति अलग–अलग ढंग से देंगे।

जहां तक सार्वजनिक सम्पति को सुरक्षित रखने और हिंसा से दूर रहने का प्रश्न है, इसकी पूर्ति फौजदारी नियमों के द्वारा आसानी से की जा सकती है और की जाती रही है। अन्तिम मूल कर्तव्य और भी अधिक अव्यावहारिक तथा काल्पनिक प्रतीत होता है और उसको देखने से यह समझ में नहीं आता कि राष्ट्र को विकास के उत्कर्ष पर पहुंचने के लिए हमें क्या करना होगा।

अतः संविधान में जिन आदर्शों को कर्तव्यों के नाम से जोड़ा गया है उनको कार्यान्वित करना संसद द्वारा समय–समय पर बनाए जाने वाले कानून पर निर्भर करेगा और यदि इनका कार्यान्वयन संसद की इच्छा पर निर्भर करता है तो संविधान में इनके उल्लेख किए जाने की कोई आवश्यकता ही न थी।

7.4 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मौलिक अधिकारों की व्यवस्था भारतीय संविधान का मुख्य प्रावधान है। ऐसा करके व्यक्ति और राज्य के बीच समन्वय बनाने का सफल प्रयास किया गया है ताकि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का चहुंमुखी विकास कर सके। संविधान निर्माता मौलिक अधिकारों की व्यवस्था करते वक्त भारतीय समाज की जटिल समस्याओं से वाकिफ थे। अतः उन्हें दूर करने और सामाजिक समरसता लाने हेतु इनमें अनेक प्रावधान किये। वे भारत को पंथ निरपेक्ष राज्य बनाना चाहते थे। इसलिए धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार और अल्पसंख्यकों के हितों के संरक्षण की पूरी बात कही गई। संवैधानिक उपचारों का अधिकार का प्रावधान कर न्यायालय को सजग पहरेदार बना दिया हैं ताकि कोई भी तानाशाह पूर्ण व्यवहार नहीं कर सके। यद्यपि राज्य समय–समय पर व्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रयास करता है जो गलत नहीं है क्योंकि स्वतंत्रता एवं अधिकारों की सच्ची अभिव्यक्ति तब होगी, जब राज्य अनुचित पर उचित प्रतिबन्धों की व्यवस्था करेगा। आज आवश्यकता इस बात की है कि मौलिक अधिकारों का विस्तार किया जाए। इसमें शिक्षा का अधिकार, सूचना का अधिकार, काम का अधिकार, विशेष परिस्थितियों में राज्य से सहायता प्राप्त करने के अधिकारों का समावेश किया जाये।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान में प्रदत मौलिक अधिकार स्पष्ट कीजिए।
2. मौलिक कर्त्तव्यों पर आलोचनात्मक लेख लिखिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)

लघुतरात्मक प्रश्न

1. संविधान में मूल अधिकारों की रक्षा के लिए क्या व्यवस्था की गई है?
2. भारत एक पंथ निरपेक्ष राज्य है कैसे?
3. समानता के अधिकार पर प्रकाश डालिए।
4. मौलिक अधिकारों के संरक्षण हेतु न्यायालय कौन–कौन से लेख जारी करता हैं?
5. भारतीय संविधान में वर्णित कोई पाँच मौलिक कर्त्तव्यों का उल्लेख कीजिये ।

अति लघुतरात्मक प्रश्न

1. वह कौनसा अधिकार है जो किसी भी परिस्थिति में सीमित या समाप्त नहीं किया जा सकता?
2. संपति का मूल अधिकार कौन से संवैधानिक संशोधन द्वारा समाप्त हुआ?
3. छूआछूत निषेध कौनसे अनुच्छेद में है?
4. बंदीकरण की अवस्था में क्या संरक्षण है?
5. जॉन लॉक ने कौन–कौन से प्राकृतिक अधिकारों का उल्लेख किया हैं?
6. अधिकारों को सर्वप्रथम वैधानिक दर्जा कहां से मिला?
7. मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा कब की गई?
8. मानवाधिकार दिवस कब मनाया गया है?
9. भारतीय संविधान में मौलिक कर्त्तव्य कब और कौनसे संशोधन द्वारा जोड़े गये ?
10. कर्त्तव्य सामान्यत: किस व्यवस्था की देन है ?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

डी.डी. बसु भारत का संविधान पाथपा प्रकाशन, मेरठ।

बी.एल. फड़िया भारत का संविधान साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

सुभाष कश्यप हमारा संविधान नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया।

डॉ. जय नारायण पाण्डेय, भारत का संविधान सेण्टर लॉ एजेन्सी, इलाहबाद।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–8 : राज्य के नीति निदेशक तत्व

संरचना

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 निदेशक तत्वों का अर्थ

8.3 निदेशक तत्वों का उद्देश्य

8.4 निदेशक तत्वों का महत्व

8.5 निदेशक तत्वों और मौलिक अधिकारों में अन्तर

8.6 नीति निदेशक तत्वों का वर्गीकरण

- 8.6.1 आर्थिक सुरक्षा संबंधी निदेशक तत्व
- 8.6.2 सामाजिक हित और शिक्षा संबंधी निदेशक तत्व
- 8.6.3 पंचायती राज, प्राचीन स्मारकों तथा न्याय संबंधी
- 8.6.4 अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा संबंधी (अनुच्छेद 51)

8.7 नीति निदेशक तत्वों की आलोचनाएँ

- 8.7.1 वैधानिक शक्ति का अभाव
- 8.7.2 अस्पष्ट और अतार्किक रूप से संग्रहित
- 8.7.3 सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य के लिए अस्वाभाविक
- 8.7.4 अव्यावहारिक और अनुचित
- 8.7.5 संवैधानिक द्वन्द्व के कारण

8.8 सारांश

8.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत राज्य के नीति–निदेशक तत्वों को समझाने का प्रयास किया गया है। इस पाठ को पढ़कर आप–

- निदेशक तत्वों का महत्त्व समझ सकेंगे,
- निदेशक तत्वों के वर्गीकरण की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- निदेशक तत्त्वों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

भारतीय संविधान जहां एक ओर व्यक्ति को अधिकारों के साथ–साथ कर्तव्य भी प्रदान करता है, वहीं दूसरी ओर राज्य की स्पष्ट शक्तियों के साथ–साथ कानून निर्माण हेतु निदेशक तत्वों का प्रावधान करता है । इससे एक बात का अवश्य ही आभास ह'ता है कि संविधान निर्माता हर स्तर पर समन्वय स्थापित करने का प्रयास करते है। संविधान इन तत्वों के माध्यम से राज्य को यह निर्देश देता है कि वह इन तत्वों को आधार मानकर कानूनों का निर्माण करें। इनके पीछे मूलभूत उद्देश्य श्लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। यद्यपि राज्य इन्हें मानने के लि बाध्य नहीं है, परन्तु फिर भी जनइच्छा के मध्यनजर इनकी उपेक्षा आसानी से नहीं कर सकता। भारतीय संविधान में यह प्रावधान आयरलैण्ड के संविधान से ग्रहण किया गया है।

राज्य के नीति निदेशक तत्व हमारे संविधान की संजीवनी व्यवस्था है। इन सिद्धन्तों में हमारे सामाजिक न्याय का दर्शन निहित है। ये तत्व हमारे संविधान की प्रतिज्ञाओं और आकांक्षाओं को वाणी प्रदान करते है। नीति निदेशक तत्वों का प्रयोजन शांतिपूर्ण तरीकों से सामाजिक क्रांति का मार्ग प्रशस्त कर सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में तत्काल सिद्धि प्राप्त करना है।

8.2 निदेशक तत्वों का अर्थ

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार ष्राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्तों का उद्देश्य जनता के कल्याण को प्रोत्साहित करने वाली सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना।ष

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार ष्राज्य के नीति के निदेशक सिद्धान्त सन् 1935 के अधिनियम में जारी किए गए अनुदेश–पत्रों के समान ही है। बस अन्तर केवल यही है कि अधिनियम में गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों को निर्देश दिए गए थे, जबकि इस संविधान में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को निर्देश दिए गए हैं।

पायली का कहना है कि निदेशक तत्व भारतीय प्रशासकों के आचरण के सिद्धान्त हैं।

न्यायाधीश केनिया का मत है कि निदेशक तत्वों में राष्ट्र की बुद्धिमतापूर्ण स्वीकृति बोलती है, जो संविधान सभा के माध्यम से अभिव्यक्त हुई थी।

8.3 निदेशक तत्वों का उद्देश्य

नीति निदेशक सिद्धान्तों को संविधान का अंग बनाने के पीछे संविधान निर्माताओं का क्या उद्देश्य था? इस आधारभूत सिद्धान्त का उद्देश्य श्लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है। सामुहिक रूप में यह सिद्धान्त भारत में आर्थिक एवं सामाजिक लोकतंत्र की रचना करता है। निदेशक सिद्धान्त का वास्तविक महत्व इस बात का है कि यह नागरिकों के प्रति राज्य के दायित्वों का बोध करवाते हैं। संविधान की प्रस्तावना में जिन आदर्शों की प्राप्ति की इच्छा प्रकट की गई है, ये उन आदर्शों की ओर बढ़ने के लिए पथ–प्रदर्शन का कार्य करते है, जिन आदर्शों का प्राप्ति भारतीय राज्य का लक्ष्य है, ये उन आदर्शों की गणना है।

8.4 नीति निदेशक तत्वों का महत्व

1. संविधान निर्माताओं का उद्देश्य भारत में एक ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना करना था, जिसमें सभी नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय मिल सके। इसके अलावा इन तत्वों के माध्यम से सामाजिक और आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना करना।
2. भारत को एक लोक कल्याणकारी राज्य बनाने में राज्य के नीति निदेशक तत्वों का व्यापक महत्व रहा है, जिसके कारण राज्य लोगों की तमाम समस्याओं का समाधान करने में सजग बन सकता है।
3. नीति निदेशक तत्व से राज्य की नीति में स्थायित्व आता हैं क्योंकि सरकारें बदलती रहती हैं लेकिन यह तत्व कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को निर्देश देते रहते हैं, जिनका पालन प्रत्येक सरकार को जन दबाव में आकर करना ही होता है।
4. इन तत्वों से लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ है, जिससे सत्ता में स्थानीय लोगों की भागीदारी बढ़ रही है।
5. इन तत्वों की अनुपालना से विश्व शांति और मानवता की भावना का विकास होता है, क्योंकि इनमें अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा, सम्मानपूर्ण संबंधों की विदेश नीति, पंचशील, पंच निर्णय आदि पर बल दिया गया। जिन पर अमल केन्द्र में बनने वाली प्रत्येक सरकार करती है।
6. मादक द्रव्यों व पदार्थों के सेवन पर राज्य रोक लगा देता है तो व्यक्ति में नैतिक मूल्यों का विकास हो सकता है।

8.5 निदेशक सिद्धान्तों तथा मौलिक अधिकारों में अन्तर

भारतीय संविधान के भाग 3 में मौलिक अधिकार तथा भाग 4 में नीति निदेशक तत्वों का वर्णन किया गया है। जिनके बीच भारी मतभेद देखा जा सकता है। ग्लेडहिल के अनुसार ष्मौलिक अधिकार राज्य के लिए निषेध–आज्ञाएं है। इनके द्वारा राज्य को यह आदेश दिया गया है कि उसे लोगों के इन अधिकारों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना है। राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तयह बतलाते हैं कि राज्य को क्या करना चाहिए। दोनों में मूल अन्तर इस प्रकार है :–

1. मौलिक अधिकार जहां नागरिकों को ऐसी सुविधाएं प्रदान करते हैं जिन्हें उन्के सर्वांगीण विकास की आवश्यक शर्त कहा जा सकता है। वहाँ राज्य के नीति निदेशक तत्व मनुष्य के इस सर्वांगीण विकास की आवश्यक परिस्थितियों के निर्माण के लिए कुछ निषेध आज्ञाएं है।
2. जहाँ मौलिक अधिकार न्यायालयों द्वारा लागू हो सकते हैं वहां राज्य के नीति निदेशक तत्व न्यायालय द्वारा लागू नहीं हो सकते है। अर्थात् मौलिक अधिकार वाद योग्य है वही नीति निदेशक तत्व अवाद योग्य है।
3. मौलिक अधिकार नकारात्मक है, वहीं राज्य के नीति निदेशक तत्व सकारात्मक है। मौलिक अधिकार राज्य के अनेक कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं तथा राज्य भी आवश्यकतानुसार इन पर प्रतिबन्ध लगा देता है। इसके विपरीत निदेशक तत्व राज्य को और कार्य करने के लिए आदेश देते है।
4. जहां मौलिक अधिकार राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना करते है वही नीति निदेशक तत्व आर्थिक लोकतंत्र की। ग्रेनविल ऑस्ट्रिन के अनुसार ये आर्थिक स्वाधीनता की घोषणा है।
5. मौलिक अधिकारों का कानूनी महत्व है जबकि नीति निदेशक तत्व नैतिक आदेश मात्र है। जी.एन. जोशी ने लिखा है कि राज्य नीति के निदेशक सिद्धान्त मानवीय आदर्शवाद के ढेर हैं जिन्हें ऐसे व्यक्ति ने संग्रहित किया है जो दीर्घकालीन स्वतन्त्रता के पश्चात् स्वप्निल भावातिरेक की स्थिति में थे।
6. मौलिक अधिकारों के अनुच्छेद 20 एवं 21 को छोड़कर अन्य सभी मूल अधिकार अनुच्छेद 352 से सम्बन्ध आपातकाल में स्थगित किये जा सकते है लेकिन नीति निदेशक सिद्धान्तों को किसी भी परिस्थिति में स्थगित नहीं किया जा सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7. मौलिक अधिकार सार्वभौमिक नहीं है। उन पर कुछ प्रतिबंध है, जबकि राज्य के नीति निदेशक तत्वों पर कोई प्रतिबंध नहीं होता है।

उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त मौलिक अधिकार और नीति निदेशक तत्वों में महत्व सम्बन्धी भेद भी है। हमारे मूल संविधान में मौलिक अधिकारों को नीति निदेशक तत्वों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थिति प्रदान की गई थी। इसी आधार पर सर्वोच्च न्यायालय ने कुरेशी बनाम बिहार राज्य के मामलें में यह विचार व्यक्त किया था कि श्राज्य को चाहिए कि वह निदेशक सिद्धान्तों को लागू करने के लिए कानून बनाए, लेकिन उनके द्वारा बनाये गये कानूनों से मौलिक अधिकारों को हानि नहीं पहुंचनी चाहिए नहीं तो उनकी सुरक्षा संबंधी धाराएं निरर्थक समझी जायेगी ।ष संविधान के चौथे संशोधन अधिनियम प्रस्तुत करते हुए पं. नेहरू ने कहा था कि ष्जहां कही किसी मौलिक अधिकार एवं निदेशक सिद्धान्त में परस्पर विरोध हो, वहां निदेशक सिद्धान्तों को वरीयता दी जानी चाहिए।

8.6 नीति निदेशक तत्वों का वर्गीकरण

भारतीय संविधान के भाग 4 के अनुच्छेद 36–51 में वर्णित राज्य के नीति निदेशक तत्वों का वर्गीकरण निम्नलिखित शीर्षकों से किया जा सकता है :–

8.6.1 आर्थिक सुरक्षा संबंधी निदेशक तत्व

8.6.1.1 अनुच्छेद 39 के अनुसार राज्य अपनी नीति इस प्रकार निर्धारित करेगा–सभी नागरिकों स्त्रियों और पुरूषों को समान रूप से जीविका–निर्वाह के पर्याप्त साधन प्राप्त हो सके।

- देश के भौतिक साधनों के स्वामित्व और नियंत्रण का ऐसा वितरण किया जाए जिससे अधिक से अधिक सार्वजनिक हित हो सकें।
- सम्पत्ति और उत्पादन के साधनों का केन्द्रीकरण न हो।
- स्त्री–पुरूष दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन मिले।
- स्त्री–पुरूष के स्वास्थ्य का उचित प्रबन्ध हो और बालश्रम निषेध
- बच्चों को स्वस्थ रूप से विकास के लिए अवसर और सुविधाएं प्रदान की जा सकें।

8.6.1.2 योग्यता अनुसार रोजगार और सार्वजनिक सहायता (अनुच्छेद 41)–इसमें यह कहा गया है कि राज्य अपने विकास और आर्थिक सामर्थ्य की सीमाओं के अन्तर्गत इस बात का प्रयास करेगा कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता अनुसार रोजगार पाए, शिक्षा प्राप्त कर सकें एवं वृद्धावस्था, बेकारी, बीमार तथा अंगहीन होने पर सार्वजनिक सहायता पा सके।

8.6.1.3 काम का प्रबन्ध (अनुच्छेद 42)–इसके अनुसार राज्य काम के लिए न्यायोचित और मानवोचित दशाओं का प्रबन्ध करेगा तथा ऐसी व्यवस्था करेगा कि स्त्रियों को प्रसूतावस्था में कार्य न करना पड़े।

8.6.1.4 श्रम कल्याण (अनुच्छेद 43)–इसके अनुसार राज्य कानून द्वारा या अन्य किसी प्रकार से ऐसी व्यवस्था करेगा, जिससे कृषि, उद्योगों अथवा अन्य क्षेत्र में लगे हुए सभी श्रमिकों को अपने जीवन–निर्वाह के लिए न्यायोचित वेतन मिले, उनका जीवन स्तर ऊँचा उठ सके, वे अपने अवकाश के अवसर का पूरा उपयोग कर सके तथा उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति के सुअवसर प्राप्त हो सकें।

8.6.1.5 कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन–42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा आर्थिक सुरक्षा संबंधी निदेशक तत्वों में दो तत्व और जोड़े गये हैं, जो इस प्रकार हैं :–

8.6.1.6 निःशुल्क कानूनी सहायता (अनुच्छेद 39 ए)

8.6.1.7 औद्योगिक संस्थाओं अथवा अन्य ऐसे ही संगठनों के प्रबन्ध में श्रमिकों की भागीदारी बनाने के कदम उठायेगा। (अनुच्छेद 43 ए)

8.6.1.8 कृषि एवं पशुपालन क्षेत्र में सुधार (अनुच्छेद 48) राज्य कृषि और पशुपालन का आधुनिक तथा वैज्ञानिक ढंग से संचालन करने तथा पशुओं की नस्ल सुधारने एवं वध रोकने का प्रयत्न करेगा।

8.6.2 सामाजिक हित और शिक्षा सम्बन्धी निदेशक तत्व

लोगों को सामाजिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से ऊँचा उठाने के लिए संविधान में प्रबन्ध किये गये हैं, जो इस प्रकार है :–

8.6.2.1 समान नागरिक आचार संहिता बनाने का प्रयास (अनुच्छेद 44)

8.6.2.2 निःशुल्क व अनिवार्य शिक्षा (अनुच्छेद 45):– राज्य 14 वर्ष तक की आयु के सभी बच्चों के लिए निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था करेगा।

8.6.2.3 दलित उन्नति (अनुच्छेद 46):– राज्य समाज के पिछड़े हुए वर्ग विशेषकर अनुसूचित जाति व जनजाति की शिक्षा तथा आर्थिक हितों की उन्नति के लिए विशेष प्रयत्न करेगा और अन्याय तथा शोषण से उन्हें मुक्ति दिलायेगा।

8.6.2.4 जीवन स्तर ऊँचा उठाना (अनुच्छेद 47):– राज्य का यह कर्तव्य बनता है कि वह लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य के विकास के लिए प्रयत्न करें तथा राज्य मादक द्रव्यों व पदार्थों के सेवन पर रोक लगायेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

8.6.2.5 पर्यावरण संरक्षण (अनुच्छेद 48 ए):– 42वें संवैधानिक संशोधन में एक नया तत्व पर्यावरण संरक्षण का भी जोड़ा गया है, जिसके अनुसार राज्य वन एवं वन्य जीवों की सुरक्षा करेगा।

8.6.3 पंचायती राज, प्राचीन स्मारकों तथा न्याय संबंधी

8.6.3.1 लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण (अनुच्छेद 40):– राज्य ग्राम पंचायतों के गठन हेतु प्रयास करेगा और उनको ऐसी शक्तियां तथा अधिकार देगा कि वे स्वायत्त शासन इकाइयों के रूप में कार्य कर सके।

8.6.3.2 प्राचीन स्मारकों का संरक्षण (अनुच्छेद 49):– राज्य का दायित्व होगा कि वह प्रत्येक स्मारक, कलात्मक स्थान, ऐतिहासिक महत्व की वस्तुओं की जिन्हें संसद ने राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर दिया है, रक्षा करें। उन्हें नष्ट होने, कुरूप होने, निर्यात होने से बचायें।

8.6.3.3 न्यायपालिका की स्वतन्त्रता (अनुच्छेद 50):– राज्य न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करने का प्रयत्न करेगा। इसका उद्देश्य न्यायपालिका की स्वतंत्रता को सुरक्षित करना है।

8.6.4 अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा संबंधी सिद्धान्त

अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की दृष्टि से संविधान के अनुच्छेद 51 में जिन निदेशक तत्वों को अपनाया गया है वे इस प्रकार है :–

8.6.4.1 राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की वृद्धि के लिए प्रयत्न करेगा।

8.6.4.2 राज्य संसार के विभिन्न देशों में बीच न्यायपूर्ण एवं सम्मानपूर्ण संबंध बनाने का प्रयत्न करेगा।

8.6.4.3 राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों और संधियों के प्रति आदर भाव बढ़ायेगा।

8.6.4.4 राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा सुलझाने का प्रयास करेगा।

8.7 नीति निदेशक तत्वों की आलोचनाएँ

जिस समय संविधान सभा में नीति निदेशक तत्वों को शामिल करने को लेकर वाद–विवाद चल रहा था उस समय भी इसकी व्यापक आलोचना की गई। इसके बाद भी आलोचनाएं हो रही है। जो इस प्रकार है :–

8.7.1 वैधानिक शक्ति का अभाव–आलोचकों का मत हैं कि राज्यों के नीति निदेशक तत्वों का लागू करने के लिये कोई कानूनी बाध्यता नहीं है। और न ही राज्य इस बात के लिये बाध्य है कि उसको इनका पालन करना ही पड़ेगा अर्थात् राज्य द्वारा पालन न करने की स्थिति में न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती। प्रो0 के.टी.शाह के शब्दों में यह एक ऐसा चैक है जिसका भुगतान बैंक की इच्छा पर छोड़ दिया गया है।[5]

विशेष – समान नागरिक आचार संहिता लागू करने वाला नीति निदेशक तत्व (अनुच्छेद 44) के बारे में सर्वोच्च न्यायालय ने आठ बार अपनी राय जाहिर कर चुका हैं। परन्तु 53 वर्ष बीत जाने के बावजूद आज तक लागू नहीं हुई है।

8.7.2 अस्पष्ट और अतार्किक रूप से संग्रहित–इन तत्वों के आलोचकों की राय है कि एक ओर इन तत्वों में प्राचीन स्मारकों की रक्षा की बात की गयी है जो महत्वहीन है वहीं दुसरी ओर सामाजिक और आर्थिक न्याय की स्थापना पर बल दिया गया है। यह आपस में कदापि मेल नहीं खाते। प्रो. श्रीनिवासन के शब्दों में इस अध्याय में कुछ बेढंगे तरीके से आधुनिक को पुरातन के साथ और तर्क तथा विज्ञान द्वारा सुझाये गये उपबंधों को विशुद्ध रूप से भावुकता पूर्वाग्रह पर आधारित उपबंधों के साथ मिला दिया गया है।[6]

8.7.3 संप्रभुता सम्पन्न राज्यों के लिये अस्वाभाविक–एक सम्प्रभुता सम्पन्न राज्य में इस प्रकार के सिद्धान्तों को ग्रहण करना अस्वाभाविक ही लगता है। राज्य तो अपने आप में सर्वोच्च है जिसे कोई निर्देश नहीं दे सकता।

8.7.4 अव्यावहारिक एवं अनुचित–आलोचकों का कहना है कि नीति निदेशक तत्वों के प्रावधानों का व्यावहारिकता से कोई वास्ता नहीं है। उदाहरण के लिये इन तत्वों में मद्य निषेध की बात कहीं गयी है वहीं स्वयं राज्य द्वारा मद्य का प्रचार एवं निर्माण करवाया जाता है और राजकोष में धन जुटाया जाता है। डॉ.जैनिंग्ज के शब्दों में ष्आने वाली सदी में यह तत्व निःसन्देह निरर्थक हो जायेंगे।[6]

8.7.5 संवैधानिक द्वन्द्व के कारण–विधिवेताओं ने यह आशंका व्यक्त की है कि यह तत्व भारतीय शासन में द्वन्द्व और गतिरोध के कारण बन सकते हैं। संविधान सभा में के.एस.सन्थानम ने कहा था कि यह तत्व राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री अथवा राज्यपाल तथा मुख्यमन्त्री के बीच मतभेद उत्पन्न कर सकते है।

8.8 सारांश

यद्यपि राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों की व्यापक आलोचना की जाती रही है परन्तु इसके महत्व को नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता। लोक कल्याणकारी राज्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

तथा समाज में न्याय की अवधारणा की स्थापना की प्रथम सीढ़ी यही सिद्धान्त हैं। इनके पीछे कानूनी शक्ति न होने के बावजूद सरकारों ने इन्हें स्वीकार कर नीति का निर्धारण करने का सफल प्रयास किया है। पंचवर्षीय योजनाओं को लागू करके कृषि, उद्योग की उन्नति, शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं आदि का विस्तार हुआ हैं तथा लोगों के जीवन स्तर को ऊँचा उठाने में सफलता मिली हैं। इसके अतिरिक्त राज्य द्वारा संचालित अनेक विकास योजनाओं पर नीति निदेशक सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता हैं।

8.9 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्य के नीति निदेशक तत्वों पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये
2. श्लोक कल्याणकारी राज्य तथा सामाजिक न्याय की प्रथम सीढ़ी नीति निदेशक तत्व ही हैं। सिद्ध कीजिये
3. मौलिक अधिकार एवं नीति निदेशक तत्वों की तुलनात्मक व्याख्या करते हुए निदेशक तत्वों के महत्व पर प्रकाश डालिये ।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. नीति निदेशक तत्वों का उद्देश्य क्या है ?
2. आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी नीति निदेशक तत्व बताओ ?
3. नीति निदेशक तत्त्व अंतर्राष्ट्रीय शांति को बढ़ावा देने में कैसे सहायक है ?
4. 42 वें संविधान संशोधन द्वारा कौनसे नये निदेशक तत्व जोडे गये?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. नीति निदेशक तत्वों का उल्लेख संविधान का किस भाग व अनुच्छेद में है ?
2. लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण की बात किस अनुच्छेद में की गयी है ?
3. भारतीय विदेश नीति सम्बन्धी निदेशक किस अनुच्छेद में है ?
4. नीति निदेशक सिद्धान्तों का प्रमुख उद्देश्य क्या है ?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

के सदानन्द हेंगड़े, भारतीय संविधान के राज्य के नीति निदेशक तत्व

जे.सी. जौहरी, भारतीय शासन एवं राजनीति, विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

म.पी. रॉय , भारतीय संविधान, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।

डी.डी. बसु, भारत का संविधान वाधवा प्रकाशन, मेरठ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–3 : भारतीय संघीय व्यवस्था का स्वरूप

इकाई–9 : भारतीय संघीय व्यवस्था का स्वरूप

संरचना

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 भारतीय संघ का स्वरूप – विवादास्पद विषय

9.3 भारतीय संविधान में संघात्मकता के लक्षण

- 9.3.1 संविधान की सर्वोच्चता
- 9.3.2 शक्तियों का विभाजन
- 9.3.3 स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय
- 9.3.4 उच्च सदन राज्यों का सदन
- 9.3.5 संविधान संशोधन प्रक्रिया

9.4 भारतीय संविधान में एकात्मकता के लक्षण

- 9.4.1 इकहरी नागरिकता
- 9.4.2 शक्तियों का बंटवारा केन्द्र के पक्ष में
- 9.4.3 एकल संविधान
- 9.4.4 केन्द्र सरकार को राज्यों की सीमा परिवर्तित करने का अधिकार
- 9.4.5 एकीकृत न्याय व्यवस्था
- 9.4.6 राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियां
- 9.4.7 राज्यपाल का पद
- 9.4.8 आर्थिक दृष्टि से राज्यों की कमजोर स्थिति
- 9.4.9 राज्यसभा में राज्यों का असमान प्रतिनिधित्व
- 9.4.10 राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए
- 9.4.11 लचीला संविधान
- 9.4.12 केन्द्र द्वारा राज्यों के मतभेदों का निवारण
- 9.4.13 न्यायिक पुनरावलोकन की सीमित शक्ति
- 9.4.14 केन्द्र द्वारा राज्यों में हस्तक्षेप
- 9.4.15 महत्वपूर्ण विषयों की एकीकृत व्यवस्था

9.5 भारत में संघवाद के प्रतिमान

- 9.5.1 सहकारी संघवाद का प्रतिमान
- 9.5.2 सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्था का प्रतिमान
- 9.5.3 एकात्मक संघवाद का प्रतिमान

9.6 सारांश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

9.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत भारतीय संघीय शासन व्यवस्था के स्वरूप का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप–

- संघीय शासन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि समझ सकेंगे,
- संघात्मक एवं एकात्मक के लक्षणों की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- संघवाद के बदलते प्रतिमान को समझ सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

विश्व के संविधानों का स्वरूप मुख्यतया दो प्रकार का पाया जाता है। प्रथम एकात्मक, जिसमें शक्तियों का केन्द्रीकरण होता है तथा इकाईयों की स्थिति पूर्णतया केन्द्र की इच्छा पर निर्भर करती है। जिसका सर्वोच्च उदाहरण ब्रिटेन का संविधान है। द्वितीय संघात्मक, जिसमें शक्तियों का स्पष्ट विभाजन केन्द्र और राज्य (इकाईयों) के बीच होता है और दोनों में से कोई भी एक दूसरे के विषय क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करते हैं जैसे संयुक्त राज्य अमरीका का संविधान।

भारतीय संविधान निर्माताओं के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि संविधान का स्वरूप एकात्मक हो या संघात्मक। लेकिन अन्ततः गहन विचार विमर्श के बाद बीच का रास्ता अपनाया। इसीलिए भारतीय संविधान में संघात्मक और एकात्मक दोनों के तत्व विद्यमान है। इस कारण यह कहा जाता है कि भारतीय संविधान का शरीर संघात्मक लेकिन आत्मा एकात्मक है। यद्यपि भारतीय संविधान निर्माताओं की मंशा संघात्मक व्यवस्था की स्थापना की थी लेकिन संविधान में संघ शब्द का उपयोग नहीं किया गया जबकि इसके स्थान पर अनुच्छेद 1 भारत को श्राज्यों का संघश घोषित करता है। इस शब्द पर स्पष्टीकरण देते हुए डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था प्रारूप समिति द्वारा इस शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करने के लिए किया गया है कि यद्यपि भारत एक संघ राज्य है लेकिन यह संघ राज्य किसी प्रकार से राज्यों (इकाईयों) के पारस्परिक समझौते का परिणाम न होने के कारण किसी भी राज्य को संघ से पृथक होने का अधिकार नहीं है।

संविधान निर्माताओं द्वारा मध्यम मार्ग का कदम उठाने के पीछे उस समय की राजनीतिक परिस्थितियां काफी हद तक उत्तरदायी थी। यदि संविधान को पूर्ण एकात्मक बना दिया जाता तो भारत संघ में शामिल 562 देशी रियासतों तथा शेष प्रान्तों में अधिकारों के लिए असन्तोष बढ़ सकता था और यदि पूर्ण संघात्मक बना दिया जाता तो यह देशी रियासतों व प्रान्त भारत की एकता अखण्डता के लिए खतरा बन सकती थी। अतः दोनों परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह व्यवस्था की गयी।

व्यावहारिक अर्थों में देखा जाए तो संघवाद का स्वरूप केन्द्र में बनने वाली सरकार की स्थिति पर निर्भर करता है। यदि केन्द्र में एक दल की सरकार होगी तो उसी दल की अधिकांश राज्यों में सरकार होगी इससे संघवाद की धारणा कमजोर होगी तथा एकात्मक की धारणा मजबूत। जैसे प्रारम्भिक 40 वर्षों में देखा गया और यदि केन्द्र में मिली जुली (गठबन्धन) सरकार होगी तो संघवाद को बल मिलेगा। जैसे वर्तमान में क्योंकि केन्द्र सरकार के 24 घटक दल है जो या तो विभिन्न राज्यों में सत्तारूढ़ है या फिर प्रमुख विपक्ष में है, जो केन्द्र सरकार को ऐसा कदम नहीं उठाने देते जिससे उनकी शक्ति में कमी आये और संघवाद पर प्रतिकूल असर पड़े।

9.2 भारतीय संघ का स्वरूप – विवादास्पद विषय

भारतीय संविधान का स्वरूप संघात्मक है या एकात्मक यह संविधानशास्त्रियों में विवाद का विषय बना हुआ है।

के. सी. व्हीयर के अनुसार भारत मुख्यतः एकात्मक राज्य है जिसमें संघीय विशेषताएं नाम मात्र की है। भारतीय संविधान संघीय कम और एकात्मक अधिक है।

डी.एन. बनर्जी का विचार है कि भारतीय संविधान का ढांचा संघीय है, किन्तु उसका झुकाव एकात्मकता की ओर है।

डी.डी. बसु का मत है कि भारतीय संविधान न तो पूर्णतया एकात्मक और न ही पूर्ण रूप से संघात्मक बल्कि दोनों का सम्मिश्रण है।

जी.एन. जोशी का कहना है कि भारत संघ राज्य नहीं है, अपितु अर्द्ध संघ है और उसमें कतिपय एकात्मकता के भी लक्षण है।

प्रो. एलेक्जेन्ड्रोविच के अनुसार भारत एक सच्चा संघ है तथापि अन्य संघों की भांति इसकी अपनी कुछ निराली विशेषताएँ हैं, भारत को अर्द्ध संघात्मक कहना मिथ्या है।

पायली के मतानुसार भारत के संविधान का ढांचा संघात्मक किन्तु उसकी आत्मा एकात्मक है।

9.3 भारतीय संविधान में संघात्मक के लक्षण

संघवाद वह तन्त्र है, जिसमें सारी शक्तियों का विभाजन केन्द्र व राज्यों के बीच स्पष्ट रूप से कर दिया जाता है और दोनों अपने अपने विषय क्षेत्र में कानून बनाने के लिए स्वतन्त्र होते हैं।

फाइनर के शब्दों में यह एक ऐसा शासन है जिसमें सत्ता और शक्ति का एक भाग स्थानीय क्षेत्रों में निहित होता है और दूसरा भाग केन्द्रीय संस्था में।

डायसी के अनुसार संघीय राज्य एक ऐसी राजनीतिक रचना है, जिसमें राष्ट्रीय एकता और शक्ति तथा प्रदेशों के अधिकारों की रक्षा करते हुए दोनों सामन्जस्य स्थापित किया जाता है।

के.सी. व्हीयर के अनुसार संघीय सिद्धान्त से मेरा तात्पर्य शक्ति के विभाजन के तरीके से है जिसमें सामान्य (संघीय) एवं क्षेत्राधिकारी (राज्यों) सरकारें अपने क्षेत्र में समान एवं पृथक होती है।

यद्यपि भारतीय संविधान में संघ शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है परन्तु उपर्युक्त परिभाषाओं के सन्दर्भ में यह एक संघ राज्य है क्योंकि संविधान में संघीय व्यवस्था के लक्षण विद्यमान है जो निम्नलिखित है–

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

9.3.1 संविधान की सर्वोच्चता–लिखित संविधान संघवाद की प्रथम एवं प्रमुख शर्त है क्योंकि लिखित संविधान में सरकारों के संगठन वैधानिक स्थिति, केन्द्र–राज्यों के क्षेत्राधिकार तथा अन्य महत्वपूर्ण प्रावधानों को लिखित रूप दे दिया जाता है ताकि भविष्य में किसी प्रकार का मतभेद होने पर संविधान की व्यवस्था के अनुसार निर्णय लिया जा सके। भारत मे ससद की सर्वोच्चता के सिद्धान्त के स्थान पर सविधान की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का अनुसरण किया गया है और कोई भी सरकार या सस्था इन प्रावधानो का उल्लंघन नहीं कर सकती। इस तरह संविधान में लिखित कानून सर्वोच्च है उनके ऊपर कोई नहीं है।

9.3.2 शक्तियों का विभाजन–अन्य संघीय व्यवस्था वाले संविधानों की भांति केन्द्र एवं राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन किया गया है। शक्ति विभाजन करने के लिए तीन प्रकार की सूचियां बनायी गयी है –

1. संघ सूची – इसमें 97 विषय रखे गये हैं इन पर कानून बनाने का अधिकार केन्द्र (संसद) को है। इसमें अत्यधिक महत्वपूर्ण विषय जैसे विदेश, प्रतिरक्षा, सेना, मुद्रा, संचार, रेल, डाक तार, विदेशी विनिमय, विदेशी ऋण, सीमा शुल्क आदि।

2. राज्य सूची – राज्य सूची में 66 विषय रखे गये हैं जिन पर कानून बनाने का अधिकार राज्य विधानमण्डल को है। इस सूची में पुलिस, वन, प्रेस, चिकित्सा, स्वास्थ्य, स्थानीय निकाय, न्याय, जेल आदि।

3. समवर्ती सूची – इस सूची में 47 विषय रखे गये है। इन विषयों पर केन्द्र तथा राज्य दोनों को कानून बनाने का अधिकार है, लेकिन यदि राज्य के साथ–साथ केन्द्र ने भी इस सूची से सम्बन्धित विषय पर कानून बना लिया तो केन्द्र का कानून मान्य होगा न कि राज्य का। इस सूची में फौजदारी विधि और प्रक्रिया, निवारक निरोध, विवाह और विवाह विच्छेद, कारखाने, श्रमिक संघ, औद्योगिक विवाद, सामाजिक सुरक्षा आदि। 42वें संवैधानिक संशोधन द्वारा राज्य सूची के चार विषय समवर्ती सूची में जोड़े गये और एक नया विषय जनसंख्या नियन्त्रण और परिवार नियोजन शामिल किया गया।

कनाड़ा संविधान की भांति अवशिष्ट शक्तियां केन्द्र को प्रदान कर दी गई है। इसके अलावा संविधान में ऐसे प्रावधान हैं, जिनका प्रयोग करके केन्द्र राज्य सूची के किसी भी विषय पर कानून बना सकती है।

9.3.3 स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय–भारतीय संविधान के अनुसार संविधान के संरक्षण का दायित्व न्यायपालिका का है। इसीलि एक सर्वोच्च न्यायालय तथा राज्य में उच्च न्यायालय की व्यवस्था कर उन्हें शक्ति सम्पन्न बनाया गया है। जिन्हें न्यायिक पुनर्विलोकन की शक्ति प्राप्त है जिसके द्वारा न्यायपालिका कार्यपालिका के किसी भी आदेश तथा व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित किसी भी कानून को संविधान के विरूद्ध होने पर अवैध घोषित कर सकती है।

9.3.4 उच्च सदन राज्यों का सदन–भारतीय संसद का उच्च सदन अर्थात् राज्यसभा राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन है। जिसमें सभी राज्यों से प्रतिनिधि चुनकर आते है तथा राज्यों के बारे में महत्वपूर्ण फैसला लेने का अधिकार भी राज्यसभा को है। इसके अलावा राज्यसभा केन्द्र में राज्यों के हितों का पर्याप्त संरक्षण भी करती है।

9.3.5 संविधान संशोधन प्रक्रिया–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 में उल्लिखित संविधान संशोधन प्रक्रिया के अनुसार संविधान के कुछ भाग में संशोधन करने के लिए जटिल प्रक्रिया अपनायी गयी है। जिसके तहत संशोधन करने के लिए संसद के दोनों सदनों की स्वीकृति के साथ–साथ आधे राज्यों के विधानमण्डलों की भी स्वीकृति लेना अनिवार्य होता है। अन्यथा संवैधानिक संशोधन पूर्ण नहीं हो सकता।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत का संविधान एक पूर्ण संघात्मक प्रणाली की स्थापना करता है।

9.4 भारतीय संविधान में एकात्मकता के लक्षण

संविधान सभा के अनेक सदस्यों का यह मत था कि संविधान में संघात्मक सिद्धान्त की दिन दहाड़े हत्या की गई है।

पी.एस. देशमुख का मत था कि जो संविधान बना है वह संघात्मक की अपेक्षा एकात्मक अधिक है।

बी.एम. गुप्ता का मत था कि नये संविधान के अन्तर्गत भारत संघात्मक राज्य न होकर विकेन्द्रीकृत राज्य होगा।

भारतीय संविधान निर्माता इस पीड़ा से ग्रस्त थे कि यदि केन्द्र को कमजोर बन दिया गया तो राष्ट्रीय एकता–अखण्डता खतरे में पड़ जाएगी। अतः केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाने पर अधिक जोर दिया। बेन्जामीन स्कूरफील्ड ने लिखा है कि भारतीय संघ जिस समस्या से ग्रसित है, वह है आर्थिक और राजनीतिक समस्याएं तथा प्रादेशिकता की संकीर्ण भावनाएं जिनके समाधान के लिए केन्द्रीय सरकार के पास समुचित शक्तियां होना अपरिहार्य है। भारतीय संविधान में निम्नलिखित एकात्मक तत्व है–

9.4.1 इकहरी नागरिकता–प्रायः संघात्मक व्यवस्था में दोहरी नागरिकता पायी जाती है, जैसा कि अमरीका में प्रथम नागरिकता संघ (केन्द्र) की तथा द्वितीय राज्य की। लेकिन भारत में नागरिकता का संबंध संघ से ही है, अर्थात् भारतीयों को केवल भारत की नागरिकता प्राप्त है न कि राज्य की जिसमें वे निवास करते हैं।

9.4.2 शक्तियों का बंटवारा केन्द्र के पक्ष में–हमारे संविधान द्वारा शक्तियों का स्पष्ट बंटवारा केन्द्र और राज्यों के बीच है लेकिन वास्तविक सच्चाई यह है कि यह बंटवारा केन्द्र के पक्ष में है क्योंकि न केवल केन्द्र को अधिक विषय दिये गये हैं, अपितु केन्द्र को राज्य सूची के विषयों में भी हस्तक्षेप करने की पूरी शक्ति दी गई है। जैसे अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्य सभा द्वारा राज्य सूची के किसी भी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित किये जाने पर, अनुच्छेद 250 संकट काल की स्थिति में, अनुच्छेद 252 दो या

Jan Vishta Bharati Institute (Deemed University), Dehradun

दो से अधिक राज्यों द्वारा केन्द्र को निवेदन करने पर राज्य सूची के किसी भी विषय पर केन्द्र कानून बना सकता है। इसके अलावा अवशिष्ट शक्तियां जो राज्यों को देनी चाहिए थी वे केन्द्र को प्रदान की गई है।

9.4.3 एकल संविधान–प्रायः संघात्मक व्यवस्था वाले राज्यों में संघ के साथ–साथ राज्यों का अपना पृथक संविधान होता है लेकिन भारत में ऐसा नहीं है। सम्पूर्ण भारत का एक संविधान है, जिसमें ही राज्यों से संबंधित प्रावधान सम्मिलित है।

9.4.4 केन्द्र सरकार को राज्यों की सीमा परिवर्तन करने का अधिकार–संघात्मक व्यवस्था वाले देशों में केन्द्र राज्यों (इकाईयों) की सहमति के बिना उनकी सीमाओं में परिवर्तन नहीं कर सकता, लेकिन भारतीय संविधान के अनुच्छेद 3 के अनुसर केन्द्र (संसद) किसी भी राज्य की सीमा में परिवर्तन, राज्य का विभाजन कर नये राज्य का निर्माण या किसी राज्य की सीमा में कमी या वृद्धि कर सकती है, चाहे राज्य इसका विरोध भी क्यों न करें।

विशेष :– 1999 में संवैधानिक संशोधन करके बिहार के एक भाग को अलग कर नया झारखण्ड नामक राज्य बनाया गया तो वहां के विधानमण्डल ने असहमति व्यक्त की, लेकिन इसे नजरअन्दाज करते हुए नया राज्य बना।

9.4.5 एकीकृत न्याय व्यवस्था–संघात्मक व्यवस्था में संघ तथा राज्यों के कानूनों को लागू करने के लिए दोहरी न्याय व्यवस्था का होना जरूरी है जैसे संयुक्त राज्य अमरीका में पायी जाती हैं। लेकिन भारत में एकीकृत न्याय व्यवस्था है जिसमें न्यायालयों का संगठन पिरामिड के रूप में होता है। जैसे

(सर्वोच्च न्यायालय)
****

(उच्च न्यायालय)
****

(जिला सत्र न्यायालय)

9.4.6 राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 352, 356 तथा 360 राष्ट्रपति को आपातकालीन शक्तियां प्रदान करते है। अनुच्छेद 352 के अनुसार बाहरी आक्रमण तथा आन्तरिक अशान्ति, शस्त्र विद्रोह की स्थिति में राष्ट्रपति यदि संकटकाल की घोषणा कर देता है तो संसद को राज्यसूची पर कानून बनाने तथा राज्यों पर प्रशासनिक नियन्त्रण का अधिकार मिल जाता है। अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति को राज्यपाल की रिपोर्ट या किसी अन्य स्रोत से यह आभास हो जाए कि राज्य का संवैधानिक तन्त्र विफल हो गया है तो केन्द्रीय मंत्रिपरिषद की सिफारिश के आधार पर राज्य विधानसभा और मंत्रिमण्डल को भंग कर आपातकाल की घोषणा कर देता है और राज्यपाल केन्द्र के एजेन्ट के रूप में कार्य करता है। ऐसा कहा जाता है कि संविधान का यह प्रावधान सबसे ज्यादा राज्यों को कमजोर तथा केन्द्र को शक्तिशाली बनाता है। क्योंकि केन्द्र सरकारें इस अनुच्छेद का प्रयोग राजनीतिक दुर्भावना के साथ करती है और ऐसे राज्य की स्वायत्तता को गहरा आघात लगता है। अनुच्छेद 360 के अनुसार राष्ट्रपति वित्तीय संकट की घोषणा करता है। इस स्थिति में राष्ट्रपति राज्यों के वित्त विधेयक अपने पास मंगवा सकता है।

9.4.7 राज्यपाल का पद–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 153 में राज्यपाल पद का प्रावधान किया गया है, जिसके अनुसार राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा वह राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पद पर बना रहेगा। राज्यपाल राज्य में केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है तथा अनेक बार केन्द्र सरकार राज्यपाल पद को ढाल के रूप में इस्तेमाल कर राज्य सरकारों को बर्खास्त करवाने का षडयन्त्र रचती है। इसके अलावा राज्यपाल पद पर वही व्यक्ति नियुक्त होते हैं जो केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के सदस्य या निकटवर्ती होते है। इस प्रकार राज्यपाल की नियुक्ति तथा पद स्थिति संघात्मक सिद्धान्त के प्रतिकूल है। जैसे 14 मई, 2003 को राजस्थान में नियुक्त राज्यपाल श्री निर्मलचन्द जैन भाजपा एवं संघ से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े हुए है इसी के चलते उनकी नियुक्ति की गई है क्योंकि केन्द्र में भाजपा एवं उसके सहयोगियों की सरकार हैं।

9.4.8 आर्थिक दृष्टि से राज्यों की कमजोर स्थिति–संविधान द्वारा राज्यों को वित्तीय दृष्टि से केन्द्र सरकार पर निर्भर बना दिया है। केन्द्र सरकार के द्वारा ही राज्यों को समय–समय पर ऋण, अनुदान तथा अन्य वित्तीय सहायता उपलब्ध करवायी जाती है। इसके कारण केन्द्र राज्यों पर छाया रहता है और आर्थिक सहायता न देने का दबाव डालकर अपनी मनचाही नीति मनवा लेता है।

9.4.9 राज्यसभा में राज्यों का असमान प्रतिनिधित्व–भारतीय संसद का उच्च सदन राज्य सभा राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन है, जो संघात्मक के अनुकूल है लेकिन संघात्मक व्यवस्था में उच्च सदनों में सभी राज्यों को बराबर–बराबर प्रतिनिधि चुनकर भेजने का अधिकार होता है जैसे अमरीकी सीनेट में सभी राज्य 2–2 सदस्य चुनकर भेजते हैं, परन्तु भारत में राज्य सभा में प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर होने के कारण राज्यों का असमान प्रतिनिधित्व है।

9.4.10 राज्य विधानमण्डलों द्वारा पारित विधेयक राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 201 के अनुसार राज्यपालों को यह अधिकार है कि राज्य विधानमण्डलों द्वारा पारित कुछ विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए भेज सकता है। यह व्यवस्था भी संघवाद के प्रतिकूल है।

9.4.11 लचीला संविधान–लचीला या कठोर किसी संविधान की संशोधन प्रणाली की ओर इंगित करता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान के अधिकांश भाग में संशोधन संसद अपने साधारण बहुमत से कर सकती है। इसीलिए भारतीय संविधान में पिछले 53 वर्षों में अब तक 89 संवैधानिक संशोधन हो चुके हैं। इसके विपरीत संघात्मक व्यवस्था में संविधान कठोर होता है जिसमें आसानी से केन्द्र संशोधन नहीं कर सकती क्योंकि केन्द्रीय व्यवस्थापिका के साथ–साथ राज्य विधानमण्डल की स्वीकृति आवश्यक होती है। इसी के चलते 214 वर्ष पुराने अमेरिकी संविधान में अब तक केवल 27 संशोधन ही हुए हैं ।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

9.4.12 केन्द्र द्वारा राज्यों के मतभेदों का निवारण–यदि संघ तथा राज्यों के बीच या दो या दो से अधिक राज्यों के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो जाए तो उसका निपटारा केन्द्र ही करता है। इसके लिए केन्द्र आयोग प्राधिकरण आदि का गठन कर शीघ्र समाधान का प्रयास करती है।

विशेष : कर्नाटक व तमिलनाडु के बीच चल रहे कावेरी नदी जल बंटवारे का विवाद समाप्त करने के लिए केन्द्र सरकार ने एक प्राधिकरण का गठन किया है।

9.4.13 न्यायिक पुनरावलोकन की सीमित शक्ति–यद्यपि भारतीय संविधान सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्रदान करता है, जिसके माध्यम से सर्वोच्च न्यायालय संविधान के विरूद्ध होने पर कार्यपालिका के किसी आदेश तथा व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित किसी कानून को अवैध घोषित कर सकती है। परन्तु आलोचकों का कहना है कि भारतीय न्यायपालिका को यह शक्ति अमरीका की तुलना में सीमित प्रदान की गयी है।

9.4.14 केन्द्र द्वारा राज्यों में हस्तक्षेप–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 355 के अनुसार राष्ट्रपति (केन्द्र) चाहे तो आवश्यकता पड़ने पर हस्तक्षेप कर सकता है, परन्तु इस हस्तक्षेप के नाम पर दुरूपयोग अधिक हो रहा है, क्योंकि केन्द्र सरकारें अपने विरोधियों की राज्य सरकारों को प्रताड़ित करने के लिए उनके आन्तरिक मामलों में अनुचित हस्तक्षेप करती है।

9.4.15 महत्वपूर्ण विषयों की एकीकृत व्यवस्था–अधिकांश संघ राज्यों में दोहरा कानून, दोहरी न्याय व्यवस्था, दोहरी उच्च लोक सेवाएं, दोहरा लेखा परीक्षण इत्यादि व्यवस्थाएं होती है किन्तु भारतीय संविधान द्वारा उन समस्त महत्वपूर्ण विषयों के संबंध में जो राष्ट्र की एकता बनाये रखने के लिए, इन सभी में एकरूपता लायी गयी है। अखिल भारतीय प्रशासन एवं पुलिस सेवा की व्यवस्था की गई है। इन सेवाओं के सदस्यों की नियुक्ति राज्यों के प्रमुख प्रशासनिक पदों पर की जाती है। इसके अतिरिक्त राज्यसभा को अनुच्छेद 312 के अनुसार नवीन अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवा शुरू करने का अधिकार प्राप्त है। निर्वाचन आयोग की नियुक्ति भारत का राष्ट्रपति करता है। इसके द्वारा संसद के साथ–साथ राज्य विधानमण्डल के चुनाव सम्पन्न करवाये जाते है।

9.5 भारत में सघवाद के प्रतिमान

संघवाद के तीन प्रतिमान (मॉडल्स) दिखाई देते है – 9. सहकारी संघवाद का प्रतेमान, 2. सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्था का प्रतिमान, 3. एकात्मक संघवाद के प्रतिमान यदि इन प्रतिमानों को मध्यनजर रखते हुए भारतीय संघ व्यवस्था का विश्लेषण किया जाए तो तर्कसंगत होगा।

9.5.1 सहकारी संघवाद का प्रतिमान–संघात्मक शासन व्यवस्था में शासन शक्तियों के विभाजन से दो स्वतन्त्र सरकारों के स्तरों की स्थापना ही नहीं की जाती वरन दो प्रकार की सरकारों व शासन व्यवस्था में सहयोग की भी व्यवस्था की जाती है, यह सहयोग आवश्यक भी है क्योंकि दोनों सरकारें एक ही राजनीतिक व्यवस्था से संबद्ध होती है जिनका अन्ततः एक समान ही लक्ष्य होता है। दुनिया के प्रमुख संघीय देशों में ऐसे सहयोग की संस्थाएं विद्यमान है जो संघवाद को सहकारी संघवाद की ओर ले जाती है। इसी आधार पर देखा जाए तो भारत में भी सहयोग की अनेक संस्थाएं है। जिससे उचित राजनीतिक वातावरण की स्थापना हो और सम्पूर्ण संघीय राजनीतिक व्यवस्थाओं के पोषण के लिए प्राणवायु प्राप्त होती रही है। भारत में वित्त आयोग, अन्तर्राज्यीय परिषद् क्षेत्रीय परिषदें, योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद, मुख्यमंत्रियों व अन्य मंत्रियों का सम्मेलन आदि ऐसे माध्यम हैं, जो सहयोग की ठोसता के प्रतीक है। ग्रेनविल ऑस्टिन ने इन्हीं व्यवस्थाओं के आधार पर भारतीय संघ को सहकारी संघवाद के नाम से सम्बोधित किया है।

9.5.2 सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्था का प्रतिमान–जब संघीय व्यवस्था वाले राज्यों में क्षेत्रीय दलों की भूमिका बढ़ने लगती है। केन्द्र में एक दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने की स्थिति में यह क्षेत्रीय दल केन्द्र सरकार को समर्थन देते है। यह क्षेत्रीय दल जो केन्द्र सरकार के घटक दल है वे अपने अपने प्रान्तों में या तो सत्तारूढ़ हैं या फिर प्रमुख विपक्ष के रूप में है। जो केन्द्र को समर्थन देने के बदले व्यापक सौदेबाजी करते है और अपनी मांगे मनवाने के लिए केन्द्र पर दबाव डालते है और समर्थन वापसी की धमकी देते हैं। तब केन्द्र सरकार को झुकना पड़ता है और सौदेबाजी करनी पड़ती है। इसीलिए मॉरिस जोन्स ने भारतीय संघ को ष्सौदेबाजी वाली संघ व्यवस्थाष्कहा है। 1989 के बाद से जिस तरह भारत में केन्द्रीय स्तर पर गठबन्धन सरकारों का दौर चला है वह इस प्रतिमान को पूर्णतया परिलक्षित करती है। वर्तमान में भी यही स्थिति है। केन्द्र की अटल बिहारी वाजपेयी सरकार को 24 दलों का समर्थन प्राप्त है। जिनके नेता अपने–अपने राज्य की मांगे मनवाने के लिए केन्द्र पर दबाव डालते हैं। जैसे आन्ध्रप्रदेश के मुख्यमंत्री चन्द्रबाबु नायडू, उड़ीसा के मुख्यमंत्री नवीन पटनायक, हरियाणा के ओमप्रकाश चौटाला, उत्तरप्रदेश की मायावती, इसके अलावा अन्य राज्यों के प्रमुख नेता भी है जो इस सौदेबाजी के खेल में शामिल है। जैसे जार्ज फर्नांडिस, ममता बनर्जी, करूणानिधि, डॉ. फारूक अब्दुल्ला, प्रफुल कुमार महंत, प्रकाश सिंह बादल आदि प्रमुख हैं।

9.5.3 एकात्मक संघवाद का प्रतिमान–वर्तमान में संघवाद का नया प्रतिमान न तो पूर्णतया संघात्मक है और न ही एकात्मक। इसीलिए एकात्मक संघवाद कहा जाता है। इसके अलावा भारतीय संविधान में भी एकात्मक के अनेक तत्व विद्यमान है। बदलते विश्व परिवेश तथा राजनीतिक व्यवस्था ने केन्द्र को शक्तिशाली बनाने को बाध्य किया है। संयुक्त राज्य अमरीका जैसा संघवादी राष्ट्र तीव्र गति से एकात्मकता की ओर अग्रसर हो रहा है।

भारतीय संविधान में भी एकात्मक तत्व अन्तरंग दिखाई देते हैं। इकहरी नागरिकता, एकल संविधान, एकल न्याय व्यवस्था, राज्यपाल का पद, आपातकालीन शक्तियाँ, आर्थिक दृष्टि से राज्यों की कमजोर स्थिति, महत्वपूर्ण विषयों की एकीकृत व्यवस्था, शक्तियों का बंटवारा केन्द्र के पक्ष में आदि ऐसे प्रावधान है जो एकात्मकता के सूचक हैं। इनके अतिरिक्त बहिरंग भी कुछ ऐसे ही तत्वों को प्रोत्साहन मिला है, जिन्होंने संघीय व्यवस्था पर प्रतिकूल असर डाला है, जैसे प्रधानमंत्री का प्रभावी व्यक्तित्व, योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद् आदि।

Jai Vishva Bharati Institute (Deemed University) Jodhpur

9.6 सारांश

उपर्युक्त विवेचना के तत्पश्चात् निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय संघीय व्यवस्था अपने आप में निराली विशेषताएँ लिए हुए है। भारतीय संविधान निर्माताओं की मंशा अति से बचने की थी इसीलिए उन्होंने संघात्मक व एकात्मक के अच्छे लक्षणों को शामिल कर समन्वय स्थापित किया क्योंकि दोनों में से किसी एक की तरफ पूर्णतया झुक जाना भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के लिए लाभप्रद नहीं था। जिस प्रकार प्रत्येक फसल को उगाने के लिए उपयुक्त जलवायु की आवश्यकता होती हैए ठीक उसी प्रकार किसी भी शासन व्यवस्था की सफलता या असफलता उस देश या समाज की आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति पर निर्भर करती है।

यदि पिछले 52 वर्षों के केन्द्र–राज्य संबंधों का इतिहास देखे तो हम पाते है कि भरतीय संघ का स्वरूप कभी भी स्थिर नहीं रहा। जहां प्रारम्भिक दौर में संघ एकात्मकता की ओर बढ़ाए वहीं आज सौदेबाजी के संघवाद की ओर बढ़ रहा हैं। यद्यपि अनेक मंचों के विभिन्न प्रयासों से सहयोग का भी दौर प्रारम्भ हुआ है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न–

1. भारतीय संघवाद के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए।
2. भारतीय व्यवस्था संघात्मक होते हुए भी एकात्मक कैसे है? सिद्ध कीजिए।
3. भारतीय संघ के प्रतिमानों पर प्रकाश डालिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न–

1. भारतीय संविधान द्वारा शक्तियों का बंटवारा कैसे किया गया है?
2. ऐसे बहिरंग तत्व बताओ जिनसे भारत संघ एकात्मकता की ओर बढ़ रहा है? (कोई तीन)
3. सौदेबाजी के संघवाद से आपका क्या आशय है?
4. भारतीय संविधान में उपस्थित संघात्मक तत्व बताओ।
5. राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियां किस प्रकार संघवाद को प्रभावित कर रही हैं?
6. आपकी दृष्टि में भारत को किस प्रकार का संघीय प्रतिमान कहना उचित रहेगा और क्यों?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न–

1. भारतीय संविधान में संघात्मक के स्थान पर किस शब्द का प्रयोग किया गया है?
2. भारतीय संविधान संघीय कम एकात्मक अधिक है। यह किसका मत है?
3. संघ सूची में कितने विषय हैं?
4. भारतीय संघ को सौदेबाजी का संघ किसने कहा है?
5. भारतीय संघ को सहकारी संघ किसने कहा है?
6. अवशिष्ट शक्तियों का प्रावधान किस संविधान से लिया गया है?
7. भारत में राज्यों की सीमा में परिवर्तन का अधिकार किसे प्राप्त है?
8. किन परिस्थितियों में संसद राज्य सूची के विषयों पर कानून बना सकती है?

सन्दर्भ ग्रंथ सूची–

सुभाष कश्यप हमारा संविधान नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया

एम.पी. राय भारतीय सरकार और राजनीति कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

सुभाष काश्यप भारतीय सरकार और राजनीति नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया

रजनी कोठारी भारत में राजनीति ओरियन्ट लोगमेन्स लिमिटेड, नई दिल्ली।

बी.पी.पाण्डेय , भारतीय शासन एवं राजनीति, सरस्वती सदन, दिल्ली।

रामअवतार शर्मा, सुषमा यादव, केन्द्र–राज्य सम्बन्ध हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय , दिल्ली।

डॉ. बी.एल.फड़िया भारतीय संघ व्यवस्था, कैलाश प्रकाशक, भोपाल

अशोक चन्दा, फेडरलिज्म इन इण्ड़िया,ए स्टडी ऑफ सेण्टर स्टेट रिलेशन, जार्ज एलन एण्ड अनविन लिमिटेड, लन्दन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–10 : केन्द्र तथा राज्यों के बीच विधायी, प्रशासनिक एवं वित्तीय सम्बन्ध

संरचना

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 विधायी सम्बन्ध

- 10.2.1 केन्द्रीय सूची
- 10.2.2 राज्य सूची
- 10.2.3 समवर्ती सूची
- 10.2.4 अवशिष्ट शक्तियाँ

10.3 प्रशासनिक सम्बन्ध

- 10.3.1 राज्यपालों की नियुक्ति
- 10.3.2 केन्द्र द्वारा आदेश देना
- 10.3.3 अनुच्छेद 261
- 10.3.4 झगड़ों का निपटारा
- 10.3.5 अनुच्छेद 352
- 10.3.6 राज्यों के सम्मेलन
- 10.3.7 अन्तर्राज्यीय परिषद्
- 10.3.8 अनुच्छेद 356
- 10.3.9 अखिल भारतीय सेवाएँ
- 10.3.10 योजना आयोग तथा संघ–राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध
- 10.3.11 अनुच्छेद 355

10.4 वित्तीय सम्बन्ध

- 10.4.1 विधि के प्राधिकार के बिना करारोपण का निषेध
- 10.4.2 संघ और राज्यों में राजस्व वितरण
- 10.4.3 राज्यों की केन्द्र पर बढ़ती आर्थिक निर्भरता
- 10.4.4 केन्द्रीय अनुदान
- 10.4.5 राज्यों द्वारा कर्ज लेने पर नियंत्रण तथा भेदभाव
- 10.4.6 केन्द्र का बढ़ता बजट घाटा
- 10.4.7 वित्तीय संकट
- 10.4.8 वित्त आयोग
- 10.4.9 केन्द्र एवं राज्य सरकारों के उधार लेने की शक्ति

10.5 केन्द्र–राज्यों के बीच विवाद के मुद्दे

- 10.5.1 राज्यों द्वारा अधिक स्वायत्तता की मांग
- 10.5.2 अनुच्छेद 356 का बढ़ता दुरूपयोग
- 10.5.3 राज्यपाल का पद
- 10.5.4 सुरक्षा बलों की तैनाती का मामला
- 10.5.5 भेदभाव का आरोप

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

10.5.6 केन्द्र का बढ़ता हस्तक्षेप

10.5.7 सरकारिया आयोग की रिपोर्ट को लागू करना

10.6 सारांश

10.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत केन्द्र राज्य सम्बन्धों का वर्णन किया गया है। इस अध्याय को पढ़ने से आप–

- केन्द्र राज्यों के बीच बदलते विधायी सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- प्रशासनिक सम्बन्धों को समझ सकेंगे,
- वित्तीय सम्बन्धों की समीक्षा कर सकेंगे,
- केन्द्र–राज्यों के बीच उभरते नवीन मुद्दों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

10.1 प्रस्तावना

भारत को श्राज्यों का संघश कहा जाता है। भारत जब आजाद हुआ तब यहां बड़ी संख्या में रियासतें थी जिनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व था लेकिन तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू तथा रियासत मंत्री श्री सरदार वल्लभ भाई पटेल के सहयोग से इनको भारत संघ में शामिल किया गया। इन क्षेत्रों को समुचित विकास के उद्देश्य से इनका भाषा व भौगोलिक आधार पर अनेक राज्यों में बांटा गया।

भारत के संविधान में एक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना की हैं और केन्द्र राज्यों सम्बन्धों के प्रत्येक क्षेत्र में केन्द्र की प्रधानता हैं हमारे संविधान निर्माताओं ने ब्रिटिश काल से चली आ रही परम्पराओं को उचित स्थान प्रदान किया गया। जिसके कारण भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप से एकात्मकता की छाया झलकती है। यद्यपि भारतीय संविधान निर्माताओं ने भारत में संघात्मक व्यवस्था स्थापित करने की बात कही है जिसके तहत् केन्द्र राज्यों के बीच में शक्तियों का विभाजन स्पष्ट रूप से किया गया है।

श्री वी.एन. शुक्ला के अनुसार संघ सरकार में शक्तियों का बंटवारा आवश्यक है। संयुक्त राज्य अमेरिका में केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ संविधान में निश्चित कर दी गई है और शेष शक्तियाँ राज्य को दे दी गई है। कनाड़ा के संविधान में बिल्कुल उल्टा किया गया है। वहां पर शेष शक्तियाँ केन्द्र को सौंप दी गई है। भारतीय संविधान में शक्तियों का बंटवारा 1935 के अधिनियम के सिद्धान्त व आदेशों के अनुसार किया गया है।

केन्द्र राज्यों को प्रभावित करने में दलीय स्वरूप की महत्वपूर्ण भूमिका मानी जाती है। जब केन्द्र में जिस दल की सरकार है और उसी दल की अगर राज्यों में सरकार है तो राज्य व केन्द्र सम्बन्ध मधुर होते हैं और यदि केन्द्र व राज्यों में विपरीत पार्टियों की सरकारें है तो उनके बीच तनाव होना स्वाभाविक है। 1967 तक भारतीय कांग्रेसी सरकारों का गठन हुआ। तब केन्द्र राज्यों के बीच कटुता आना स्वाभाविक बात थी।

10.2 विधायी सम्बन्ध

भारत में संघात्मक ढाँचे की स्थापना की गई है। संघात्मक सरकार वह है, जिसके तहत् केन्द्र राज्यों के बीच शक्तियाँ का स्पष्ट विभाजन संविधान की सर्वोच्चता, स्वतन्त्र निष्पक्ष न्यायपालिका तथा संविधान लिखित व कठोर हो। यह सारी विशेषताएं हमें भारतीय संविधान में स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ती है। भारतीय संविधान में शक्तियों के विभाजन के लिए तीन सूचियां संघ सूची, राज्य सूची, समवर्ती सूची व अवशिष्ट षक्तियाँ। यहां पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि हमने केन्द्र राज्यों के बीच विधायी संबंध कनाड़ा संविधान से ग्रहण किया है ।

10.2.1 संघीय सूची–भारतीय संविधान की सातवीं अनुसूची के अनुच्छेद 246 में यह स्पष्ट किया गया है कि संघ सूची के विषय पर संसद को अधिकार प्राप्त है। संघ सूची में 97 विषय शामिल किये गये हैं। इसमें जहाज रानी, हवाई मार्ग, आयात निर्यात, नागरिकता, सीमा शुल्क आदि।

10.2.2 राज्य सूची–भारतीय संविधान की 7वीं अनुसूची में 66 विषय शामिल केये गये। संविधान में इस तथ्य का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है कि इस सूची के सन्दर्भ में राज्यों की विधान मण्डल कानून बनाने में सर्वोच्च है जिनमें केन्द्र कोई दखलअन्दाजी नहीं कर सकता है। राज्यों को जो विषय सौंपे गये है वे है सार्वजनिक व्यवस्था, पुलिस, सफाई, चिकित्सा, शिक्षा, सार्वजनिक निर्माण, सड़क यातायात, जंगल, न्याय, मादक पेय, पशुपालन, सिंचाई, भूमिकर, मनोरंजन, स्वशासन आदि।

यद्यपि संविधान में यह कहा गया है कि राज्य सूची के विषय पर कानून बनाने में राज्य स्वतंत्र है लेकिन फिर भी शान्ति काल में केन्द्र उस पर कानून बना सकती है।

(अ) यदि राज्य सभा अपने 2/3 बहुमत से राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का घोषित कर दे तो उस विषय पर संसद कानून बना सकती है। (अनुच्छेद 249) इसकी अवधि 1 वर्ष रहती है।

(ब) अनुच्छेद 252 के तहत् राज्य विधान मण्डल केन्द्र सरकार से इस बात की प्रार्थना करे कि वह इस विषय पर कानून बनाने में असमर्थ है, अत: आप इस पर कानून बनाये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

(स) अनुच्छेद 251 के अनुसार जब दो या दो से अधिक राज्यों की विधानमण्डल अपने 2/3 बहुमत से यह प्रस्ताव पारित कर दे तब केन्द्र उस विषय पर कानून बना सकता है। यहां पर ध्यान देने योग्य बात यह हैं कि यह कानून उन्हीं राज्यों पर लागू होता है जिन्होंने यह प्रस्ताव पास किया है।

(द) अनुच्छेद 253 के मुताबिक केन्द्र द्वारा विदेशों से किये जाने वाली संधियों या समझौतों को लागू करने हेतु अगर राज्य सूची पर कानून बनाना पड़े तो केन्द्र कानून बना सकती है।

(य) अनुच्छेद 200 के अनुसार राज्यपाल किसी महत्वपूर्ण विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रोक सकता है।

(र) अनुच्छेद 256 इसमें राज्य के प्रशासन पर केन्द्रीय नियंत्रण की व्यवस्था है। जिसमें यह प्रावधान है कि राज्य की कार्यपालिका शक्तियों का प्रयोग इस प्रकार किया जाये कि यह संघीय कानून के लिए किसी भी प्रकार से बाधक न हो।

(ल) अनुच्छेद 257 में यह प्रावधान है कि राष्ट्रीय महत्व के यातायात के मार्गों का निर्माण करने तथा रेलवे मार्गों का निर्माण, देखभाल व सुरक्षा का दायित्व राज्यों को सौंप सकती है।

(व) अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति राज्यों में संकटकाल की घोषणा कर सकता है । इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 352 व 360 के संकटकालीन स्थिति में सम्पूर्ण राज्य सूची पर केन्द्र सरकार कानून बना सकती है।

10.2.3 समवर्ती सूची–समवर्ती सूची के तहत 47 विषय तय किये गये हैं। इसके सन्दर्भ में संविधान में उल्लेख किया गया है कि इस सूची पर केन्द्र व राज्य दोनों ही कानून बना सकते है। यदि किसी विषय पर केन्द्र व राज्य दोनों ही कानून बना लेते हैं तो केन्द्र का कानून मान्य होगा।

विशेष :– जब 1984 में सीकर व देवराला गांव में रूपकंवर सती हुई तब राजस्थान सरकार ने सती प्रथा पर रोक लगाने के लिए कानून बनाया जिसमें पाँच वर्ष की कैद व पाँच हजार रूपये का जुर्माना था परन्तु उसी समय केन्द्र ने कानून बनाया जिसमें 10 वर्ष की कैद व 10 हजार रू. का जुर्माना तय किया गया। अतः संघीय कानून माना गया है।

42वें संविधान संशोधन अधिनियम 1976 द्वारा सातवीं अनुसूची को संशोधित किया गया है जिसके अनुसार संघ सूची में संघ व शस्त्र तल पर संघ का नियंत्रण जोड़ा गया है तथा शिक्षा व कृषि को राज्य सूची से हटाकर समवर्ती सूची में शामिल किया गया है। इसी प्रकार परिवार कल्याण नामक नया विषय समवर्ती सूची में शामिल किया गया है।

10.2.4 अवशिष्ट शक्तियाँ–भारतीय संविधान द्वारा अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को सौंपी गयी है। यह प्रावधान हमने कनाडियन संविधान से ग्रहण किया है। इसके विपरीत यू.एस.ए. संविधान द्वारा अवशिष्ट शक्तियाँ राज्य को सौंपी गयी है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि संविधान द्वारा केन्द्र व राज्यों के बीच शक्तियों के स्पष्ट विभाजन के बाद भी संसद को राज्य के विधायी मामलों में पर्याप्त हस्तक्षेप का अधिकार है। इससे केन्द्र सरकार राज्यों की शक्तियाँ हड़पती जा रही है और राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं की भांति बनती जा रही है। अमर नन्दी ने लिखा है कि विशाल मूर्ति की भांति केन्द्र ही सारे रंग मंच पर छाया रहता है।

एन.बी. पायली के अनुसार विधायी सभा के वितरण की सूची योजना से निःसन्देह केन्द्रीयकरण की प्रबल प्रकृति प्रकट होती है।

10.3 प्रशासनिक सम्बन्ध

केन्द्र को राज्यों की तुलना में अधिक कर्तव्य और दायित्व सौंपे गये है। संविधान की धारा 73 के अनुसार केन्द्र की कार्यपालिका अथवा प्रशासनिक शक्तियों का विस्तार उन विषयों तक सीमित है जिन पर संसद को विधि निर्माण की शक्ति है। इसी प्रकार अनुच्छेद 162 के अनुसार राज्यों की प्रशासनिक शक्तियों का विस्तार उन विषयों तक सीमित है जिन पर राज्य विधान मण्डल को कानून बनाने का अधिकार है। भारत में संघ राज्य सम्बन्धों को हम निम्नलिखित शीर्षकों से प्रस्तुत कर सकते हैं –

10.3.1 राज्यपालों की नियुक्ति–अनुच्छेद 153 में उल्लेख किया गया है कि राष्ट्रपति प्रत्येक राज्य में एक राज्यपाल की नियुक्ति करेगा। राष्ट्रपति व्यवहार में प्रायः प्रधानमंत्री की सलाह के अनुसार ही ऐसी नियुक्ति करता है राज्यपाल राज्य का संवैधानिक मुखिया होता है जिसमें ही समस्त प्रकार की शक्तियाँ निहित रहती है लेकिन उनका वास्तविक प्रयोगकर्ता मुख्यमंत्री होता है । यद्यपि राज्यपाल को स्वविवेकीय शक्तियाँ प्रदान की गई है। सरकारिया आयोग के अनुसार राष्ट्रपति को राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व सम्बद्ध राज्य के मुख्यमन्त्री की राय जाननी चाहिये।

10.3.2 केन्द्र द्वारा आदेश देना–अनुच्छेद 256 के अनुसार केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को आदेश दे सकती है कि वे अपनी शक्तियों का प्रयोग इस तरह से करे जिससे केन्द्रीय सरकार की कार्यपालिका शक्ति में अड़चन न आये। संघ इस सम्बन्ध में तथा रेलों के संरक्षण एवं राष्ट्रीय या सैनिक महत्व के संचार साधनों को बनाये रखने के बारे में आवश्यक निर्देश जारी कर सकता है। केन्द्रीय निर्देशों के पालन में जो अतिरिक्त व्यय आयेगा उसकी भरपाई केन्द्र राज्यों को करेगा।

10.3.3 अनुच्छेद 261–अनुच्छेद 261 के अनुसार भारतीय राज्य क्षेत्र के सभी भागों में संघ तथा राज्यों के सार्वजनिक कार्यों, अभिलेखों तथा न्यायिक कार्यवाहियों को पूरा विश्वास एवं पूरी मान्यता दी जाएगी। यह बात संघ राज्यों के आपसी संबंधों के सुचारू निर्वाह में अति सहायक होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

10.3.4 झगड़ों का निपटारा–संघ सरकार विभिन्न राज्यों के बीच चले आ रहे विवादों का निपटारा करवाने का भी प्रयास करती है। इसके लिए उनके संयुक्त कार्यदल गठन करना, आयोगों का निर्माण करना, अपने निर्देशन में विवादग्रस्त राज्यों में सम्मेलन बुलाना आदि जिन राज्यों के बीच विवाद चल रहे हैं, वे इस प्रकार हैं–तमिलनाडु बनाम कर्नाटक (कावेरी जल विवाद), हरियाणा बनाम पंजाब (चण्डीगढ़ का मुद्दा) इसी प्रकार राजस्थान, मध्यप्रदेश व दिल्ली राज्यों के बीच जल विवाद।

विशेष :– वर्तमान् में कावेरी जल विवाद काफी तूल पकड़ा हुआ है। यहां की दोनों ही राज्यों की सरकारों के बीच अभी तक किसी प्रकार का समझौता नहीं हो पाया है। यद्यपि इन राज्यों के मुख्यमंत्रियों व अन्य अधिकारियों की बैठकें समय पर होती रही पर यह अभी तक निर्णय नहीं कर पाये हैं और यह सम्भावना व्यक्त की जा रही है कि यह मामला अभी काफी समय तक तूल पकड़ा हुआ रहेगा।

10.3.5 अनुच्छेद 352–राष्ट्रपति बाहरी आक्रमण, अन्तरिम शस्त्र विद्रोह या युद्ध की सम्भावनाओं के मद्देनजर संकटकाल की घोषणा कर सकता है जिसका उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 352 में किया गया है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति राज्य सरकारों को विशेष ढंग से अपनी कार्यपालिका शक्ति के उपयोग के आदेश दे सकता है।

विशेष :– जब पाक से (1961 व 1971) में तथा चीन से 1965 में युद्ध हुआ तब राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 352 का संकटकाल घोषित किया गया था।

10.3.6 राज्यों का सम्मेलन–केन्द्रीय सरकार भारत के सारे राज्यों में शासन सम्बन्धी एकता स्थापित करने के लिए और केन्द्र व राज्य सरकार की नीतियों में मेल उत्पन्न करने के लिए राज्यों की सरकारों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन बुला सकती है और उनकी कुछ सिफारिशें कर सकती है।

विशेष :– अक्टूबर 1997 को शिमला में जो लोकसभा अध्यक्ष पी.ए. संगमा की अध्यक्षता में राज्यों की विधानसभा के अध्यक्षों का सम्मेलन हुआ है उसमें अनेक मुद्दों पर ठोस निर्णय लिए गये और आपस में सर्वसम्मति कायम की गई।

10.3.7 अन्तर्राज्यीय परिषद्–अनुच्छेद 263 राष्ट्रपति को अन्तर्राज्यीय परिषद की स्थापना का अधिकार प्रदान करता है। इन परिषदों का उद्देश्य है कि वे राज्यों के आपसी विवादों तथा राज्यों के या संघ एवं राज्यों के सामान्य हित के आपसी मामलों के बारे में जाँच करे और उन्हें सलाह दे और नीति व कार्रवाई के बेहतर समन्वय के बारे में सिफारिश करे।

विशेष :– इसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है तथा इसके सदस्य प्रधानमंत्री द्वारा नियुक्त कैबिनेट के सदस्य तथा समस्त राज्यों के मुख्यमंत्री होते है।

10.3.8 अनुच्छेद 356–जब राज्यपाल से रिपोर्ट पाकर अथवा किसी अन्य तरीके से राष्ट्रपति को विश्वास हो जाये कि किसी राज्य में सरकार संविधान के अनुसार नहीं चलाई जा सकती तो राष्ट्रपति उस समय में वैधानिक संकट की घोषणा कर देता है। उस समय राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत् उस राज्य में राष्ट्रपति शासन की घोषणा कर सकता है और राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति की आज्ञा के अनुसार शासन चलाया जाता है। मंत्रिमण्डल को प्रायः ऐसी अवस्था में समाप्त कर दिया जाता है और कुछ समय के पश्चात् नए चुनाव करवाये जाते हैं। राष्ट्रपति शासन की अवधि सामान्यतया 6 माह होती है। उसके बाद अगर बढ़ाना होता है तो 6 माह पश्चात् संसद में स्वीकृति से आगे बढ़ाया जा सकता है।

10.3.9 अखिल भारतीय सेवाएँ–संघीय सिद्धान्त के प्रतिकूल भारतीय संविधान में केन्द्र और राज्यों के बीच सम्मिलित सेवाओं का भी उपबन्ध किया गया है जिनको अखिल भारतीय सेवाएं कहा जाता है जैसे, आई.ए.एस., आई.पी.एस., आई.एफ.एस. आदि। इनका प्रमुख उद्देश्य संघ व राज्यों तथा अन्तर्राज्यीय समन्वय व सहयोग को बढ़ावा देना। अखिल भारतीय सेवाओं के अधिकारियों पर अधिकांश नियंत्रण केन्द्र सरकार का होता है क्योंकि उसी के द्वारा उनकी नियुक्ति, भर्ती तथा उनके विरूद्ध कोई कार्यवाही की जाती है। राज्य सरकारों को इसका अधिकार नहीं, वे उसके विरूद्ध कोई कार्यवाही करे लेकिन रिपोर्ट अवश्य ही भेज सकती है। इसके अतिरिक्त इन अधिकारियों को वेतन व भत्ते सम्बद्ध राज्यों द्वारा दिये जाते है पर इन पर भी केन्द्रीय नीति चलती है।

10.3.10 योजना आयोग तथा संघ राज्य प्रशासनिक सम्बन्ध–भारतीय संघ में नियोजन एवं योजना आयोग के कारण केन्द्रीयकरण की प्रवृति को प्रोत्साहन मिला है यद्यपि हानियों की तुलना में इस व्यवस्था से लाभ कही अधिक पहुँचा है और राष्ट्रीय विकास के अनेक कार्यक्रम योजनाबद्ध ढंग से प्रस्तुत किये जा सके हैं। योजना आयोग व संघवाद में संघर्ष की बात न सोचकर हमें यह मानकर चलना चाहिए कि दोनों का साथ–साथ चलना देश के लिए नितान्त आवश्यक है।

10.3.11 अनुच्छेद 355–अनुच्छेद 355 के अनुसार केन्द्र सरकार राज्यों के मामले में हस्तक्षेप कर सकती है।

विशेष :– 15 दिसम्बर, 1997 को बी.जे.पी. नेता व पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने बिहार के मामले में राष्ट्रपति से यह आग्रह किया कि बिहार की स्थिति के कारण हस्तक्षेप करे।

10.4 वित्तीय सम्बन्ध

किसी देश के शासन को चलाने के लिए धन का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। धन के बिना सरकार ठीक से नहीं चल सकती है। अतः संविधान में राज्यों की सरकारों तथा केन्द्रीय सरकारों को आमदनी के काफी साधन दिए गए हैं। राज्य में राजस्व वितरण की व्यवस्था बहुत कुछ भारतीय शासन अधिनियम 1935 का अनुसरण मात्र ही है। एक वित्तीय आयोग की स्थापना का उपबन्ध संविधान के अनुच्छेद 280 में किया गया। जिसका एक अध्यक्ष व चार अन्य सदस्य होते है जिनकी नियुक्ति राष्ट्रपति 5 वर्ष के लिए

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

करता है। जो बदलती हुई परिस्थितियों के अनुकुल समय–समय पर वित्तीय स्थिति पर पुनर्विचार करे और संशोधन एवं परिवर्तन के सुझाव दे। किसी भी संघात्मक राज्य में इस प्रकार की विस्तृत व्यवस्था नहीं की गई है जितनी कि भारत में की गई है।

वर्तमान समय में संघ व राज्यों के बीच विवाद का यह एक प्रमुख कारण बनता जाता रहा है। आज केन्द्रीकरण की प्रवृति बढ़ने का एक प्रमुख कारण भी राज्यों की पतली वित्त स्थिति है जो चन्द पैसे के लिए केन्द्र सरकार पर निर्भर रहते है । जिसके कारण केन्द्र को अपनी मनमानी से कार्य करने का अवसर मिल जाता है। इसके अतिरिक्त राज्यों पर वित्तीय कर्ज बढ़ता जा रहा है जिसके कारण इन राज्यों का विकास सही ढंग से नहीं हो पा रहा है। संघ सरकार जब राज्यों को ऋण, सहायता या अनुदान देती है तब वह बकाया राशि को कांट कर शेष राज्यों को दे देती है। परन्तु कुछ समय से राज्यों ने इसका विरोध किया है कि ऐसा होने से उनकी विकास योजनाओं का क्रियान्वयन सम्भव नहीं होता है। अतः संघ अब ऐसा नही कर रहा है।

संघ एवं राज्यों के वित्तीय सम्बन्धों की विवेचना निम्न शीर्षकों में की जा सकती है –

10.4.1 विधि के प्राधिकार के बिना करारोपण निषेध–अनुच्छेद 265 में स्पष्ट लिखा गया है विधि के प्राधिकार के सिवाय कोई कर न तो आरोपित और न एकत्र किया जाएगा। इसका स्वाभाविक अर्थ है कि कोई भी कर केवल विधि द्वारा ही आरोपित और एकत्र किया जा सकता है, किसी कार्यपालिकीय आदेश द्वारा नहीं। अर्थात् कर लगाने का एकमात्र अधिकार संसद का ही हैं ।

10.4.2 संघ और राज्यों में राजस्व वितरण–भारतीय संविधान में संघ व राज्यों के आय के स्रोतों का विभाजन स्पष्ट रूप से किया गया है जिसके तहत यह प्रावधान किया गया है कि केन्द्र व राज्य अपने–अपने क्षेत्र में पूर्णतया स्वतन्त्र होंगे। इसकी व्यवस्था संविधान के अनुच्छेद 268 में की गयी है।

1) संघ के प्रमुख आय के स्रोत : संविधान के अनुच्छेद 268 के अनुसार संघ को जो आय के स्रोत प्रदान किये गये हैं वे इस प्रकार है निगम, सीमा शुल्क, निर्यात, कृषि को छोड़कर अन्य आय पर कर, उत्पादन शुल्क कृषि को छोड़कर अन्य सम्पत्ति शुल्क, स्टॉक एक्सचेंज पर कर, सट्टा बाजार पर कर, रेल भाड़े तथा रेल वस्तु भाड़े पर कर, रेल, वायु, समुद्री जहाज द्वारा ली जाने वाली वस्तु तथा यात्रियों पर सीमा शुल्क, विदेशी ऋण, संघ सरकार की सम्पत्ति, कोई दूसरा कर जो राज्य सूची या समवर्ती सूची में उल्लेखित नहीं है।

2) राज्य सरकार की आय के साधन : राज्य सरकार के लिए पृथक आय के स्रोत की व्यवस्था की गई है वे इस प्रकार है–माल गुजारी, कृषि आय पर कर, विद्युत कर, जल कर, सड़क व वाहनों पर कर, कृषि भूमि के उत्तराधिकार पर कर, कृषि भूमि पर सम्पत्ति कर, प्रतिव्यक्ति कर, पशुओं पर कर, समाचार पत्रों के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के क्रय विक्रय पर कर, समाचार पत्रों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर।

3) संघ द्वारा आरोपित तथा संग्रहित किन्तु राज्यों को सौंपे जाने वाले कर : अनुच्छेद 269 (1) के अनुसार निम्न कर व शुल्क केन्द्र द्वारा आरोपित व संग्रहित किये जाते है किन्तु राज्यों को सौंप दिये जाते है – (1) कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार विषयक शुल्क (2) कृषि भूमि के अतिरिक्त सम्पत्ति विषयक शुल्क (3) रेल, समुद्र व वायु द्वारा ले गए माल और यात्रियों पर सीमान्त शुल्क (4) रेल भाड़ों व वस्तु भाड़ो पर कर (5) शेयर बाजार, सट्टा बाजार व मुद्रा शुल्क के अतिरिक्त अन्य शुल्क (6) समाचार पत्रों के क्रय–विक्रय तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापियों पर कर (7) समाचार पत्रों के अलावा अन्य अन्तर्राज्यीय व्यापार व वाणिज्य कर।

4) संघ द्वारा आरोपित किन्तु राज्यों द्वारा संग्रहित व नियोजित कर : अनुच्छेद 268 के अनुसार ऐसे मुद्रांक तथा औषधीय एवं प्रसाधनीय सामग्री पर उत्पादन शुल्क, जो संघ सूची में वर्णित है, भारत सरकार द्वारा आरोपित है पर इनका संग्रह व नियोजन राज्य द्वारा होता है।

5) संघ द्वारा आरोपित और एकत्र कर जिनका विभाजन संघ–राज्य के मध्य होता है : अनुच्छेद 270 के अनुसार कृषि आय के अतिरिक्त आयकर संघ द्वारा ही लगाया जाता है और उसी के द्वारा एकत्रित किया जाता है। परन्तु समय–समय पर निर्धारित रीति के अनुसार उसका विभाजन संघ व राज्यों के बीच होता है। आयकर में निगम कर सम्मिलित नहीं है। आयकर की प्राप्तियों का वितरण वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार किया जाता है।

विशेष : 28 नवम्बर, 1997 को नई दिल्ली में आयोजित अन्तर्राज्य परिषद की चौथी बैठक में राज्यों की सरकारें इस बात पर सहमत हुई है कि केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये गये कर पर संघ व राज्य सरकार के बीच बंटवारा होगा।

6) संघ उत्पादन शुल्कों का वितरण : अनुच्छेद 272 के अनुसार संघ सूची में वर्णित औषधीय और प्रसाधन सामग्री पर उत्पादन शुल्क के अतिरिक्त अन्य संघ उत्पादन शुल्क भारत सरकार द्वारा ग्रहण और संग्रहीत किये जायेंगे किन्तु इनके शुद्ध आगमों को संसद द्वारा निर्धारित विधि के अनुसार संघ एवं राज्यों में वितरित कर दिया जायेगा।

10.4.3 राज्यों की केन्द्र पर बढ़ती आर्थिक निर्भरता–केन्द्र पर राज्यों की आर्थिक निर्भरता दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही है । क्योंकि राज्यों के पास इतने प्रभावशाली साधन नहीं है जिनसे वे अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। राज्य संघ से ऋण, अनुदान व सहायता लेकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं जिसके कारण राज्यों पर आर्थिक बोझ बढ़ता ही जा रहा है। 1978 में संघ राज्य सरकारों से 15 हजार करोड़ रू. मांग रहा था जो आज बढ़कर लगभग 30 हजार करोड़ तक हो गये हैं। इसके अतिरिक्त राज्यों को यह अधिकार नहीं है कि वे किसी देश से आर्थिक सहायता प्राप्त कर ले इससे पूर्व उसे केन्द्र की स्वीकृति आवश्यक होती है। बढ़ती हुई आर्थिक निर्भरता के कारण राज्यों पर स्थिति बहुत ही खराब होती जा रही है। केन्द्र अपनी आर्थिक प्रबलता के कारण राज्यों को अपनी नीति थोंपने में सफल हो जाते है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

10.4.4 केन्द्रीय अनुदान–भारतीय संविधान में राज्यों को केन्द्रीय अनुदान दिये जाने की निम्नलिखित व्यवस्था की गई है–

1) संविधान के अनुच्छेद 275 द्वारा संसद को अधिकार दिया गया है कि वह उन राज्यों को जिन्हें उसके अनुसार सहायता की आवश्यकता है, ऐसी राशि सहायक अनुदान के रूप में प्रदान करेगी जो संसद विधि द्वारा निर्धारित करे। भिन्न भिन्न राज्यों के लिए भिन्न–भिन्न राशि नियत की जाती है।

2) अनुच्छेद 273 में पटसन अथवा पटसन से बनी हुई वस्तुओं पर निर्यात शुल्क से आने वाली कुल राशि के किसी भाग को असम, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल और बिहार राज्यों को सहायक अनुदान के रूप में दिये जाने की व्यवस्था है। केन्द्रीय अनुदान की राशि राष्ट्रपति वित्त आयोग के परामर्श से नियत करता है।

3) यदि राज्य केन्द्र की स्वीकृति से अनुसूचित जन जातियों के कल्याण के लिए कोई योजना प्रारम्भ करे तो उसकी पूर्ति के लिए भी केन्द्र वित्तीय अनुदान प्रदान करता है। अनुसूचित क्षेत्रों के प्रशासनिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए भी केन्द्र द्वारा राज्यों को सहायक अनुदान दिये जाने का प्रावधान है।

4) केन्द्र ऐसे विषय के सम्बन्ध में भी अनुदान दे सकता है। जिस पर विधि निर्माण का अधिकार संसद के पास सामान्यतया नहीं है। विवेकाधीन अनुदानों का अनुपात दिन–प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है और राज्यों के बजटीय घाटों की पूर्ति के लिए भी केन्द्र से अनुदान दिये जा रहे हैं।

10.4.5 राज्यों द्वारा कर्ज लेने पर नियंत्रण तथा भेदभाव–संघ द्वारा राज्यों को ऋण देने में भी पूरा–पूरा भेदभाव किया जाता है। यदि केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की सरकार जिस राज्य में सत्ता में है तो उसको अपेक्षाकृत अधिक सहायता मिलेगी। 1967 के बाद विभिन्न राज्यों में सत्तारूढ़ हुई गैर कांग्रेसी राज्य सरकारों के मुख्यमंत्रियों ने केन्द्रीय सरकार पर यह आरोप लगाया था कि वह इस शक्ति के माध्यम से उन्हें दबाना चाहती है तथा कांग्रेसी राज्य सरकारों की तुलना में उन्हें सहायता देने में भेदभाव बरत रही है। इस प्रकार केन्द्र सरकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से राज्यों पर नियन्त्रण रखती है।

विशेष : राजस्थान सरकार ने प्रोजेक्ट निर्माण के लिए 200 करोड़ रू. का ऋण मांग पर उसे केवल 120 करोड़ का ही ऋण दिया गया था इसी प्रकार छठी पंचवर्षीय योजना में राजस्थान को 2000 करोड़ देने का प्रावधान रखा गया पर उसमें बकाया राशि लाटकर उसे 1200 करोड़ रू. ही उपलब्ध करवाये गये। इसी तरह अकाल राहत कार्यक्रम चलाने के लिये धन एवं गेंहूँ की मांग को लेकर केन्द्र व राजस्थान सरकार मे मतभेद बना हुआ है और दोनों एक–दूसरे पर आरोप लगा रहे हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि केन्द्र सरकार द्वारा सहायता के माध्यम से अपना पूरा–पूरा दबाव बनाया जाता है और अगर कोई राज्य सरकार केन्द्र की नीति को स्वीकार नहीं करती है तो उसको वित्तीय सहायता की रोक की धमकी देकर उसको प्रभावित किया जाता रहा है।

10.4.6 केन्द्र का बढ़ता बजट घाटा–बढ़ता हुआ बजट घाटा भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए एक चिन्ता का विषय है क्योंकि इसके कारण केन्द्र विदेशी कर्ज से दबता जा रहा है जिसका सीधा प्रभाव राज्यों की स्थिति पर पड़ता है क्योंकि केन्द्र उन्हें पूरी–पूरी आर्थिक सहायता देने के लिए समर्थ नहीं है जिससे उनकी योजनायें व्यापक रूप से प्रभावित होती है। वर्तमान में लगभग 50 हजार करोड़ रू. का ऋण चुकाना बाकी है।

विशेष : 1991 में चन्द्रशेखर के प्रधानमंत्री काल में भारत की स्थिति बहुत ही नाजुक हो गई थी। विदेशी मुद्रा का पूर्णतया अभाव हो गया था और रू. का अवमूल्यन तीव्र गति से हो रहा था तब तत्कालीन सरकार ने अपना सम्पूर्ण सोना ब्रिटेन के यहां गिरवी रखा।

10.4.7 वित्तीय संकट–संविधान के अनुच्छेद 360 के अनुसार राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह आर्थिक दिवालियापन के आधार पर वित्तीय संकट की घोषणा कर सकता है। ऐसी स्थिति में राज्यों के समस्त आर्थिक साधन संघ सरकार के नेतृत्व में आ जाते हैं। सौभाग्यवश 53 वर्ष के इतिहास में यह स्थिति पैदा नहीं हुई है।

10.4.8 वित्त आयोग–संविधान के अनुच्छेद 280 के मुताबिक राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह एक वित्त आयोग का गठन करेगा। जिसका एक सभापति तथा चार अन्य सदस्य भी होते हैं, जिनका कार्यकाल 5 वर्ष तक होता है। यह राष्ट्रपति को अपना निम्न विषयों पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है –

1) संघ और राज्यों के बीच उन करों की शुद्ध प्राप्तियों के वितरण के सम्बन्ध में जो संघ एवं राज्यों में विभाजित होते है और राज्यों के बीच ऐसे करों की प्राप्ति के उस अंश से वितरण के बारे में जो राज्यों को प्राप्त हो।

2) भारत की संचित निधि में से राज्यों के राजस्व के लिए सहायक अनुदान देने में किन सिद्धान्त पर चला जाए, इस बारे में।

3) अन्य और भी विषय जो राष्ट्रपति, सुव्यवस्थित वित्त व्यवस्था के हितों में आयोग को सौंपे उनके बारे में।

वित्त आयोग यद्यपि वित्तीय प्रावधानों में परिवर्तन की सिफारिश नहीं कर सकता है फिर भी केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्धों के क्षेत्र में आयोग का प्रभाव बहुत अधिक है, क्योंकि संविधान केवल यह बताता है कि उनको किस प्रकार वितरित किया जाएगा और वितरण सम्बन्धी सिफारिश वित्त आयोग द्वारा ही जाती है। साधारणतया वित्त आयोग की सभी सिफारिशें स्वीकार कर ली जाती है।

10.4.9 केन्द्र एवं राज्य सरकारों के उधार लेने की शक्ति–अनुच्छेद 293 के अनुसार कोई भी राज्य भारत की सीमाओं के अन्दर राज्य विधानमण्डल द्वारा नियत सीमाओं के भीतर रहते हुए राज्य की संचित निधि की गारण्टी पर धन उधार ले सकता है लेकिन राज्यों को धन उधार लेने की शक्ति पर प्रतिबन्ध है।

1) कोई भी राज्य भारत से बाहर विदेशों से कर्ज नहीं ले सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2) किसी भी ऐसे राज्य को केन्द्रीय सरकार तब तक उधार देने से इन्कार कर सकती है जब तक कि राज्यों ने पिछला उधार नहीं लौटाया है।

3) यदि पिछला कर्ज बकाया रखते हुए राज्य धन उधार लेने का आग्रह करे तो केन्द्र सरकार को अधिकार है कि वह उन शर्तों के साथ धन उधार दे जिन्हें लगाना वह उचित समझे।

इस प्रकार भारत में राज्य सरकारें संघ संरकार के ऋण भार से दबी पड़ी है अतः उन्हें संघ सरकार की शर्तों को अधिकांशतः मानना पड़ता है लेकिन यह भी सत्य है कि संघ सरकार अवांछनीय शर्तें लादने से बचती रही है।

10.5 केन्द्र–राज्य के बीच विवाद के मुद्दे

केन्द्र राज्य सम्बन्धों की वास्तविक स्थिति देश की राजनीतिक परिस्थितियों पर निर्भर करती हैं। भारतीय राजनीति में एक लंबे अर्से तक कांग्रेस का एकछत्र राज रहा। अर्थात् केन्द्र के साथ साथ राज्यों में भी कांग्रेस की सरकारें हुआ करती थी। उस समय राज्य के मुख्यमन्त्रियों का चयन भी केन्द्र (पार्टी हाईकमान) द्वारा किया जाता था। तब केन्द्र और राज्यों के बीच कोई विवादास्पद मुद्दे नहीं थे और न ही राज्य के कांग्रेसी मुख्यमन्त्री मुद्दे उठाने का प्रयास करते थे क्योंकि उनके पद पर बने रहना या न रहना केन्द्रीय इच्छा पर निर्भर था। विवाद का वास्तविक दौर 1967 से शुरू होता है। जब अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारे बनती हैं और उनके द्वारा उठाये गये मुद्दों से सम्बन्धों में विवाद उत्पन्न हो गया जो आज तक जारी हैं। वर्तमान समय में केन्द्र–राज्य के बीच निम्न विवादास्पद मुद्दे पाये जाते हैं।

10.5.1 राज्यों द्वारा अधिक स्वायत्तता की मांग–आज अनेक राज्य सरकारें यह मांग कर रही हैं कि केन्द्र कुछ महत्वपूर्ण विषय जैसे विदेश, प्रतिरक्षा, संचार, डाक–तार, मुद्रा आदि को छोड़कर अन्य सभी राज्यों को सौंप दे। इसके लिये अनेक राज्य सरकारों ने अपने स्तर पर समितियां भी बनायी जिनमें राजमन्नार समिति (तामिलनाडु) तथा खालसा प्रस्ताव (पंजाब) आदि प्रमुख है।

10.5.2 अनुच्छेद 356 का बढ़ता दुरूपयोग–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति राज्यपाल की रिपोर्ट या अन्य किसी साधन के आधार पर केन्द्रीय मन्त्रिमन्डल की सलाह के अनुसार राज्यों मे संवैधानिक तन्त्र विफल होने की स्थिति में आपात्काल की घोषणा कर सकता हैं। राज्यों का इस संबंध में यह कहना हैं कि इस अनुच्छेद का दुरूपयोग केन्द्र सरकार राज्य सरकारों के विरूद्ध राजनीतिक भावना से प्रेरित होकर करती है। वे यह तर्क देते हैं कि अब तक इसका उपयोग 112 बार व्यवहार में हुआ हैं उनमें से अधिकांशतः पर केन्द्र की इसी भावना ने काम किया हैं अतः इसका दुरूपयोग रोका जाये। सरकारिया आयोग ने भी अपने सुझाव में इस अनुच्छेद का अन्तिम विकल्प के तौर पर प्रयोग करने की सलाह दी हैं।

10.5.3 राज्यपाल का पद–अनुच्छेद 153 में राज्यपाल पद का प्रावधान किया गया है जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करता हैं। राज्यपाल राज्य में केन्द्र के अभिकर्ता के रूप में अपनी भुमिका का निर्वहन करता हैं, अनेक बार राज्यपालों ने केन्द्र सरकार को खुश करने के लिये संवैधानिक सीमाओं का उल्लघंन किया हैं। जिसमें राजभवन में बैठकर लोकतान्त्रिक सरकारों को बर्खास्त करना, केन्द्र के इशारों पर राज्य सरकार के विरूद्ध रिपोर्ट तैयार कर आपातकाल लगाना आदि। अतः इस कारण यह मांग की जा रही हैं कि राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व सम्बद्ध राज्य के मुख्यमन्त्री से सलाह ली जायें।

10.5.4 सुरक्षा बलों की तैनाती का मामला–केन्द्र राज्यों के बीच विवाद का एक मुख्य कारण सुरक्षा बलों की तैनाती का मामला हैं। राज्यों का यह मत हैं कि केन्द्र सरकार उनकी इच्छा को नजरअंदाज करते हुए बिना किसी जरूरत के अपने सुरक्षा बलों को उनके राज्यों मे तैनात कर देती हैं।

विशेष – 13 मई 2003 को सम्पन्न राष्ट्रीय परिषद् की स्थायी समिति की बैठक में भी केन्द्र एवं राज्यों के मुख्यमन्त्रियों के बीच इस मामलें पर सहमति न हो पायी है।

10.5.5 भेदभाव का आरोप–अनेक राज्य सरकारें केन्द्र पर यह आरोप लगाती हैं कि केन्द्र राजनीतिक भावना से प्रेरित होकर उन्हें पुरा सहयोग एवं सहायता नहीं देता जिसके परिणामस्वरूप उनकी अनेक योजनाएँ धरी की धरी रह जाती हैं।

विशेष – राजस्थान तथा केन्द्र के बीच पिछले 5 वर्षों (1999 से 2003) के बीच अकाल राहत कार्यों में भेदभाव के जो आरोप लगाये जा रहें है उससे यह पुष्टि होती हैं। राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री अशोक गहलोत का मत हैं कि केन्द्र उनको अपनी सहयोगी राज्य सरकारों की तुलना में बहुत कम मदद दे रहा हैं।

10.5.6 केन्द्र का बढ़ता हस्तक्षेप–राज्यों का यह मत है कि केन्द्र उनके आन्तरिक मामलों में अनुचित हस्तक्षेप कर उनकी सरकारों को अस्थिर करने का प्रयास करता हैं।

10.5.7 सरकारिया आयोग की रिपोर्ट लागू करना–समय समय पर होने वाले केन्द्र–राज्यों के सम्मेलनों में यह मांग जोर–शोर से उठायी जाती हैं कि केन्द्र–राज्यों के सम्बन्धों के बारे में गठित सरकारिया आयोग की रिपोर्टो को शीघ्र लागू किया जाये ताकि प्रान्तों को अधिक से अधिक स्वायत्तता मिले तथा विवादास्पद मुद्दों का समाधान हो सके।

10.6 सारांश

उपर्युक्त केन्द्र–राज्यों सम्बन्धों की विवेचना के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि भारतीय संविधान निर्माता एक शक्तिशाली केन्द्र बनाने के पक्षधर थे क्योंकि उस समय की राजनीतिक परिस्थितियां ऐसा सोचने को मजबूर कर रही थी। फिर भी राज्यों को पर्याप्त अधिकार प्रदान किये गये हैं। जिनकी स्थिति पूर्णतः कमजोर भी नहीं हैं। केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की वास्तविक स्थिति संघीय सरकार पर निर्भर करती हैं। यदि केन्द्र में मजबुत एवं पूर्ण बहुमत वाली सरकार हैं तो वह राज्यों पर हावी हो जायेगी। जैसा हमने 1967 तक देखने को मिलता हैं और यदि केन्द्र में गठबंधन पर आधारित सरकार हैं तो राज्यों की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी रहती हैं क्योंकि कई राज्यों में सतारूढ़ दल केन्द्र में

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Laurin

गठबन्धन के सहयोगी भी होते हैं जो केन्द्र पर दबाव बनाये रखते हैं और सौदबाजी का सहारा लेकर राज्यों के लिये अधिक से अधिक स्वायत्तता की मांग करते हैं। केन्द्र राज्यों सम्बन्धों को प्रभावित करने वाला सबसे विवादास्पद मुद्दा अनुच्छेद 356 हैं जिसका दुरूपयोग रोकने की मांग चारों तरफ से की जा रही हैं। संविधान समीक्षा आयोग भी इस पर गंभीरतापूवर्क विचार–विमर्श कर रही हैं।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. केन्द्र–राज्यों के बीच पाये जाने वाले विधायी और प्रशासनिक सम्बन्धों पर लेख लिखिये।
2. केन्द्र–राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों की समीक्षा कीजिये।
3. वे कौनसे मुद्दे है जिनसे केन्द्र–राज्यों के बीच विवाद बढ़ा है?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. निम्न पर टिप्पणिया लिखिये
   (अ) अनुच्छेद 356
   (ब) अखिल भारतीय सेवाएँ
   (स) केन्द्र पर बढ़ती आर्थिक निर्भरता
2. संघ–राज्यों के बीच राजस्व वितरण किस प्रकार किया गया हैं।
3. राज्यपाल का पद केन्द्र–राज्य सम्बन्धों को कैसे प्रभावित कर रहा है?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. केन्द्रीय सूची तथा राज्य सूची में कितने कितने विषय है?
2. भारतीय संविधान अविशिष्ट शक्तियाँ किसे प्रदान करता है?
3. सरकारिया आयोग का सम्बन्ध किस विषय से है?
4. वित्त आयोग का प्रमुख कार्य क्या है?
5. विधायी सम्बन्ध किस देश के संविधान से लिये गये है?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

बी.एल. फड़िया भारतीय संघीय व्यवस्था कैलाश प्रकाशन, भोपाल।
धर्मचन्द्र जैन, राज्यपाल रावत पब्लिकेशन, जयपुर।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–11 : राष्ट्रपति का पद एवं शक्तियाँ

संरचना

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 राष्ट्रपति पद की योग्यताएँ

11.3 राष्ट्रपति का चुनाव निर्वाचक मण्डल द्वारा

11.4 नामांकन

11.5 निर्वाचन पद्धति एवं मतों का मूल्य निर्धारण

11.6 राष्ट्रपति की पदावधि

11.7 राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया

11.8 राष्ट्रपति के विशेषाधिकार

11.9 राष्ट्रपति द्वारा पद की शपथ लेना

11.10 राष्ट्रपति के वेतन भत्ते

11.11 राष्ट्रपति की सामान्य शक्तियाँ

- 11.11.1 कार्यपालिका संबंधी शक्तियां
- 11.11.2 विधायी संबंधी शक्तियां
- 11.11.3 वित्त संबंधी शक्तियां
- 11.11.4 न्यायिक शक्तियां

11.12 राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियां

- 11.12.1 युद्ध या बाहरी आक्रमण से उत्पन्न आपातकाल की घोषणा अनुच्छेद 352
- 11.12.2 राज्य में संवैधानिक तन्त्र विफल होने से आपातकाल की घोषणा अनुच्छेद 356
- 11.12.3 वित्तीय आपातकाल अनुच्छेद 360

11.13 सारांश

11.0 उद्देश्य

इस खण्ड के अन्तर्गत भारत में अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था का प्रतीक राष्ट्रपति पद की वास्तविक स्थिति का उल्लेख किया गया है। विद्यार्थियों को इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् निम्नलिखित जानकारी प्राप्त होगी–

- अध्यक्षात्मक एवं संसदात्मक शासन पद्धति में राष्ट्रपति की वास्तविक शक्तियों को समझ सकेंगे।
- कार्यपालिका शक्ति पर राष्ट्रपति की नाममात्र शक्ति का विश्लेषण कर सकेंगे,
- आपातकाल में राष्ट्रपति पद का महत्त्व समझ सकेंगे।

11.1 प्रस्तावना

भारत में इंग्लैण्ड की भांति संसदीय प्रणाली का अनुसरण किया गया है। अतः संसदीय व्यवस्था के अनुरूप भारत में भी दो प्रकार की कार्यपालिका अर्थात् ,क नाममात्र व दूसरा वास्तविक होती है, नाममात्र का प्रमुख राष्ट्रपति होता और वास्तविक प्रधानमन्त्री एवं मंत्रिपरिषद होती है। राष्ट्रपति राज्य का प्रतीक अर्थात् राज्याध्यक्ष है, शासनाध्यक्ष नहीं, यद्यपि भारत में इंग्लैण्ड के सम्राट की भाँति राष्ट्रपति का पद वंशानुगत या राजतंत्र पर आधारित न होकर बल्कि गणतन्त्र का प्रतीक है । उसका चुनाव जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से एक निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाता है। इस प्रकार भारतीय राष्ट्रपति का चुनाव अमरीकी राष्ट्रपति की भांति करवाया जाता है पर उसके पास शक्तियाँ इंग्लैण्ड के सम्राट के समान है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 53 में इस बात का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है कि भारतीय संघ की समस्त कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ राष्ट्रपति में ही निहित होगी। राष्ट्रपति

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

अपनी कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों में सहयोग के लिये एक मन्त्री परिषद् का गठन प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में करेगा। यद्यपि वह लोकसभा में बहुमत दल के नेता को इसके लिए आमंत्रित करता है परन्तु बहुमत न मिलने की स्थिति में वह अपनी स्वविवेकीय शक्ति का प्रयोग करते हुए किसी भी दल के नेता को इस पर मनोनीत कर सकता है।

विशेष : जब 11वीं लोकसभा चुनाव हुए तब किसी भी दल की स्पष्ट बहुमत नहीं मिला तब तत्कालीन राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा ने अपनी स्वविवेकीय शक्ति का प्रयोग करते हुए भाजपा के नेता अटल बिहारी वाजपेयी को आमंत्रित किया था।

भारतीय संविधान निर्माताओं ने राष्ट्रपति को राष्ट्र का संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है और उसको संविधान के रक्षक व गणतंत्र की सुरक्षा का प्रतीक बनाया गया है। संविधान के मुताबिक संसद का एक अभिन्न अंग है। राष्ट्रपति को राजनीति व प्रशासन की धुरी बनाया गया है। जिसमें कार्यपालिका व व्यवस्थापिका व न्यायपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ निहित होती है।

11.2 राष्ट्रपति पद की योग्यताएँ

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 58 के अनुसार वही व्यक्ति राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र है जो–

1. भारत का नागरिक हो,
2. 35 वर्ष की उम्र पूरी कर चुका हो,
3. लोकसभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता रखता हो,
4. वह भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन लाभकारी पद पर न हो,
5. वह दिवालीया, पागल न हो।

अनुच्छेद 58(2) में उपबन्धित व्याख्या की गयी है कि भारत संघ का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति अथवा राज्यपाल या संघ व राज्यों के मंत्रियों के पद को लाभकारी पद नहीं माना गया है। इन पर रहते हुए कोई व्यक्ति निर्वाचित हो जाता है तो वह योग्य होगा। अनुच्छेद 59 के अनुसार राष्ट्रपति किसी सदन का सदस्य नहीं होगा।

11.3 राष्ट्रपति का चुनाव निर्वाचक मण्डल द्वारा

भारतीय राष्ट्रपति का चुनाव जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से एक निर्वाचक मण्डल के द्वारा होता हैं अनुच्छेद 54 के अनुसार इस निर्वाचक मण्डल में (अ) संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य तथा (ब) राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य होते हैं।

संविधान सभा में बोलते हुए पं. नेहरू ने कहा था ष्राष्ट्रपति के निर्वाचक मण्डल में संघीय संसद के साथ–साथ राज्यों की विधान मण्डलों के सदस्यों को सम्मिलित करके इस बात का प्रयास किया गया है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन दलीय आधार पर न हो तथा संघ के इस सर्वोच्च पद को वास्तव में राष्ट्रपति पद का रूप प्राप्त हो सके।ष

यदि राष्ट्रपति के चुनाव के समय निर्वाचक मण्डल की कुछ सीटें रिक्त हो तो उस निर्वाचन को अयोग्य या असंवैधानिक करार नहीं दिया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त यह भी व्यवस्था है कि यदि राष्ट्रपति के चुनाव के समय किसी राज्य की विधानसभा निलम्बित की हुई है तो उससे सदस्य को राष्ट्रपति के चुनाव में मत देने का पूरा अधिकार होता है।

विशेष : जब 1997 में राष्ट्रपति का चुनाव हुआ तब उत्तरप्रदेश विधानसभा स्थगित की हुई थी तब वहां के सदस्यों को मतदान का अधिकार दिया गया। यह घटना भारतीय राजनीति में पहली बार घटी है।

11.4 नामांकन

राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के लिए यह आवश्यक है कि उसका नामांकन पत्र पर कम से कम 50 सदस्यों द्वारा प्रस्तावित तथा 50 सदस्यों द्वारा अनुमोदित होना आवश्यक होता हैं तथा 15000 रू. जमानत राशि जमा करवानी पड़ती है। जब कोई उम्मीदवार 6 भाग से कम मत प्राप्त करता है तो उसकी जमानत जब्त हो जाती है। यह परिवर्तन 5 जून 1997 को एक अध्यादेश द्वारा किया गया था। इसके अतिरिक्त यह भी प्रावधान किया गया है कि यदि कम से कम 50–50 निर्वाचक चुनाव को सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दे सकते हैं।

11.5 निर्वाचन पद्धति एवं मतों का मूल्य निर्धारण

राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निर्वाचक मण्डल द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से एकल संक्रमणीय मत द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली के आधार पर किया जाता है। इस पद्धति के अनुसार चुनाव में सफलता प्राप्त करने के लिए उम्मीदवार को न्यूनतम कोटा प्राप्त करना आवश्यक होता है। राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए न्यूनतम कोटा निर्धारित करने का सूत्र निम्न प्रकार है –

$$\text{न्यूनतम कोटा} = \frac{\text{दिए गए मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचन होने वाले प्रत्याशियों की संख्या} + 1}$$

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

न्यूनतम कोटा की व्यवस्था इसलिए रखी गई है जिससे मतदाताओं के स्पष्ट बहुमत का समर्थन प्राप्त व्यक्ति ही राष्ट्रपति पद प्राप्त कर सके तथा वह पद के अनुकूल सम्मान का पात्र हो सके।

राष्ट्रपति के निर्वाचन में परस्पर राज्यों के सदस्यों के मतों में एकरूपता लाने के लिए तथा एकत्रित रूप से सब राज्यों तथा संघ के मतदाताओं के मतों में समानता लाने के लिए प्रत्येक संसद सदस्य तथा विधानसभाओं के प्रत्येक सदस्य के मतों के मूल्यों के निर्धारण की एक विशेष व्यवस्था रखी गई है। इनका सूत्र निम्न प्रकार है :

राज्य या संघीय क्षेत्र की विधानसभा के सदस्यों के मतों का मूल्य $= \frac{\text{राज्य या संघीय क्षेत्र की जनसंख्या}}{\text{राज्य विधानसभा या संघीय क्षेत्र की विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों की संख्या}} \div 1000$

संसद सदस्य के मत का मूल्य $= \frac{\text{सब राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों के प्राप्त मतों की संख्या}}{\text{सब राज्यों की विधान सभाओं के सदस्यों को प्राप्त मतों की संख्या}}$

इस तरह से निर्धारित मतों के मूल्यों के आधार पर दिए गए मतों की गणना की जाती है। प्रथम वरीयता में यदि कोई उम्मीदवार 50प्रतिशत मत प्राप्त कर लेता है तो उसे विजयी घोषित किया जाता है। यदि प्रथम मतगणना में कोई उम्मीदवार 50 प्रतिशत मत प्राप्त नहीं करता है तब प्रथम वरीयता में अन्तिम रहे उम्मीदवार के मतों को अन्य उम्मीदवारों में बांट दिया जाता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती है जब तक कोई उम्मीदवार 50 प्रतिशत मत प्राप्त नहीं कर सकता।

विशेष : स्वतंत्र भारत के 50 वर्ष के इतिहास में मात्र एक बार 1969 में जब प्रथन वरीयता में कोई उम्मीदवार 50 प्रतिशत से अधिक मत प्राप्त नहीं कर सका।

11.6 राष्ट्रपति की पदावधि

संविधान के अनुच्छेद 56 (1) में उल्लेख है कि राष्ट्रपति के पद का कार्यकाल 5 वर्ष होगा परन्तु कुछ विभिन्न कारणों से वह पद मुक्त हो सकता है।

1. राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति को अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा त्याग पत्र दे सकता है।
2. यदि राष्ट्रपति संविधान का उल्लंघन करता है तो उसके विरूद्ध महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है।

11.7 राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाने की प्रक्रिया (अनुच्छेद 61)

संविधान के अनुच्छेद 61 में राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग लगाने का प्रावधान किया गया है। महाभियोग संविधान का उल्लंघन करने या अतिक्रमण करने पर लगाया जाता है। 1. इसके लिए यह आवश्यक है कि जिस सदन में यह प्रस्ताव रखा जाता है उसके कम से कम 1/4 सदस्य उस पर हस्ताक्षर करे। 2. प्रस्ताव को लिखित नोटिस कम से कम 14 दिन पूर्व प्राप्त होना चाहिए। 11. यदि प्रस्ताव को यह सदन अपने 2/3 बहुमत से पास कर देता है तब यह माना जाएगा कि उस पर महाभियोग लगाया जा सकता है। 4. तब दूसरा सदन उस महाभियोग की जांच पड़ताल करेगा जिसमें वह यह देखने का प्रयास करेगा कि राष्ट्रपति पर लगाये गये आरोप सही है या गलत। 5. जांच अथवा अनुसंधान के समय राष्ट्रपति को अपना पक्ष रखने का अधिकार है। 6. यदि जांचकर्ता सदन इस महाभियोग प्रस्ताव को 2/3 बहुमत से पास कर देता है तो राष्ट्रपति को पदच्युत माना जाएगा।

विशेष : भारत की स्वतन्त्रता के 50 वर्ष के इतिहास में किसी भी राष्ट्रपति को महाभियोग का सामना नहीं करना पड़ा है। यद्यपि 1979 में राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी द्वारा चरणसिंह को प्रधानमंत्री नियुक्त किये जाने के घटनाक्रम के परिप्रेक्ष्य में जनता पार्टी ने राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने की बात कही पर ऐसा नहीं हुआ।

11.8 राष्ट्रपति के विशेषाधिकार (अनुच्छेद 361)

संविधान का अनुच्छेद 361 राष्ट्रपति को निम्न विशेषाधिकार प्रदान करता है –

1. राष्ट्रपति अपने पद की शक्तियों के प्रयोग के लिए कर्तव्यों का पालन के लिए न्यायालय के प्रति उत्तरदायी नहीं होगा।
2. राष्ट्रपति जब तक पद पर रहता है तब तक उसके विरूद्ध किसी भी प्रकार का मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है।
3. राष्ट्रपति को उसके कार्यकाल के दौरान बंदी नहीं बनाया जा सकता।

11.9 राष्ट्रपति द्वारा पद की शपथ लेना (अनुच्छेद 60)

अनुच्छेद 60 के अनुसार प्रत्येक राष्ट्रपति को पद की शपथ लेनी होती है। उसको शपथ सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश दिलाता है। उसकी अनुपस्थिति में सर्वोच्च न्यायालय के वरिष्ठतम न्यायाधीश शपथ दिलाता है।

11.10 राष्ट्रपति के वेतन एवं भत्ते

भारतीय राष्ट्रपति को संचित निधि से वेतन मिलता है। वर्तमान में राष्ट्रपति को वेतन के रूप में 50000 रू. प्रतिमाह, इसके अतिरिक्त निशुल्क आवास, संसद द्वारा स्वीकृत अन्य भत्ते दिये जाते है। सेवानिवृति के पश्चात् 3 लाख रू. वार्षिक पेंशन मिलती है तथा सेवानिवृति के पश्चात् सचिवालय के लिए 12000 वार्षिक मिलते है। राष्ट्रपति जिस

Jan Vishwa Bharati Institute (Deemed University), Aligarh

विशाल राष्ट्रपति भवन में निवास करता है वह शान–शौकत वाला है। जिसमें 304 कमरे, 3 बड़े हॉल, एक शानदार गार्डन है जिसे मुगल गार्डन कहा जाता है। यह 15 एकड़ क्षेत्र में फैला हुआ है। इनके अलावा राष्ट्रपति को निःशुल्क बिजली, पानी, रेल, हवाई यातायात की सुविधा मिलती है। राष्ट्रपति को प्राप्त वेतन भत्तों व अन्य सुविधाओं के कारण उसका पद बड़ा ही महत्वपूर्ण पद बन गया है।

11.11 राष्ट्रपति की सामान्य शक्तियाँ

संविधान द्वारा सामान्यकाल में राष्ट्रपति को निम्न शक्तियाँ दी गयी हैं इसमें –

11.11.1 **कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ**–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार भारत संघ की तमाम कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ राष्ट्रपति में निवास करेगी इस प्रकार शासन का समस्त कार्य राष्ट्रपति के नाम से होता हैं ।

(1) प्रधानमन्त्री एवं अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति : भारतीय संविधान के अनुसार राष्ट्रपति अपने कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों में सहयोग के लिये प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में एक मन्त्रिमण्डल का गठन करेगा। सामान्यतया राष्ट्रपति लोकसभा में बहुमत दल के नेता को इस पद पर मनोनीत करता हैं। लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों में, जैसे–लोकसभा में किसी दल के पास स्पष्ट बहुमत न हो या बहुमत दल में दो समान नेताओं द्वारा दावा पेश किया जा रहा हो तो राष्ट्रपति अपने स्वविवेक का प्रयोग करते हुए किसी भी दल के नेता को प्रधानमन्त्री के पद पर मनोनीत कर सकता हैं। जहाँ तक अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति का प्रश्न है तो सिद्धान्त: यह कार्य राष्ट्रपति करता है लेकिन व्यवहार में वह उन्हीं को मन्त्री बनाता हैं जिनकी सूची प्रधानमन्त्री देता हैं।

(2) अन्य महत्वपूर्ण नियुक्तियां व पदच्युति की शक्ति : राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री एवं मन्त्रियों की नियुक्ति के अलावा अन्य महत्वपूर्ण पदाधिकारियों की नियुक्ति करता हैं, जैसे–राज्यों के राज्यपालों, उच्चतम एवं उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों तथा अन्य न्यायाधीशों, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक, महान्यायवादी, संघ लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों आदि की नियुक्ति करता हैं। इसके अलावा प्रशासनिक दशा सुधारने के लिये विभिन्न आयोग जेसे राजभाषा आयोग, निर्वाचन आयोग, अन्तर्राज्यीय परिषद, वित्त आयोग आदि का गठन करता हैं। राष्ट्रपति व्यक्तिगत रूप से मन्त्रियों, राज्यपालों एवं महान्यायवादी को पदमुक्त कर सकता है, क्योंकि यह सिद्धान्त: राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पद पर बने रह सकते हैं लेकिन व्यवहार में यह निर्णय राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री एवं मन्त्रिमण्डल की सलाह से करता हैं।

(3) विदेश नीति सम्बन्धी शक्तियाँ : राष्ट्रपति द्वारा भारत का विदेशों में प्रतिनिधित्व बढ़ाने के लिये दूसरे देशों में राजदूत एवं उच्चायुक्तों की नियुक्ति करता हैं तथा विदेशों से आने वाले राजदूतों एवं उच्चायुक्तों का परिचय–पत्र स्वीकार करता हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर की जाने वाली सभी सन्धियाँ एवं समझौते राष्ट्रपति के नाम से ही किये जाते हैं।

(4) सैनिक क्षेत्र में शक्तियाँ : भारत का राष्ट्रपति सेना का प्रधान सेनापति होता हैं, इस कारण तीनों सेनाओं की सेनापतियों की नियुक्ति राष्ट्रपति के द्वारा की जाती हैं और दुसरे देशों के साथ युद्ध या शान्ति की घोषणा भी राष्ट्रपति करता हैं लेकिन युद्ध सम्बन्धी निर्णय राष्ट्रपति संसद की स्वीकृति से ही लेता हैं । वह अपनी इच्छा से किसी भी प्रकार की घोषणा इस सम्बन्ध में नहीं कर सकता।

11.11.2 **विधायी शक्तियाँ**–राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग होने के कारण कानून निर्माण के क्षेत्र में उसे व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं जो इस प्रकार है –

1. राष्ट्रपति संसद का अधिवेशन बुलाता हैं, सत्रावासन करता हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर लोकसभा को समय से पूर्व ही भंग कर सकता हैं । अब तक आठ बार लोकसभा को समय से पूर्व भंग किया जा चुका हैं लेकिन व्यवहार में यह सभी कार्य राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की सलाह से करता हैं । जहाँ तक लोकसभा को भंग करने की बात हैं, यदि मन्त्रिमण्डल का लोकसभा में बहुमत हैंऔर वह भंग करने की सलाह देता हैं तो राष्ट्रपति सलाह मानने को बाध्य है और बहुमत न होने की स्थिति में सलाह मानने को बाध्य नहीं हैं ।
2. राष्ट्रपति दोनों सदनों के सामने अपना उद्घाटन भाषण दे सकता है। उद्घाटन भाषण में सरकार की नीतियाँ, कार्यक्रम व सरकार की उपलब्धियों का उल्लेख रहता हैं। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि अभिभाषण को मंत्रिमण्डल तैयार करता है।
3. यदि किसी साधारण विधेयक को लेकर दोनों सदनों में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं, तो राष्ट्रपति दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुला सकता है। यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि इस अधिवेशन की अध्यक्षता लोकसभा का अध्यक्ष (स्पीकर) करता है।
4. संसद से हमारा आशय लोकसभा + राज्यसभा + राष्ट्रपति = संसद अर्थात् राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग है। संसद द्वारा पारित किसी भी विधेयक को पुनः विचार के लिए भेज सकता है। तब संसद यदि उस विधेयक को 2/3 बहुमत से पुनः पास कर देती है तब राष्ट्रपति को स्वीकृति प्रदान करना अनिवार्य हो जाता हैं।

   विशेष : राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्वकाल में सरकार द्वारा संसद से दो विधेयक पास करवाये एक डाकपाल विधेयक तथा दूसरा जन प्रतिनिधियों को पुनः बुलाने से सम्बन्धित थे, लेकिन तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने इन पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया था।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. राष्ट्रपति को यह अधिकार है कि वह संसद को अपना संदेश भेज सकता है। जिसके माध्यम से वह संसद को नया कानून बनाने की बात कहता है। यह हमने यू.एस.ए. संविधान से ग्रहण किया है।
6. अध्यादेश : राष्ट्रपति को अध्यादेश जारी करने का अधिकार हैं । अध्यादेश से हमारा आशय उस आदेश से है जब जनता को कोई ऐसे कानून की आवश्यकता पड़ती है, जो उपलब्ध नहीं है और संसद का अधिवेशन नहीं चल रहा है, तब राष्ट्रपति मंत्रिमण्डल की सलाह पर एक आदेश जारी करता है, जिसे हम अध्यादेश कहते हैं। अध्यादेश की अवधि 6 माह या 6 सप्ताह होती है। अर्थात् उस आदेश को 6 माह के भीतर होने वाले संसद के अधिवेशन में पास करवाना अनिवार्य होता है। यदि संसद उसे पास कर देती है तो वह कानून बन जाता है अन्यथा समाप्त कर दिया जाता है। (अनुच्छेद. 123)
7. राष्ट्रपति को अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह, लक्षद्वीप, मिनिकाय और अमीनदीवी समूह आदि संघीय क्षेत्रों की शांति, विकास और अनुशासन के लिए नियम बनाने का अधिकार है।
8. राष्ट्रपति राज्यसभा में कला, विज्ञान, साहित्य, पत्रकारिता, समाजसेवा आदि के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान एवं ख्याति प्राप्त 12 सदस्यों को मनोनीत करता है। (अनुच्छेद 331)
9. राष्ट्रपति को यह आभास हो जाये कि लोकसभा में आंग्ल भारतीयों को उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिला है, तब वह इस वर्ग के दो सदस्यों का मनोनयन करता है। (अनुच्छेद 81)

11.11.3 वित्त संबंधी शक्तियाँ–राष्ट्रपति को संविधान द्वारा वित्तीय क्षेत्र में भी कई महत्वपूर्ण षक्तियाँ प्राप्त हैं, जो निम्नलिखित है –

1. प्रत्येक वित्त वर्ष में राष्ट्रपति की स्वीकृति से वित्तमंत्री लोकसभा में बजट प्रस्तुत करता है।
2. राष्ट्रपति वित्त आयोग के अध्यक्ष की नियुक्ति करता हैं, जो उसकी सिफारिश पर राज्यों में आय का बंटवारा करते हैं।
3. राष्ट्रपति का भारत की आकस्मिक निधि पर भी नियंत्रण होता है और वह संसद की स्वीकृति के बिना इससे अचानक आ पड़ने वाले खर्चों के लिए कुछ धन सरकार को देता है।
4. कोई धन विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश बिना संसद के सामने प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।
5. वे संसद से पूरक अतिरिक्त और आपदा अनुदानों की मांग कर सकते हैं।
6. राष्ट्रपति ही तय करता है कि पटसन की निर्यात कर की आय में से कुछ राज्यों को बदले में क्या धन राशि मिलनी चाहिए।

11.11.4 न्यायिक शक्तियाँ (अनुच्छेद 73)– राष्ट्रपति को न्यायपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ अनुच्छेद 73 में वर्णित है। जो इस प्रकार हैं–

1. राष्ट्रपति किसी को अपराध के अपराधी की क्षमा कर सकता है, कम या स्थगित कर सकता है। राष्ट्रपति ऐसा मंत्रिमण्डल की सलाह से कर सकता है।
2. राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों व हाईकोर्ट के मुख्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करता है।
3. राष्ट्रपति किसी राष्ट्रीय महत्व के विषय के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय से सलाह ले सकता है परन्तु सर्वोच्च न्यायालय की इच्छा पर है कि वह राष्ट्रपति को सलाह दे या न दे।

विशेष : राष्ट्रपति शंकर दयाल शर्मा ने राम जन्मभूमि व बाबरी मस्जिद के मुद्दे पर सर्वोच्च न्यायालय से सलाह मांगी पर उसने इन्कार कर दिया।

विशेष : राष्ट्रपति श्री ए.पी.जे.अब्दुल कलाम ने गुजरात सरकार और चुनाव आयोग के बीच विवाद उत्पन्न होने पर यह सलाह मांगी की चुनाव आयोग को अधिक महत्व दिया जाये या दो अधिवेशनों के बीच के अन्तर को अधिक महत्व दिया जाये ।

11.12 राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ

भारतीय संविधान राष्ट्रपति को आपातकालीन या संकटकालीन शक्तियाँ प्रदान करता है। यह हमने जर्मनी के वाइमर संविधान से ग्रहण किया है। संविधान में राष्ट्रपति को तीन प्रकार की आपातकालीन शक्तियों का वर्णन मिलता है। जो इस प्रकार हैं –

11.12.1 युद्ध या बाह्य आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह से उत्पन्न आपातकाल की घोषणा (अनुच्छेद 352)–अनुच्छेद 352 के अनुसार यदि राष्ट्रपति को आभास हो कि युद्ध , बाहरी आक्रमण या आन्तरिक शस्त्र विरोध के कारण भारत या उसके किसी भाग में शान्ति या व्यवस्था नष्ट होने का भय उत्पन्न हो रहा हैं तो राष्ट्रपति आपातकाल की घोषणा कर सकता हैं । संसद की स्वीकृति के बाद यह घोषणा दो माह तक लागू रह सकती थी और संसद के बाद शासन इसे जब तक लागु रख सकता था । 44 वें संविधान संशोधन द्वारा इसके सम्बन्ध में कुछ व्यवस्था की गयी हैं जो इस प्रकार हैं :

(1) मन्त्रिमण्डल की लिखित सलाह के बिना राष्ट्रपति आपातकाल की घोषणा नहीं कर सकता।

Jan Kishwa Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(2) आपातकाल की घोषणा केवल आन्तरिक अशान्ति के आधार पर नहीं की जा सकती।

(3) आपातकाल की घोषणा का अनुमोदन एक माह के भीतर संसद के दोनों सदनों के पृथक पृथक बहुमत से होना जरूरी हैं और एक आपातकाल छः माह तक प्रभावी रहेगा।

(4) आपातकाल की घोषणा को न्यायालय में चुनौति नहीं दी जा सकती।

(5) राष्ट्रपति चाहे तो ऐसी घोषणा सारे देश या कुछ भाग में कर सकता हैं।

(6) अनुच्छेद 21 में उल्लेखित जीवन की स्वतन्त्रता के अलावा अन्य सभी अधिकार रद्द किये जा सकते हैं।

अनुच्छेद 352 का प्रभाव :

(1) जीवन की स्वतन्त्रता को छोड़कर अन्य सभी स्वतन्त्रतायें समाप्त की जा सकती हैं।

(2) संवैधानिक उपचारों का अधिकार समाप्त होने के कारण न्यायालय की शरण नहीं ली जा सकती।

(3) संघ राज्य को कार्यपालिका सम्बन्धी शक्ति के प्रयोग पर निर्देश दे सकता हैं।

(4) संसद राज्य सूची में कानून बना सकती हैं।

अनुच्छेद 352 का व्यवहार में प्रयोग :

अनुच्छेद 352 के तहत् अब तक तीन बार आपातकाल की घोषणा की गयी है –

1. 1962 में भारत व चीन के आक्रमण होने पर
2. 1971 में भारत व पाकिस्तान के आक्रमण होने पर
3. 1975 में आन्तरिक अशान्ति और अव्यवस्था के आधार पर

11.12.2 राज्य में संवैधानिक तन्त्र विफल होने से आपातकाल की घोषणा (अनुच्छेद 356)–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 356 राष्ट्रपति को यह अधिकार देता हैं कि यदि उसे राज्यपाल की रिपोर्ट या किसी अन्य स्त्रोत से आभास हो जाये कि राज्य का संवैधानिक तन्त्र विफल हो चुका हैं तब वहाँ आपातकाल की घोषणा कर सकता हैं। जिसे एक महीने के अन्दर संसद के दोनों सदनों के पृथक पृथक बहुमत से अनुमोदन करवाना अनिवार्य हैं। यदि ऐसा नहीं होता हैं तो आपातकाल की घोषणा को नापस लेना पढ़ता हैं।

विशेष : 1999 में बिहार में राष्ट्रपति शासन की घोषणा का अनुमोदन लोकसभा ने तो कर दिया लेकिन राज्यसभा ने नहीं किया इस स्थिति में राष्ट्रपति के.आर. नारायणन द्वारा अनुच्छेद 356 के तहत् बर्खास्त की गयी राज्य सरकार को भारतीय संसद इतिहास में पहली बार पुनः बहाल करना पड़ा।

44 वें संविधान संशोधन से पूर्व राज्य में राष्ट्रपति शासन की अवधि तीन वर्ष तक जारी रह सकती थी लेकिन अब इस व्यवस्था में परिवर्तन कर दिया गया हैं। राज्य में राष्ट्रपति शासन एक वर्ष से अधिक अवधि तक जारी नहीं रह सकता यदि जारी रखना भी हैं तो प्रस्ताव संसद से पास कराना होगा और प्रस्ताव उन्हीं परिस्थितियों में पास किया जाता हैं जब या तो सम्पूर्ण देश में आपातकाल हैं या चुनाव आयोग ने यह प्रमाण पत्र दे दिया हैं कि राज्य में चुनाव कराने योग्य स्थिति नहीं हैं।

अनुच्छेद 356 का प्रभाव :

(1) इस प्रकार की स्थिति में राज्य की कानून निर्माण की शक्ति संसद को मिल जाती हैं।

(2) राष्ट्रपति चाहे तो राज्य के किसी भी अधिकरी की शक्ति अपने हाथ में ले सकता है।

(3) वह घोषणा के उद्देश्य की पूर्ति के लिये उच्च न्यायालय की शक्तियों को छोड़कर अन्य रागरत शक्तियाँ राष्ट्रपति अपने हाथ गें ले राकता हैं।

(4) संकटकाल की घोषणा के समय राष्ट्रपति अनुच्छेद 21 में उल्लिखित जीवन की स्वतन्त्रता के अतिरिक्त अन्य सभी स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाया जा सकता हैं।

व्यवहार में प्रयोग :

अनुच्छेद 356 का व्यवहार में प्रयोग लगभग 120 बार किया जा चुका हैं। ऐसा माना जाता हैं कि इस अनुच्छेद का अधिकांशतः दुरूपयोग ही किया गया हैं। केन्द्र में बनने वाली सरकारें अपने राजनीतिक विरोधियों की राज्य सरकारों को बर्खास्त करने के लिये इस अनुच्छेद का प्रयोग तलवार के रूप में करती हैं।

वर्तमान में यह बात तूल पकड़ी हुई है कि अनुच्छेद 356 को समाप्त किया जाए। इसके विरोधियों का यह तर्क है कि इसका दुरूपयोग बहुत अधिक बढ़ गया है और केन्द्र में सत्तारूढ़ दल अपने विरोधियों की सरकारें जो राज्यों में कार्यरत है उनका पतन कर देता है। कुछ दलों का मत है कि इसको समाप्त करने की बजाय इसमें संशोधन किया जाए ताकि इसका दुरूपयोग को रोका जा सके। सरकारिया आयोग ने भी इसको समाप्त करने की सिफारिश नहीं की है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

11.12.3 वित्तीय आपातकाल (अनुच्छेद 360)–अनुच्छेद 360 में यह उपबन्ध किया है कि यदि राष्ट्रपति को आभास हो जाए कि भारत अथवा उसके किसी भी भाग की वित्तीय स्थिरता अथवा साख संकट में है, तो वह वित्तीय संकट की घोषणा कर सकता है। ऐसी स्थिति में

1. वह किसी भी राज्य को आवश्यक निर्देश दे सकता है।
2. वह राज्य के सेवारत कर्मचारियों के वेतन तथा भत्तों में कमी कर सकता है।
3. धन विधेयक तथा अन्य वित्तीय विधेयक स्वीकृति के लिए अपने पास भेजने का निर्देश दे सकता है।
4. वह सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों सहित केन्द्रीय सरकार के सेवारत् कर्मचारियों के वेतन तथा भत्तों में कमी करने का आदेश दे सकता है।
5. अनुच्छेद 360 में जारी की गई उद्घोषणा की कालावधि 2 महीने की होगी। यदि उक्त उद्घोषणा दो महीने की समाप्ति के पहले संसद द्वारा पारित संकल्प से अनुमोदित नहीं कर दी जाती है तो 2 महीने की समाप्ति पर प्रवर्तन से न रहेगी।

व्यवहार में प्रयोग :

भारत के संसदीय इतिहास में अनुच्छेद 360 के तहत् वित्तीय आपातकाल के उपयोग अब तक एक बार भी नहीं हुआ है।

11.13 सारांश

संविधान द्वारा राष्ट्रपति को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं लेकिन संविधान द्वारा स्थापित संसदात्मक शासन व्यवस्था में राष्ट्रपति मात्र संवैधानिक प्रमुख होता है, वास्तविक प्रधान नहीं। संविधान में स्पष्ट रूप से प्रावधान किया गया है कि राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की सलाह के अनुसार कार्य करेगा। 44 वें संविधान संशोधन (1978) के अनुसार राष्ट्रपति चाहे तो मन्त्रिमण्डल द्वारा दी गयी सलाह को एक बार लौटा सकता है लेकिन यदि पुनः भेजी जाती है तो राष्ट्रपति मानने को बाध्य है। भारतीय राष्ट्रपति लोकतन्त्र और संविधान के रक्षक के रूप में अपनी भूमिका का निर्वहन करता है और इस हेतु अनेक ठोस भी कदम उठाये हैं। जिसमें पूर्व राष्ट्रपति के.आर.नारायणन की भूमिका उल्लेखनीय है जिन्होंने अक्टूबर 1997 में उत्तरप्रदेश तथा सितम्बर 1999 में बिहार से सम्बन्धित आपातकाल से सम्बन्धित मन्त्रिमण्डल की सलाह को पुनः लौटाकर लोकतन्त्र की हत्या होने से बचाया। वर्तमान राष्ट्रपति श्री ए.पी.जे.अब्दुल कलाम भी अपनी सक्रियता का परिचय देकर इस पद की गरिमा को बढ़ा रहे हैं। राष्ट्रपति की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में पूर्व राष्ट्रपति आर.वेंकटरमण ने ठीक ही कहा राष्ट्रपति का पद आपातकालीन प्रकाश व्यवस्था की भाँति है। संकट की स्थिति में इसकी भूमिका स्वतः प्रारम्भ हो जाती है और संकट समाप्त होने पर स्वतः समाप्त हो जाती है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रपति की चुनाव प्रक्रिया को विस्तार से समझाईये
2. राष्ट्रपति की सामान्यकालीन शक्तियों की विवेचना कीजिये
3. राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों की विवेचना कीजिये

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार के लिये कौन कौन सी योग्यताएँ आवश्यक है ?
2. राष्ट्रपति को पद से हटाने की प्रक्रिया पर प्रकाश डालिये
3. क्या भारत का राष्ट्रपति रबड़ की मोहर है ? स्पष्ट कीजिये

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रपति का चुनाव किस पद्धति के आधार पर होता है ?
2. राष्ट्रपति लोकसभा तथा राज्यसभा में कितने–कितने सदस्यों को मनोनीत करता है ?
3. राष्ट्रपति की तुलना किस देश के संवैधानिक प्रधान से की जाती है ।
4. राष्ट्रपति का वेतन बताओं ?
5. राष्ट्रपति के निर्वाचन मण्डल में कौन–कौन शामिल होते हैं ?
6. भारत का राज्याध्यक्ष कौन होता है ?
7. अनुच्छेद 352 का प्रयोग अब तक कितनी बार हुआ हैं ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सुभाष माथुर, हमारा संवैधानिक प्रमुख लतेश प्रकाशन, जोधपुर ।

सुभाष कश्यप प्रेसीडेण्ट रूल इन द स्टेटस लोकसभा सचिवालय, नई दिल्ली ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–12 : प्रधानमंत्री एवं मंत्रिपरिषद

संरचना

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 प्रधानमंत्री की नियुक्ति

12.3 प्रधानमंत्री पद की योग्यताएँ

12.4 प्रधानमंत्री की शक्तियाँ

- 12.4.1 मंत्रिमण्डल के निर्माता के रूप में
- 12.4.2 राष्ट्रपति व मंत्रिपरिषद् के बीच कड़ी के रूप में
- 12.4.3 सदन का नेता
- 12.4.4 सम्पर्क सूत्र के रूप में
- 12.4.5 राष्ट्रीय नीति का निर्माता
- 12.4.6 प्रशासन की धुरी
- 12.4.7 केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की मुख्य कड़ी
- 12.4.8 लोकसभा भंग करने का अधिकार
- 12.4.9 विदेश नीति का निर्माता
- 12.4.10 दल का प्रमुख नेता
- 12.4.11 संरक्षण की व्यापक शक्तियाँ
- 12.4.12 वित्तीय शक्तियाँ
- 12.4.13 प्रधानमंत्री और महानिर्वाचन
- 12.4.14 प्रधानमंत्री और योजना आयोग
- 12.4.15 प्रधानमंत्री और अनुग्रह शक्तियाँ
- 12.4.16 प्रधानमंत्री और आपातकाल

12.5 मन्त्रिपरिषद् की रचना या संगठन

- 12.5.1 प्रधानमंत्री की नियुक्ति
- 12.5.2 मंत्रियों का चयन
- 12.5.3 मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या
- 12.5.4 कार्य–विभाजन
- 12.5.5 मंत्रियों के लिए आवश्यक योग्यताएँ
- 12.5.6 मंत्रियों द्वारा शपथ ग्रहण
- 12.5.7 मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल
- 12.5.8 मन्त्रियों का वेतन तथा भत्ते

12.6 मन्त्रिपरिषद् की कार्यविधि

- 12.6.1 सामूहिक उत्तरदायित्व श
- 12.6.2 गोपनीयता

12.7 मंत्रिपरिषद् की शक्तियां

- 12.7.1 राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करना

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

12.7.2 व्यवस्थापन संबंधी कार्य
12.7.3 आपातकाल की घोषणा की शक्ति
12.7.4 राष्ट्रीय कार्यपालिका पर सर्वोच्च नियंत्रण
12.7.5 मन्त्रिमण्डल का समन्वयकारी कार्य
12.7.6 वित्तीय कार्य
12.7.7 विदेश नीति का संचालन
12.7.8 नियुक्ति संबंधी कार्य
12.7.9 अन्य कार्य
12.8 प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद् का संबंध
12.8.1 प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद् का निर्माता
12.8.2 विभागों का बंटवारा
12.8.3 मंत्रियों के विभागों में परिवर्तन
12.8.4 पद से हटाना
12.8.5 निर्देश देना
12.8.6 बैठकों की अध्यक्षता
12.8.7 समन्वय
12.8.8 संसद में घोषणा
12.9 सारांश

12.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत संसदीय शासन प्रणाली का वास्तविक शासक प्रधानमंत्री एवं मंत्रिपरिषद् का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में निम्न जानकारी प्राप्त होगी।

- प्रधानमंत्री पद की गरिमा एवं प्रतिष्ठा को समझ सकेंगे,
- संसदीय शासन में वास्तविक कार्यपालिका शक्तियों के स्रोत की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- मंत्रिपरिषद् के कार्यों तथा शक्तियों को समझ सकेंगे,
- मंत्रिपरिषद् का संसद के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व सिद्धान्त को समझ सकेंगे
- मंत्रिपरिषद् का वर्तमान में महत्त्व के बारे में जान सकेंगे।

12.1 प्रस्तावना

भारत में संसदीय व्यवस्था का अनुसरण किया गया हैं। यह व्यवस्था हमने ब्रिटेन से ग्रहण की है। यह एक ऐसी पद्धति है जिसमें दो प्रकार की कार्यपालिका पायी जाती है। अर्थात् नाममात्र व वास्तविक कार्यपालिका, नाममात्र की कार्यपालिका का प्रमुख राष्ट्रपति होता है तथा वास्तविक कार्यपालिका का प्रधानमंत्री होता है।

संविधान में इस तथ्य का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया हुआ है कि राष्ट्रपति को कार्यों में सहयोग करने के लिए एक कैबिनेट होगी जिसका प्रमुख प्रधानमंत्री होगा। साथ ही यह भी उल्लिखित है कि संवैधानिक प्रमुख की शक्तियों का वास्तविक प्रयोगकर्त्ता प्रधानमंत्री व उसका मंत्रिमण्डल होगा। प्रधानमंत्री पद का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 75 में किया गया है।

भारत की संसदीय व्यवस्था में प्रधानमंत्री की सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उसे देश की राजनीतिक व्यवस्था की धुरी, देश का हृदय स्थल, गुरूत्वाकर्षण का केन्द्र, राजनीतिक शासक, सर्वोच्च शासक और सर्वोच्च मुख्यमंत्री की संज्ञा दी जाती है। निस्संदेह, प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद् व्यवहार में, राष्ट्रपति की सारी शक्तियों का उपयोग करती है। इसीलिए जहां राष्ट्रपति को देश का औपचारिक या सांविधानिक शासक समझा जाता है, वहीं प्रधानमंत्री को देश का वास्तविक या राजनीतिक शासक समझा जाता है। जहाँ तक प्रधानमंत्री की नियुक्ति का प्रश्न है, तो संविधान के अनु 75(1) के अनुसार प्रधानमंत्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा। राष्ट्रपति बहुमत दल के नेता को इस पद पर नियुक्त करता है। लेकिन कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में जब किसी पार्टी को स्पष्ट बहुमत न मिले, तब वह अपने स्वविवेक का प्रयोग करते हुए किसी भी व्यक्ति की नियुक्ति कर सकता है।

प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल का निर्माता है। उसी के द्वारा मंत्रियों की नियुक्ति की जाती है, विभागों का बंटवारा, उसके द्वारा बैठकों की अध्यक्षता की जाती है। वह सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल को एकता के सूत्र में बांधे हुए रखता है तथा उसी के द्वारा मंत्रियों का नियंत्रण व निर्देशन किया जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

वर्तमान समय में संसदीय प्रणाली प्रधानमंत्रित्व प्रणाली के रूप में बदल चुकी है। प्रधानमंत्री अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करता है, वह चाहे जिस समय मंत्री को पदमुक्त व विभाग परिवर्तन कर सकता है। यद्यपि प्रधानमंत्री का निर्वाचन एक ही संसदीय सीट से होता है, परन्तु उसके चुनाव ने आज राष्ट्रीय निर्वाचन का रूप धारण कर लिया है।

प्रधानमंत्री के पद का अध्यक्षीकरण होने से उसको जो पहले समान में प्रथम तथा चन्द्रमा की संज्ञा दी जाती थी वे आज निरर्थक साबित हो रही हैं। उसे तो आज मंत्रिमण्डल रूपी ईमारत की आधारशिला कहा जाता है तथा उसकी तुलना सूर्य से की जाती है, जिसके प्रकाश से अन्य ग्रह चमकते है।

12.2 प्रधानमंत्री की नियुक्ति

प्रधानमंत्री की नियुक्ति भारत का राष्ट्रपति करता है। राष्ट्रपति उस दल के नेता को प्रधानमंत्री पद पर नियुक्ति हेतु आमंत्रित करता है जिसका लोकसभा में बहुमत हो। लोकसभा में किसी भी दल का बहुमत न होने की स्थिति में राष्ट्रपति अपने स्वविवेक का प्रयोग करते हुए किसी भी दल के नेता को नियुक्त कर सकता है। सामान्यतया राष्ट्रपति ऐसी स्थिति में सबसे बड़े दल के नेता को ही आमंत्रित करता हैं, परन्तु इसके लिए बाध्य नहीं है।

12.3 प्रधानमंत्री पद की योग्यताएं

संविधान के अनुसार प्रधानमंत्री पद की प्रमुख योग्यता यह है कि वह संसद का सदस्य होना चाहिए। यदि कोई संसद का सदस्य नहीं है प्रधानमंत्री बन गया है तो उसे 6 माह के भीतर संसद के दोनों में से किसी एक सदन की सदस्यता प्राप्त करना अनिवार्य होता है। सदस्यता प्राप्त न होने की स्थिति में पद त्याग देना पड़ता है।

12.4 प्रधानमंत्री की शक्तियाँ

प्रधानमंत्री को निम्न शक्तियां प्राप्त है –

12.4.1 मंत्रिमण्डल के निर्माता के रूप में–संविधान में इस तथ्य का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया गया है कि प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल का प्रमुख होगा, उसकी सलाह पर राष्ट्रपति अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करेगा। प्रधानमंत्री ही कैबिनेट की बैठकों की अध्यक्षता, मंत्रियों के विभागों का बंटवारा करता है। प्रधानमंत्री जब अपने मंत्रिमण्डल का निर्माण करता है, उस समय कुछ महत्वपूर्ण बातों का ध्यान रखता है। जैसे अपने दल के वरिष्ठ व प्रभावशाली सदस्यों को उचित स्थान देगा तथा विभिन्न जातियों, धर्मों व क्षेत्रों के उचित प्रतिनिधित्व का ख्याल रखना। यद्यपि संविधान में ऐसा कुछ नहीं है परन्तु यह एक परम्परा बनी हुई हैं। प्रधानमंत्री जब तक अपने पद पर रहता है तब तक मंत्रिमण्डल कायम रहता है और जैसे ही प्रधानमंत्री अपने पद से हट जाता है तब यह स्वतः ही समाप्त हो जाता है।

पिछले दो दशक से यह देखने में आ रहा है कि प्रधानमंत्री मंत्रिमण्डल के निर्माता के रूप में उसकी स्थिति काफी सुदृढ़ व शक्तिशाली हो गयी है। इसके कारण आलोचकों ने तो संसदीय प्रणाली को प्रधानमंत्री की तानाशाही तक कह दिया है। जो मेरे विचारों में काफी हद तक सही है, क्योंकि जिस प्रकार से भारत के प्रधानमंत्रियों ने मंत्रियों को शामिल किया और पदमुक्त किया है। प्रधानमंत्री अपनी इच्छानुसार चाहे तो मंत्रियों के विभाग बदल सकता है तथा पद से भी हटा सकता हैं। इसके अतिरिक्त किस मंत्री को कौनसा विभाग देना है ? यह भी प्रधानमंत्री ही तय करता है।

12.4.2 राष्ट्रपति व मंत्रिपरिषद् के बीच कड़ी–प्रधानमंत्री संसदीय परम्परा के अनुरूप राष्ट्रपति व मंत्रिपरिषद् के बीच कड़ी का कार्य करता है। जिस प्रकार लोहे की चैनें बिना कड़ी के आपस में एक नहीं हो सकती, उसी प्रकार संसदीय व्यवस्था में प्रधानमंत्री के अभाव में राष्ट्रपति व मंत्रिपरिषद् एक नहीं हो सकते। प्रधानमंत्री समय–समय पर राष्ट्रपति से मिलकर मंत्रिपरिषद् द्वारा लिये गये निर्णयों से राष्ट्रपति को अवगत करवाता है। इसके अतिरिक्त कोई भी मंत्री प्रधानमंत्री की सलाह के बिना राष्ट्रपति से नहीं मिल सकता है। वह राष्ट्रपति द्वारा समय–समय पर दी जाने वाली सलाह से मंत्रिमण्डल को अवगत करवाता है।

12.4.3 सदन के नेता के रूप में–प्रधानमंत्री के लिए यह आवश्यक है कि वह संसद के किसी भी सदन का सदस्य रहे। यदि वह सदस्य नहीं है, और वह प्रधानमंत्री पद पर है, तो उसके लिए यह आवश्यक है कि वह 6 माह के भीतर किसी भी सदन का सदस्य बने। वह जिस भी सदन का सदस्य होता है, उस सदन में वह अपनी पार्टी या मोर्चे का संसदीय दल का नेता होता है । व्यवहार में प्रधानमंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी होता है। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा सदन में दिया जाने वाला वक्तव्य आधिकारिक माना जाता है। इसके अलावा संसद की गरिमा को बनाये रखने में अपनी अहम भूमिका रखता है। विपक्षी दलों के साथ राष्ट्रीय मामलों पर विचार–विमर्श कर सहमति प्राप्त करना भी प्रधानमंत्री का संवैधानिक दायित्व माना जाता है।

12.4.4 सम्पर्क सूत्र के रूप में–प्रधानमंत्री को भारतीय संसद और जनता के बीच का सम्पर्क सूत्र माना जाता है। वह जन भावनाओं, इच्छाओं और अपेक्षाओं को संसद तक पहुँचाता है।

विशेष : पूर्व प्रधानमंत्री आई.के. गुजराल ने जन इच्छा को जानने के लिए एक नया अभियान शुरू किया था, जिसके तहत् वे सप्ताह में एक बार जनता से मिलते थे।

12.4.5 राष्ट्रीय नीति का निर्माता–राष्ट्रीय नीति के निर्धारण में प्रधानमंत्री की अहम व महत्वपूर्ण भूमिका रहती है जिसके कारण वह देश की नीति का निर्माता व प्रवक्ता माना जाता है। वह देश की सभी प्रकार की नीतियों का निर्धारक है। उसके द्वारा अभिव्यक्त किये गये विचारों, भाषणों, अपीलों और संदेशों को नीतिगत वक्तव्य माना जाता है। वह संसद में और संसद के बाहर अपने मंत्रिमण्डल की नीतियों की घोषणा करता है। दूसरे शब्दों में उसे देश की नीतियों का अधिकृत प्रवक्ता माना जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12.4.6 प्रशासन की धुरी–प्रधानमंत्री को देश के प्रशासन की धुरी भी माना जाता है। सभी महत्वपूर्ण नियुक्तियां प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। उसके नेतृत्व में मंत्रिमण्डल द्वारा प्रशासनिक नीतियां और सुधार सम्पादित किये जाते हैं। देश की नौकरशाही पर प्रधानमंत्री का वर्चस्व होता है। वह यह सुनिश्चित करता है कि नौकरशाही उसके मंत्रिमण्डल द्वारा लिये गये निर्णय को क्रियान्वित करने के दायित्व को सफलतापूर्वक अंजाम दे।

12.4.7 केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की कड़ी–भारत की संघात्मक व्यवस्था में प्रधानमंत्री के पद का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उसे केन्द्र–राज्य सम्बन्धों की मुख्य कड़ी कहा जाता है। उसके आचरण पर ही सहकारी संघवाद के आदर्श को प्राप्त किया जा सकता हैं। राज्यों की राजनीति को प्रभावित करने में भी प्रधानमंत्री की अहम भूमिका होती है। प्रधानमंत्री समय–समय राज्यों के मुख्यमंत्रियों तथा अन्य मंत्रियों का सम्मेलन बुलाता है तथा राष्ट्रीय विकास परिषद् एवं अन्तर्राज्यीय परिषद् की बैठक में केन्द्र राज्य से सम्बन्धित उठने वाले विवादों को शांत करवाता है।

12.4.8 लोकसभा भंग करने की शक्ति–लोकसभा को भंग करने की शक्ति प्रधानमंत्री पद की प्रतिष्ठा में चार चांद लगा देती है। यदि प्रधानमंत्री लोकसभा को भंग करने की सिफारिश करता है तो राष्ट्रपति मानने के लिए बाध्य है। यदि प्रधानमंत्री के पास बहुमत है लेकिन यदि प्रधानमंत्री के पास बहुमत नहीं है। तो राष्ट्रपति सलाह मानने को बाध्य नहीं है

विशेष : 1976 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने राष्ट्रपति से लोकसभा भंग कर नये चुनाव की सिफारिश की थी।

विशेष : 1997 में जन सत्तारूढ़ संयुक्त मोर्चा सरकार से कांग्रेस पार्टी द्वारा समर्थन वापिस ले लिया। तब प्रधानमंत्री आई.के. गुजराल ने राष्ट्रपति को यह सलाह दी की वे लोकसभा को भंग करे लेकिन इस दौरान एक संवैधानिक विवाद उठ खड़ा हुआ कि क्या राष्ट्रपति अल्पमत वाले प्रधानमंत्री की सलाह मानने को बाध्य है। लेकिन राष्ट्रपति ने इसको स्वीकार किया।

12.4.9 विदेश नीति का निर्धारण–प्रधानमंत्री विदेश नीति की रीढ़ की हड्डी होता है। अर्थात् विदेश नीति की सफलता या असफलता प्रधानमंत्री पर निर्भर करती है कि वह कितना प्रभावशाली, कुशल व कूटनीतिज्ञ है। काफी समय तक भारत में यह परम्परा बनी हुई थी कि प्रधानमंत्री ही विदेश मंत्री होता था, लेकिन पिछले कुछ वर्षों में इसमें परिवर्तन आया है। प्रधानमंत्री अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्य देशों से संधि या समझौता करता है।

विशेष : इन्दिरा गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में भारतीय विदेश नीति अपनी पराकाष्ठा पर थी। उनके कुशल नेतृत्व से भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था।

विशेष : इसी प्रकार राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में भारत की विदेश नीति में और ज्यादा निखार आया। उन्होंने पाकिस्तान, चीन, नेपाल व श्रीलंका जैसे पड़ौसी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया।

विशेष : यद्यपि गुजराल ज्यादा समय तक प्रधानमंत्री पद पर नहीं रहे परन्तु उनकी विदेश नीति ग्गुजराल डाक्टरी के नाम से जाना जाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

विशेष : वर्तमान प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी भारत के अन्य देशों विशेषतः पड़ौसी देश पाकिस्तान के साथ सम्बन्ध सुधारने के लिये प्रयासरत् हैं।

12.4.10 दल का प्रमुख नेता–प्रधानमंत्री केवल सरकार का ही प्रमुख नेता नहीं होता बल्कि वह अपने दल का भी प्रमुख नेता है। दल की नीतियाँ उससे पूरी तरह प्रभावित होती है। स्वतंत्र भारत के इतिहास में यदि दलों का राजनीतिक इतिहास देखें तो हम यह पाते हैं कि प्रधानमंत्री ही अपनी पार्टी का अध्यक्ष होता है या इस पद पर उसी का आदमी होता है। इसके अलावा प्रधानमंत्री सत्ता (सरकार), संगठन (पार्टी) के बीच समन्वय की कोशिश करता है।

विशेष : जैसे इन्दिरा गांधी, राजीव गांधी, वी.पी. सिंह तथा पी.वी. नरसिंहराव आदि प्रधानमंत्री होते हुए अपनी पार्टियों के अध्यक्ष थे।

12.4.11 संरक्षण की व्यापक शक्ति–प्रधानमंत्री को संरक्षण की भी व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं। जिनके माध्यम से वह सरकार व अपनी पार्टी में अपनी पकड़ को मजबूत कर सकता है। प्रायः देखने में आया है कि वह अपने समर्थकों को अपने मंत्रिमण्डल में शामिल करता है, अन्य लोगों को राज्यपाल आदि अन्य महत्वपूर्ण पदों पर भी नियुक्त करवाता हैं। संरक्षण की शक्तियों से प्रधानमंत्री अपने समर्थकों को महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्त कर पुरस्कृत कर सकता है तथा अपनी विरोधियों को नियुक्त कर उन्हें शान्त कर सकता है।

12.4.12 वित्तीय शक्तियां–प्रधानमंत्री को वित्तीय क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं। राष्ट्रीय बजट उसी के नियंत्रण व निर्देशन में वित्त मंत्री तैयार करता है तथा प्रधानमंत्री इस बात का प्रयास करता है कि वह बजट को संसद में पास करवाये। यदि वह बजट पास नहीं करवा सकता है तो वह अपने पद से त्याग पत्र देता है।

12.4.13 प्रधानमंत्री और महानिर्वाचन–यद्यपि प्रधानमंत्री पद का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं होता, लेकिन पिछले कुछ समय से देश की राजनीतिक व्यवस्था में जो परिवर्तन आये हैं, उनमें देश के विभिन्न राजनीतिक दल चुनाव पूर्व ही अपने प्रधानमंत्री पद का उम्मीदवार घोषित कर देते हैं और उन्हीं के नेतृत्व में चुनाव लड़ा जाता है और उस दल को स्टार चुनाव प्रचार के रूप में देश भर में व्यापक जन समर्थन प्राप्त करने का प्रयास करते है। इसके अतिरिक्त आम मतदाता भी अपने लोकसभा सदस्य का चुनाव उस सदस्य विशेष के आधार पर न करके अपितु सम्भावित प्रधानमंत्री के आधार पर करते हैं। 13वीं लोकसभा का चुनाव भी कुछ इस तरह का रहा। क्योंकि दोनों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रमुख पार्टियों ने अपने सम्भावित प्रधानमंत्री के पद के उम्मीदवार की घोषणा कर दी थी। भारतीय जनता पार्टी ने अटल बिहारी वाजपेयी तथा कांग्रेस ने सोनिया गांधी। कई राजनीतिक विश्लेषकों ने इस चुनाव को वाजपेयी बनाम सोनिया की संज्ञा दी। इस तरह प्रधानमंत्री पर ही दल का राजनीतिक भविष्य निर्भर करता है।

12.4.14 प्रधानमंत्री और योजना आयोग–राष्ट्र की आर्थिक नीति का निर्धारण योजना आयोग ही करता है और प्रधानमंत्री योजना आयोग का अध्यक्ष होता है। इस कारण पंचवर्षीय योजना का स्वरूप एवं आकार तय करने में प्रधानमंत्री की अहम भूमिका होती है। प्रधानमंत्री की सलाह पर या योजना आयोग के उपाध्यक्ष तथा अन्य सदस्यों को राष्ट्रपति नियुक्त करता है। आयोग की अन्तरंग संस्था राष्ट्रीय विकास परिशद् पर भी प्रधानमंत्री का पूरा नियंत्रण होता है।

12.4.15 प्रधानमंत्री की अनुग्रह शक्तियाँ–भारत में समस्त उच्च अधिकारियों की नियुक्ति प्रधानमंत्री की सलाह से राष्ट्रपति करता है। संविधान द्वारा विशिष्ट क्षेत्रों में राष्ट्रीय सेवा के उपलक्ष्य में भारत रत्न, पदम विभूषण, पदम भूषण, पदम श्री, इत्यादि सम्मानजनक उपाधियों के वितरण की व्यवस्था की गई है। व्यवहार में ये उपाधियां प्रधानमंत्री द्वारा ही स्वीकृत की जाती है।

12.4.16 प्रधानमंत्री और आपातकाल–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 352, 356 व 360 में आपातकाल की घोषणा का प्रावधान किया गया है। इस स्थिति में प्रधानमंत्री की शक्तियां और अधिक बढ़ जाती है। क्योंकि व्यवहार में इन शक्तियों का प्रयोग प्रधानमंत्री ही करता है। 44वें संविधान संशोधन से पूर्व तो प्रधानमंत्री द्वारा मौखिक रूप से कहने पर ही राष्ट्रपति को आपातकाल घोषित करना पड़ता था। जैसा कि प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी के कहने पर राष्ट्रपति डॉ. फखरूददीन अली अहमद ने 1975 में किया था। इसके अलावा किस राज्य में अनुच्छेद 356 के तहत् कार्यवाही करनी है यह भी प्रधानमंत्री सुनिश्चित करता है।

12.5 मन्त्रिपरिषद् की रचना एवं संगठन

भारत में संसदीय व्यवस्था का अनुसरण किया गया है जिसमें सिद्धान्त: तमाम कार्यपालिका संबंधी शक्तियां राष्ट्रपति में निवास करती है, लेकिन व्यवहार में प्रयोगकर्ता मंत्रिपरिषद् ही होती है। रेम्जेम्योर के अनुसार, मन्त्रिमण्डल राज्य के जहाज का परिचालक तन्त्र है। मेरियट के अनुसार 'मन्त्रिमण्डल वह धुरी है, जिस पर प्रशासन चक्र घूमता है।'भारतीय संविधान के अनुच्छेद 74 के अनुसार राष्ट्रपति अपने कार्यपालिका संबंधी कार्यों के सम्पादन में सहायता एवं परामर्श के लिए मन्त्रिमण्डल का गठन करेगा जिसका प्रधान प्रधानमंत्री होगा। इस तरह राष्ट्रपति के नाम से शासन के समस्त कार्य मन्त्रिपरिषद् संचालित करती है।

12.5.1 प्रधानमंत्री की नियुक्ति–भारतीय संविधान का अनुच्छेद 75 प्रधानमंत्री पद की व्यवस्था करता है जिसके अनुसार राष्ट्रपति प्रधानमंत्री को नियुक्त करता है। व्यवहार में राष्ट्रपति प्रधानमंत्री पद पर उसी दल के नेता को नियुक्त करता है जिसका लोकसभा में बहुमत होता है लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियां जैसे लोकसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिले या बहुमत दल का विभाजन हो जाए और दो समान रूप से प्रभावशाली नेता हो तो राष्ट्रपति अपने स्वविवेक का प्रयोग करते हुए किसी भी दल के नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त कर सकता है।

विशेष : राष्ट्रपति ने व्यवहार में पिछले 53 वर्षों में स्वविवेक की शक्ति का प्रयोग पाँच बार 1979, 1984 श्रीमती इन्दिरा गांधी की मृत्यु के समय, 1990, 1996 तथा 1998 में किया।

12.5.2 मन्त्रियों का चयन–अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति भारत का राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह से करता है । लेकिन व्यवहार में राष्ट्रपति सलाह मानने के लिए बाध्य है। प्रधानमंत्री मन्त्रियों का चयन करते समय कुछ बातों को ध्यान में रखते हैं, जैसे पार्टी के वरिष्ठ नेता को सम्मानजनक प्रतिनिधित्व मिले। इसके अलावा प्रधानमंत्री अपनी मन्त्रिपरिषद् में सभी राज्यों, क्षेत्रों, धर्मों, जातियों, योग्यताधारियों को उचित प्रतिनिधित्व देने की हर सम्भव कोशिश करता है। कई बार प्रधानमंत्री अपने विश्वासपात्रों को मंत्री बना देता है चाहे उनका राजनीतिक महत्व कितना भी कम क्यों न हो। मंत्रियों की नियुक्ति के वक्त राजनीतिक समीकरणों का भी पुरा ध्यान रखता हैं ।

विशेष – 24 मई, 2003 को प्रधानमन्त्री वाजपेयी ने अपने मन्त्रिमण्डल का जो विस्तार किया हैं उसमें आगामी पाँच राज्यों में होने वाले विधानसभाओं के राजनीतिक महत्व को ध्यान में रखकर उन राज्यों के सांसदों को मन्त्री बनाया है जैसे राजस्थान से कैलाश मेघवाल।

12.5.3 मन्त्रिपरिषद् की सदस्य संख्या–संविधान में मन्त्रिपरिषद् की सदस्य संख्या निश्चित नहीं की गई है। व्यवहार में प्रधानमंत्री अपनी सुविधानुसार कम या अधिक करता रहता है। आजकल मन्त्रिपरिषद् अपेक्षाकृत बड़ी देखने को मिलते है क्योंकि गठबन्धन सरकारों का दौर होने के कारण प्रधानमंत्री को न चाहते हुए भी अधिक संख्या में मंत्री शामिल करने पड़ते है ताकि पार्टी तथा सहयोगी दलों के असन्तोष का सामना न करना पड़े।

विशेष : वर्तमान में श्री अटल बिहारी वाजपेयी की मन्त्रिपरिषद् में मंत्रियों की सख्या 80 है।

12.5.4 कार्य–विभाजन–मन्त्रियों की नियुक्ति के बाद प्रधानमंत्री द्वारा मन्त्रियों के बीच कार्य विभाजन किया जाता है, जो अपने आप में कठिन कार्य है। यह प्रधानमंत्री का विशेषाधिकार है कि वह किस मंत्री को कौन सा विभाग आवंटित करें। विभाग आवंटन करते वक्त प्रधानमंत्री व्यवहार में कुछ बातों को ध्यान में रखता है । जैसे – एक मंत्री को प्राय: एक ही विभाग का कार्य सौंपना, अति महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली विभाग अपने विश्वासपात्रों को देना आदि। अनेक बार प्रधानमंत्री मन्त्रिपरिषद् के कार्य विभाजन के तहत् अपनी प्रशासनिक सुविधा के लिए उपप्रधानमंत्री भी नियुक्त करता है, जो एक स्वैधानिक पद नहीं है। वास्तव में प्रधानमंत्री को उपप्रधानमंत्री की नियुक्ति राजनीतिक मजबूरी के कारण करनी पड़ती है जब मंत्रिपरिषद् में समान प्रभावशाली नेता हो और जिससे प्रधानमंत्री को अपने पद की असुरक्षा का खतरा महसूस हो।

Uttarakhand Bhasha Institute (Deemed University), Dehradun

विशेष : 2002 में प्रधानमन्त्री अटल बिहारी वाजपेयी ने इन्हीं परिस्थितियों के चलते लालकृष्ण आडवाणी को उपप्रधानमन्त्री पद पर नियुक्त किया ।

12.5.5 मंत्रियों के लिए आवश्यक योग्यताएँ–मन्त्रिपरिषद् का सदस्य बनने के लिए प्रमुख योग्यता यह है कि मंत्री संसद का सदस्य हो। यदि कोई नागरिक संसद का सदस्य न होते हुए मंत्री बन जाता है तो उसे 6 माह के भीतर संसद के दोनों में से किसी एक सदन की सदस्यता प्राप्त करना अनिवार्य होता है। ऐसा न होने की स्थिति में उसे पद से त्यागपत्र देना पड़ता हैं

12.5.6 मंत्रियों द्वारा शपथ ग्रहण–पद ग्रहण करने से पूर्व प्रधानमंत्री एवं अन्य मंत्रियों को राष्ट्रपति के समक्ष पद और गोपनीयता की दो शपथ लेनी पड़ती है, जो इस प्रकार है –

पद की शपथ – मैं ईश्वर की शपथ लेता हूँ/सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ, मैं विधि द्वारा स्थापित भारत के संविधान के प्रति श्रद्धापूर्वक तथा शुद्ध अन्त:करण से पालन करूंगा तथा भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना, मैं सब प्रकार के लोगों के प्रति संविधान और विधि के अनुसार न्याय करूंगा।

गोपनीयता की शपथ – मैं ईश्वर की शपथ लेता हूँ/सत्यनिष्ठा से प्रतिज्ञा करता हूँ, कि जो विषय संघीय मंत्री के रूप में मेरे विचार के लिए लाया जाएगा अथवा मुझे ज्ञात होगा उसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को उस अवस्था को छोड़कर जबकि मंत्री के रूप में अपने कर्तव्यों के उचित निर्वहन के लिए ऐसा करना अपेक्षित हो, अन्य अवस्था में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में सूचित या प्रकट नहीं करूंगा।

12.5.7 मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल–मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल निश्चित नहीं होता। मन्त्रिपरिषद् अपने पद पर तब तक बनी रह सकती है जब तक उसे लोकसभा का विश्वास मत प्राप्त हो। अर्थात् लोकसभा में उसका बहुमत हो। मन्त्रिपरिषद् अधिक से अधिक लोकसभा के कार्यकाल तक पद पर बनी रह सकती है। जो सामान्यतया 5 वर्ष होता है। इस तरह मन्त्रिपरिषद् लोकसभा के प्रतिसामूहिक उत्तरदायी होती है। व्यक्तिगत रूप से किसी मंत्री का कार्यकाल प्रधानमंत्री पर निर्भर करता है अर्थात् प्रधानमंत्री अपनी इच्छानुसार किसी भी मंत्री को पद से हटा सकता है।

12.5.8 मंत्रियों के वेतन तथा भत्ते–मन्त्रिपरिषद् के सभी सदस्यों को मासिक वेतन तथा निर्धारित मासिक भत्ते दिये जाने का प्रावधान है। जिनका निर्धारण समय–समय पर संसद द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त सभी को निःशुल्क आवास, वाहन तथा अन्य सुविधायें उपलब्ध करवायी जाती हैं।

12.6 मंत्रिपरिषद् की कार्यविधि

12.6.1 सामुहिक उत्तरदायित्व–मंत्रिपरिषद् की कार्यविधि का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि मंत्रिपरिषद् संसद के प्रति सामुहिक रूप से उत्तरदायी होती है। मंत्रियों से संसद में प्रश्न एवं पूरक प्रश्न पूछे जाते हैं तो उनका उत्तर देना पड़ता है। मन्त्रिपरिषद् के सदस्य व्यवहार में लोकसभा के प्रति सामुहिक उत्तरदायी होते हैं। यदि लोकसभा में एक मंत्री के विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास हो जाता है तो सारे मंत्रिपरिषद् को त्याग पत्र देना पड़ता है। इसलिए लार्ड मॉर्ले ने लिखा है मंत्रिमण्डल के सदस्य एक साथ तैरते हैं तो एक साथ डूबते है। एक मंत्री सदन के भीतर दूसरे मंत्री का विरोध नहीं कर सकता।

12.6.2 गोपनीयता–गोपनीयता संसदीय प्रणाली का लक्षण है जिसके अनुसार कोई भी मंत्री अपने विभाग के महत्वपूर्ण निर्णयों को जब तक सार्वजनिक नहीं करेगा, तब तक उसे संसद को अवगत न करवाता। यदि वह किसी निर्णय को संसद को अवगत करवाने से पूर्व ही सार्वजनिक कर देता है तो संसद उसके विरूद्ध विशेषाधिकार हनन का प्रस्ताव लाकर मंत्री को कटघरे में खड़ा कर सकती है।

12.7 मंत्रिपरिषद् की शक्तियाँ

संविधान के अनुच्छेद 74 के अनुसार मन्त्रिपरिषद् राष्ट्रपति को उसके कार्यों के सम्पादन में सहायता और परामर्श देगी लेकिन व्यवहार में मंत्रिपरिषद् ही राष्ट्रपति की शक्तियों का प्रयोगकर्त्ता होती हैं और राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् द्वारा दी गई प्रत्येक सलाह को मानने के लिए बाध्य है। इस तरह ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की भांति मंत्रिमण्डल भारतीय शासन प्रणाली का हृदय कहा जा सकता है। लावेल मन्त्रिमण्डल को राजनीतिक वृतखण्ड के मेहराब के बीच का पत्थर कहता है। सर जॉन मेरियट का मत है कि मंत्रिमण्डल वह धुरी है जिस पर प्रशासन चक्र घूमता रहता है। लेडस्टन के अनुसार मन्त्रिमण्डल वह सूर्य पिण्ड है जिसके चारों ओर अन्य पिण्ड घूमते रहते है। भारत में मन्त्रिपरिषद् या मन्त्रिमण्डल की प्रमुख शक्तियाँ निम्न हैं –

12.7.1 राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करना–मंत्रिमण्डल का सबसे महत्वपूर्ण कार्य सभी विषयों के बारे में राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करना। मंत्रिमण्डल ही तय करता है कि आन्तरिक क्षेत्र में प्रशासन के विभिन्न विभागों के द्वारा और वैदेशिक क्षेत्र में दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध के विषय में किस प्रकार की नीति अपनाई जाए। इन्हीं नीतियों के आधार पर मंत्री संसद में विधेयक पेश करते हैं और उन्हें संसद से पास करवाने की कोशिश करते है। मंत्रिमण्डल समय–समय पर गृह, प्रतिरक्षा, विदेश, आर्थिक, शिक्षा इत्यादि नीतियों पर विचार कर उन्हें लागू करवाता हैं ताकि प्रशासन में गतिशीलता आ सके।

12.7.2 व्यवस्थापन संबंधी कार्य–यद्यपि व्यवस्थापन संबंधी कार्य मंत्रिमण्डल का नहीं है, लेकिन प्रदत्त व्यवस्थापन के कारण व्यवस्थापिका की शक्तियां कार्यपालिका (मंत्रिमण्डल) के हाथों में आ गयी हैं। इसलिए संसद में पेश किये जाने वाले 90 प्रतिशत से अधिक विधेयक सरकारी होते हैं अर्थात् मंत्रियों द्वारा पेश किये जाते है। इसके अलावा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

व्यवस्थापिका (संसद) का अधिवेशन बुलाना, सत्रावसान करना, सदन में बहस (विचार–विमर्श) की समय सारणी तय करना, लोकसभा को भंग करवाना जैसे अनेक महत्वपूर्ण कार्य मंत्रिमण्डल के द्वारा ही किये जाते है। इस तरह व्यवस्थापिका तो केवल मोहर लगाने वाली संस्था मात्र रह गयी है।

12.7.3 आपातकाल की घोषणा करने की शक्ति–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 352 (बाहरी आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति) अनुच्छेद 356 (राज्यों में संवैधानिक तन्त्र विफल होने की स्थिति) तथा अनुच्छेद 360 (वित्तीय आपातकाल) यह सभी राष्ट्रपति को संकटकालीन शक्तियाँ प्रदान करते हैं, लेकिन इनका व्यवहार में प्रयोग मंत्रिमण्डल ही करता है। जब तक मंत्रिमण्डल लिखित में इसकी सलाह नहीं दे देता, तब तक राष्ट्रपति इनका प्रयोग नहीं कर सकता है। इस तरह आपातकाल की घोषणा का अधिकार भी मंत्रिमण्डल का है।

12.7.4 राष्ट्रीय कार्यपालिका पर सर्वोच्च नियंत्रण–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 53 के अनुसार भारत की संघ सरकार की समस्त कार्यपालिका संबंधी शक्तियाँ राष्ट्रपति में निवास करेगी। लेकिन व्यवहार में इनका प्रयोगकर्त्ता प्रधानमंत्री एवं उसका मंत्रिमण्डल होता है। मंत्रिमण्डल के सदस्य विभिन्न विभागों के अध्यक्ष होते हैं। वे ही अपने विभागों का संचालन करते हैं तथा उनके कार्यों की देखभाल करते है। मंत्रिमण्डल ही आन्तरिक प्रशासन का संचालन करता है और देश की समस्त प्रशासनिक व्यवस्था पर नियंत्रण रखता है।

12.7.5 मन्त्रिमण्डल का समन्वयकारी कार्य–प्रशासनिक सुविधा के लिए सरकार को विभिन्न विभागों में विभाजित कर दिया जाता है, ताकि प्रत्येक विभाग अपने विषयों पर महत्वपूर्ण निर्णय ले सके लेकिन विभागों के विभाजन के पश्चात् इनकी एकता भंग नहीं होती, अपितु विभिन्न विभागों में आपसी समन्वय एवं आंगिक एकता पायी जाती है। विभागों में विभाजन के बावजूद एक विभाग की दूसरे विभाग पर निर्भरता बनी हुई रहती है। इनके बीच समन्वय स्थापित करने का कार्य मंत्रिमण्डल करता है। यदि विभिन्न विभागों के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं, तो मंत्रिमण्डल दूर करता है। विभागों की नीति एवं कार्यक्रमों में सम्पूर्ण मंत्रिमण्डल की इच्छा, आदर्श एवं विचारधारा स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। विभिन्न विभागों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए मंत्रिमण्डलीय समितियों की स्थापना की गई है।

विशेष : 2002 में विनिवेश के मुद्दे पर अटल बिहारी वाजपेयी के मंत्रिमण्डल के सदस्यों में गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गया था क्योंकि कुछ विभागों के मंत्री अपने विभाग के सरकारी उपक्रमों को निजी कम्पनियों को बेचना नहीं चाहते थे जबकि विनिवेश मंत्री अरूण शौरी अपने फैसले पर अड़े हुए थे। अन्ततः मंत्रिमण्डल के हस्तक्षेप से विवाद शान्त हुआ।

12.7.6 वित्तीय कार्य–देश की आर्थिक नीति निर्धारण करने का उत्तरदायित्व भी मंत्रिमण्डल का है। इस हेतु प्रतिवर्ष संसद के सामने मंत्रिमण्डल आय–व्यय का ब्यौरा (बजट) पेश करता है। बजट मंत्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार वित्त मंत्री तैयार करता है और वही उसे लोकसभा के सम्मुख पेश करता है। मंत्रिमण्डल अपने बजट को लोकसभा से पास करवाने की पूरी कोशिश करता है। पास न होने की स्थिति में मंत्रिमण्डल को पद से हटना पड़ता है। राष्ट्र की आर्थिक उन्नति एवं विकास मंत्रिमण्डल पर ही निर्भर करता है कि वह इन क्षेत्रों में अच्छे व ठोस निर्णय लेकर जनता को राहत पहुंचाने का प्रयास करें। जनता की निगाहें भी मंत्रिमण्डल पर ही टिकी हुई होती है।

12.7.7 विदेश नीति का संचालन–भारत को दूसरे देशों के साथ किस प्रकार के संबंध स्थापित करना है ? यह काफी हद तक मंत्रिमण्डल पर ही निर्भर करता है। विदेशमंत्री, प्रधानमंत्री या अन्य मंत्री दूसरे देशों के सर्वोच्च अधिकारियों से वार्ता करते हैं और संधि या समझौते भी करते हैं। संसद को इस संबंध में सूचना दी जाती है और आवश्यकता पड़ने पर संसद की अनुमति भी ली जाती है। देश की विदेशी नीति की सफलता या असफलता मंत्रिमण्डल पर निर्भर करती है। यदि मंत्रिमण्डल के सदस्य प्रभावी एवं अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंचों पर पकड़ रखने वाले हैं,तो निश्चित तौर पर विदेश नीति सफलता के नये प्रतिमान स्थापित कर सकती है। अन्यथा देश को विदेश नीति के संबंध में मुंह की खानी पड़ती है।

विशेष : वर्तमान में अटल बिहारी वाजपेयी का मंत्रिमण्डल कूटनीति के क्षेत्र में खरा नहीं उतर पाया है। इसलिए अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर भारत को नीचा देखना पड़ा है और पाकिस्तान जैसा देश हर स्तर पर चुनौती देने से नहीं चूकता है। यह सब मंत्रिमण्डल की मूलभूत नीतियों के ही परिणाम है।

12.7.8 नियुक्ति संबंधी कार्य–संविधान नियुक्ति संबंधी तमाम कार्य राष्ट्रपति को प्रदान करता है। व्यवहार में यह सभी कार्य मंत्रिमण्डल ही करता है। मंत्रिमण्डल के परामर्श से संसद को दोनों सदनों में सदस्यों को मनोनीत किया जाता है। राज्यों में राज्यपाल, उच्चतम न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों के मुख्य एवं अन्य न्यायाधीशों और महालेखा परीक्षक, सेना के सेनापतियों, विभिन्न आयोगों के अध्यक्षों तथा अन्य सदस्यों आदि की नियुक्ति मंत्रिमण्डल के परामर्श से ही की जाती है।

12.7.9 अन्य कार्य–उपर्युक्त के अतिरिक्त मंत्रिमण्डल द्वारा कुछ अन्य कार्य भी किये जाते हैं। जैसे –

1. अपराधियों को क्षमादान करने के संबंध में राष्ट्रपति को सिफारिश करना
2. भारत रत्न, पद्मविभूषण, पद्म भूषण, पद्म श्री आदि उपाधियां प्रदान करने के संबंध में राष्ट्रपति को सिफारिश करना आदि।

12.8 प्रधानमंत्री और मन्त्रिपरिषद् का संबंध

मन्त्रिपरिषद् का प्रमुख प्रधानमंत्री होता है। इसमें उसकी सर्वोच्च स्थिति होती है। वर्तमान में जो संसदीय व्यवस्था में परिवर्तन हुए है उसने प्रधानमंत्री को और अधिक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

केन्द्रीय बना दिया है। मन्त्रिपरिषद् पर नियंत्रण की कमान प्रधानमंत्री के हाथों में होती है और कोई भी मंत्री प्रधानमंत्री की उपेक्षा कर फैसला नहीं ले सकता है। प्रधानमंत्री एवं मन्त्रिपरिषद् के संबंधों को निम्नलिखित शीर्षकों से प्रस्तुत किया जा सकता है –

12.8.1 प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद् का निर्माता–मन्त्रिपरिषद् का निर्माण काफी हद तक प्रधानमंत्री के विवेक पर निर्भर करता हैं, वह चाहे उसे अपनी मंत्रिपरिषद् में शामिल कर सकता है। अनेक बार प्रधानमंत्री ऐसे लोगों को भी मन्त्री बना देता है, जिनका दल में कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है और जिनका नाम बहुत कम लोग जानते हैं लेकिन वे प्रधानमंत्री के विश्वास पात्र है। जैसे 1999 में केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् में जसवन्तसिंह को शामिल करना प्रधानमंत्री वाजपेयी की व्यक्तिगत पसन्द थी।

12.8.2 विभागों का बंटवारा–मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों के विभागों का बंटवारा प्रधानमंत्री द्वारा ही किया जाता है। प्रधानमंत्री अपने स्वविवेक के अनुसार किसी भी मंत्री के कोई भी विभाग दे सकता हैं

12.8.3 मंत्रियों के विभागों में परिवर्तन–प्रधानमंत्री जब चाहे तब मंत्रियों के विभागों में परिवर्तन कर सकता। प्रधानमंत्री प्रायः ऐसा इसलिए करते है जब वह मंत्रियों के कार्य से सन्तुष्ट न हो जैसे 2002 में प्रधानमंत्री वाजपेयी मंत्रियों के विभागों में व्यापक फेरबदल किया जैसे यशवन्त सिन्हा को विदेश मंत्री, जसवन्तसिंह को विदेश से वित्त मंत्री, सुषमा स्वराज को संसदीय कार्य मंत्री से स्वास्थ्य मंत्री आदि।

12.8.4 पद से हटाना–यदि प्रधानमंत्री किसी मंत्री के कार्यों से सन्तुष्ट नहीं है और मंत्री द्वारा किये गये कारनामों से सरकार की बदनामी हो रही है और वह इस्तीफा नहीं दे रहा हैं तब राष्ट्रपति को कहकर प्रधानमन्त्री मन्त्री को बर्खास्त करवा सकता है। 1990 में प्रधानमंत्री वी.पी. सिंह ने अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए चौधरी देवीलाल को बर्खास्त कर दिया था।

12.8.5 निर्देश देना–प्रधानमंत्री मन्त्रियों को उनके विभागीय कार्यों के संबंध में निर्देश दे सकता है और आवश्यकता पड़ने पर हस्तक्षेप भी कर सकता है।कैबिनेट सचिवालय और प्रधानमंत्री सचिवालय के माध्यम से प्रधानमंत्री सभी विभागों पर पूर्ण नियंत्रण रखता है।

12.8.6 बैठकों की अध्यक्षता–समय–समय पर मन्त्रिपरिषद् की होने वाली बैठकों की अध्यक्षता एवं संचालन प्रधानमंत्री ही करता है और मन्त्रिमण्डल की कार्यविधि पर प्रधानमंत्री का पूर्ण नियंत्रण होता है।

12.8.7 समन्वय–सरकार को विभिन्न प्रशासनिक विभागों में बांटा जाता है। जब विभागों के मंत्रियों के बीच आपसी मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं, तो प्रधानमंत्री उचित हस्तक्षेप कर समन्वय बनाये रखने का प्रयास करता है।

12.8.8 संसद में घोषणा–मन्त्रिपरिषद् द्वारा संसद में घोषणा करने का कार्य भी प्रधानमंत्री द्वारा किया जाता है।

12.9 सारांश

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रधानमंत्री मन्त्रिपरिषद् रूपी मेहराब की आधारशिला है। मन्त्रिपरिषद् में प्रधानमंत्री की स्थिति को स्पष्ट करते हुए संविधान सभा में डॉ. अम्बेडकर ने कहा था प्रधानमंत्री वास्तव में मन्त्रिमण्डल रूपी भवन के वृतखण्ड की मुख्य शिला है और जब तक हम इस पदाधिकारी की इतनी अधिकारपूर्ण स्थिति प्रदान न करें कि वह स्वेच्छा से मन्त्रियों की नियुक्ति तथा पदच्युति कर सके, तब तक मन्त्रिमण्डल का सामुहिक उत्तरदायित्व का लक्ष्य प्राप्त नहीं किया जा सकता।

अतः प्रधानमंत्री का पद सर्वोच्च है। यदि कोई प्रभावशाली व्यक्तित्व इस पद पर नियुक्त हो जाता है तो पद का महत्व लगातार बढ़ता जाता है। जैनिंग्स ने लिखा है कि प्रधानमंत्री के पद की स्थिति अवश्य ही वह होगी जो इस पद को ग्रहण करने वाला व्यक्ति बनाना चाहेगा और अन्य मंत्री उसे बनने देंगे। प्रधानमंत्री पद का इतिहास यह बताता है कि उसके बिना राष्ट्र की शासन व्यवस्था रूपी पेड़ का पत्ता तक नहीं हिल सकता। देश को आगे बढ़ाने में प्रधानमंत्री पद का अत्यधिक योगदान रहा है क्योंकि जब जब कमजोर प्रधानमंत्री आये हैं, तब तब राष्ट्र के विकास को गहरा आघात लगा है।

आज संसदीय व्यवस्था भी प्रधानमंत्रित्व व्यवस्था में बदलती जा रही है। व्यवस्थापिका प्रधानमंत्री पर नहीं, अपितु प्रधानमंत्री व्यवस्थापिका (संसद) पर नियंत्रण रख रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर देश की साख को मजबूत करने में प्रधानमंत्री का ही योगदान रहा है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक

1. प्रधानमंत्री मन्त्रिपरिषद् रूपी मेहराब की आधारशीला है इस कथन को सिद्ध कीजिए।
2. मन्त्रिपरिषद् के संगठन और शक्तियों का उल्लेख कीजिए।
3. मन्त्रिपरिषद् के प्रधानमंत्री एवं संसद के संबंधों का उल्लेख कीजिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लघुत्तरात्मक

1. लोकसभा में बहुमत दल के नेता के रूप में प्रधानमंत्री की भूमिका बताओ।
2. संसद नहीं अपितु मन्त्रिमण्डल संसद पर नियंत्रण रखता है इस कथन की समीक्षा कीजिए।
3. मन्त्रिपरिषद् की कार्यविधि को स्पष्ट कीजिए।
4. सदन के नेता के रूप में प्रधानमन्त्री की भूमिका पर प्रकाश डालिये ।
5. आम चुनाव प्रधानमन्त्री पद का चुनाव हो गया है सिद्ध कीजिये

अतिलघुत्तरात्मक

1. प्रधानमंत्री की नियुक्ति कौन करता है?
2. भारत में शासनाध्यक्ष कौन है?
3. संविधान के अनुसार संघ की कार्यपालिका संबंधी शक्तियां किसमें निहित है?
4. मन्त्रिपरिषद् किसके प्रति सामूहिक उत्तरदायी होता है?
5. प्रदत्त व्यवस्थापन से क्या आशय है?
6. अविश्वास प्रस्ताव द्वारा अब तक लोकसभा ने कितनी बार मन्त्रिपरिषद् को पद से हटाया है ?
7. प्रधानमंत्री पद का उल्लेख संविधान के कौनसे अनुच्छेद में है?

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

सुभाष कश्यप हमारा संविधान नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

बी.एल. फड़िया भारतीय शासन और राजनीति साहित्य भवन पब्लिकेशंस, आगरा

सुभाष कश्यप भारतीय सरकार और राजनीति नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

पुखराज जैन भारतीय प्रधानमन्त्री, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

विमल शुक्ल, भारतीय संविधान में प्रधानमन्त्री की भूमिका,

एस.एन. जैन, भारतीय संविधान शासन और राजनीति राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–13 : लोकसभा एवं राज्यसभा का संगठन और शक्तियाँ

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 क्या भारतीय संसद सम्प्रभु है?

- 13.2.1 लिखित संविधान
- 13.2.2 संघात्मक व्यवस्था
- 13.2.3 संविधान में संशोधन
- 13.2.4 न्यायिक पुनरावलोकन
- 13.2.5 राजनीतिक सीमाएं
- 13.2.6 जनमत

13.3 लोकसभा का संगठन

- 13.3.1 उम्मीदवारों की योग्यताएँ
- 13.3.2 कार्यकाल
- 13.3.3 सदस्य संख्या
- 13.3.4 सदस्यों का निर्वाचन
- 13.3.5 आरक्षण
- 13.3.6 गणपूर्ति एवं अधिवेशन
- 13.3.7 सांसदों का वेतन एवं सुविधाएं
- 13.3.8 पदाधिकारी
- 13.3.9 सांसदों के विशेषाधिकार

13.4 लोकसभा की शक्तियाँ

- 13.4.1 विधायी शक्तियाँ
- 13.4.2 वित्तीय शक्तियाँ
- 13.4.3 कार्यपालिका पर नियन्त्रण
- 13.4.4 संविधान संशोधन की शक्ति
- 13.4.5 निर्वाचक मण्डल के रूप में
- 13.4.6 जनता की शिकायतों का निवारण
- 13.4.7 विविध शक्तियाँ

13.5 राज्य सभा का संगठन

- 13.5.1 उम्मीदवार की योग्यताएँ
- 13.5.2 सदस्य संख्या
- 13.5.3 सदस्यों का निर्वाचन
- 13.5.4 कार्यकाल पदाधिकारी
- 13.5.5 गणपूर्ति एवं अधिवेशन
- 13.5.6 वेतन एवं सुविधाएं
- 13.5.7 विशेषाधिकार

13.6 राज्यसभा की शक्तियाँ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

13.6.1 विधायी शक्तियाँ
13.6.2 वित्तीय शक्तियाँ
13.6.3 संविधान संशोधन की शक्तियाँ
13.6.4 कार्यपालिका पर नियन्त्रण
13.6.5 विविध शक्तियाँ
13.6.6 राज्यसभा की विशेष शक्तियाँ
13.6.7 राज्य सभा निर्वाचक मण्डल के रूप में
13.7 सारांश

13.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत भारतीय संसद के दोनों सदन लोकसभा एवं राज्यसभा के गठन कार्य और शक्तियों का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत आपको निम्न जानकारी प्राप्त होगी–

- लोकसभा की शक्तियों को समझ सकेंगे,
- निम्न सदन शक्तिशाली सदन क्यों है? जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- राज्यसभा की स्थिति एवं उपयोगिता के बारे में जान सकेंगे,
- उच्च सदन के प्रभावहीनता के कारणों का अध्ययन कर सकेंगे।

13.1 प्रस्तावना

आधुनिक युग लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का है, जिसमें शासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित होती है। जनता स्वयं कानूनों का निर्माण नहीं करती है क्योंकि राज्यों का विस्तृत स्वरूप होने के कारण प्रत्यक्ष प्रजातंत्र सम्भव नहीं है। इस कारण जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनकर भेजती हैं। ये प्रतिनिधि जिन संस्थाओं में जाते हैं उन्हें व्यवस्थापिका या विधानमण्डल कहा जाता है। विश्व के देशों में व्यवस्थापिका को अलग–अलग नामों से जाना जाता है। अमरीका में कांग्रेस, ब्रिटेन में पॉर्लियामेन्ट, ईरान में मजलिस, जापान में डयूमा, भारत में संसद।

भारतीय संविधान निर्माताओं ने लोकतंत्र को अपनाया है। यहां की व्यवस्थापिका को संसद कहा जाता है। संसदीय संस्थाएं भारतीय शासनतंत्र के सदा घूमते रहने वाले पहिए हैं। भारत में द्विसदनात्मक व्यवस्था का अनुशरण करने के कारण संसद के दो सदन है। संविधान के अनुच्छेद 76 में लिखा है कि संघ के लिए एक संसद होगी जो राष्ट्रपति और दोनों सदनों से मिलकर बनेगी जिनके नाम क्रमशः राज्य सभा और लोकसभा होंगे। इस प्रकार संसद के अंग राष्ट्रपति, राज्यसभा व लोकसभा है।

13.2 क्या भारतीय संसद सम्प्रभु है?

भारतीय संसद ब्रिटिश संसद (पॉर्लियामेन्ट) की भांति सम्प्रभु है या नहीं ? यह एक प्रमुख मुद्दा है। विचारकों की राय में भारत में संसदीय ढांचे की शासन पद्धति को अपनाया गया है जो बहुत कुछ ब्रिटिश नमूने पर आधारित है, किन्तु फिर भी हमारी शासन व्यवस्था नितान्त संसदीय नहीं है। हमने संसदीय व्यवस्था को भारतीय वातावरण के अनुसार अपनाया है। इसलिए हमने ब्रिटिश व्यवस्था को वैसी की वैसी नहीं अपनाया। क्योंकि संविधान निर्माता ब्रिटिश ढंग की संसदीय प्रभुसत्ता स्वीकार करने की संस्थागत कठिनाईयों से परिचित थे। इसी कारण भारतीय संसद को ब्रिटिश संसद की भांति सम्प्रभु नहीं बनाया गया। डॉ. सुभाष काश्यप के अनुसार भारत में प्रभुत्व केवल जनता में ही निहित है, संसद के अधिकार संविधान निदिष्ट मात्र है। भारतीय संसद की सम्प्रभुता पर मर्यादाएं इस प्रकार है–

13.2.1 लिखित संविधान–संविधान द्वारा संसद की शक्तियों को स्पष्ट रूप से लिखित रूप दे दिया गया है। संविधान के अनुच्छेद 245 (1) द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि व्यवस्थापन शक्तियों का उपयोग संसद संविधान के अनुसार करेगी। इस तरह संविधान द्वारा संसद की मर्यादाएं सुनिश्चित कर दी गई है जिनसे ऊपर उठकर कानून नहीं बना सकती। इसके विपरीत इंग्लैण्ड में अलिखित संविधान होने के कारण संसद पर कोई नियन्त्रण नहीं है।

13.2.2 संघात्मक व्यवस्था–भारत में संघात्मक व्यवस्था के कारण शक्तियों का विभाजन केन्द्र और राज्यों के बीच कर दिया गया है। संसद केवल केन्द्र (संघ) सूची पर ही कानून बना सकती है राज्य सूची पर नहीं। प्रो. टी.के. टोपे ने लिखा है कि भारतीय संसद एक संघीय संविधान के अन्तर्गत विधायिका है। ब्रिटिश संसद के तुल्य इसकी शक्तियां असीमित नहीं है।

13.2.3 संविधान में संशोधन–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 में संशोधन प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। जिसके अनुसार संविधान के कुछ भाग में संशोधन के लिए संसद के साथ राज्य विधानमण्डल की पुष्टि होना आवश्यक होता है।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

13.2.4 न्यायिक पुनरावलोकन–न्यायिक पुनरावलोकन से तात्पर्य सर्वोच्च न्यायालय की उस शक्ति से है जिसके माध्यम से वह कार्यपालिका के किसी आदेश और संसद द्वारा निर्मित कानून को संविधान के विरूद्ध होने पर अवैध घोषित कर सकती है। बी.के. मुखर्जी के अनुसार यह निर्णय करना न्यायपालिका का काम है कि अमुक कानून वैधानिक है या नहीं।

विशेष : सर्वोच्च न्यायालय ने गोपालन बनाम मद्रास, गोलकनाथ बनाम पंजाब राज्य केशवानन्द भारती आदि मामलों में संसद द्वारा निर्मित कानूनों को अवैध घोषित किया है।

13.2.5 राजनीतिक सीमाएं–राजनीतिक दृष्टि से भी संसद लोकमत के प्रतिकूल विधियों का निर्माण नहीं कर सकती है। उसे अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी समुचित सम्मान करना होता है। संसद पर प्रधानमंत्री और मंत्रिमण्डल का भी नियंत्रण रहता है। प्रधानमंत्री संसद के निम्न सदन को भंग करवा सकता है।

13.2.6 जनमत–लोकतन्त्र में जनमत की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। अतः संसद जनमत को नजर अन्दाज करते हुए किसी जन विरोधी कानून का निर्माण नहीं कर सकती। यदि ऐसा कर देती है तो उसे व्यापक जन आक्रोश का सामना करना पड़ता है।

13.3 लोकसभा का संगठन

भारतीय संसद के निम्न सदन को लोकसभा कहा जाता है जो जनता का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन है। इसके सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार प्रणाली के आधार पर होता है। यह सदन राज्य सभा की तुलना में ज्यादा शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण है। अनेक प्रसंगों में संसद का आशय लोकसभा से ही लिया जाता है।

13.3.1 उम्मीदवार की योग्यताएँ–लोकसभा का सदस्य बनने के लिए संविधान द्वारा निम्न योग्यताएं निश्चित की गई है –

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. उसकी आयु 25 वर्ष या इससे अधिक हो,
3. वह किसी सरकारी लाभकारी पद पर न हो,
4. वह किसी न्यायालय द्वारा पागल न ठहराया गया हो तथा पागल न हो।

13.3.2 कार्यकाल–सामान्यतया लोकसभा का कार्यकाल संविधान द्वारा 5 वर्ष तय किया गया है लेकिन यह एक अस्थाई सदन है जिसे राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह पर समय से पूर्व ही भंग कर सकता है।

विशेष : राष्ट्रपति प्रधानमंत्री की सलाह पर अब तक सात बार लोकसभा को समय से पूर्व भंग कर चुके है। 1970, 1977, 1979, 1984, 1990, 1997 और 1999

13.3.3 सदस्य संख्या–वर्तमान समय में लोकसभा की सदस्य संख्या 545 है तथा अधिकतम 552 हो सकती है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 82 के अनुसार प्रत्येक जनगणना के बाद परिसीमन आयोग द्वारा संख्या के बारे में निर्णय लिया जाएगा।

विशेष : 31 दिसम्बर, 2025 तक सदस्य संख्या यही रहेगी।

13.3.4 सदस्यों का निर्वाचन–लोकसभा जनता का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन होने के कारण इसके 543 सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार से गुप्त प्रणाली के आधार पर किया जाता है तथा 2 आंग्ल भारतीय का मनोनयन भारत का राष्ट्रपति करता है।

विशेष : पहले वयस्क मताधिकार की आयु 21 वर्ष थी किन्तु 61वें संविधान संशोधन (1989) में घटाकर 18 वर्ष कर दी गई।

13.3.5 आरक्षण–संविधान के अनुच्छेद 330 के अनुसार लोकसभा में भी अनुसूचेत जाति एवं जनजाति के लिए स्थान आरक्षित किये गये है। वर्तमान 13 वीं लोकसभा में अनुसूचित जाति के लिए 79 स्थान तथा अनुसूचित जनजातियों के 41 स्थान आरक्षित है।

विशेष : 79वें संवैधानिक संशोधन के द्वारा आरक्षण की यह व्यवस्था 25 जनवरी, 2010 तक बढ़ायी गई है।

13.3.6 गणपूर्ति एवं अधिवेशन–लोकसभा बैठकें तब तक वैध नहीं होती जब तक कि उसके 1/10 सदस्य उपस्थित न हो अर्थात् 55 सदस्यों का उपस्थित रहना अनिवार्य है। लोकसभा का अधिवेशन राज्य सभा के साथ शुरू होता है। अधिवेशन का वर्ष में दो बार होना जरूरी है। अर्थात् दो अधिवेशनों के बीच का अन्तर 6 माह से अधिक नहीं होना चाहिए।

13.3.7 सांसदों का वेतन एवं सुविधाएँ–सांसदों को वेतन के रूप में प्रतिमह 4000 रूपये, दैनिक भत्ता 400 प्रतिदिन, 8000 प्रतिमाह निर्वाचन क्षेत्र भत्ता, 8500 रू. प्रतिमाह कार्यालय भत्ता, 6000 रू. प्रतिमाह सचिवालय सहायक के, 1 लाख टेलीफोन कॉल मुफ्त प्रतिवर्ष, निःशुल्क आवास, प्रतिवर्ष 25000 यूनिट बिजली, 2000 किलोलीटर पानी प्रतिवर्ष, मुफ्त रेलवे पास, 32 हवाई यात्राएं प्रतिवर्ष मुफ्त किसी एक को साथ लेकर कर सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

13.3.8 पदाधिकारी–लोकसभा के प्रमुख पदाधिकारी उसका अध्यक्ष (स्पीकर) तथा उपाध्यक्ष (डिप्टी स्पीकर) होता है जिनका चुनाव स्वयं सदन करता है। परम्परा के अनुसार स्पीकर सदन में बहुमत दल का सदस्य बनता है तथा डिप्टी स्पीकर विपक्ष का सदस्य बनता है। वर्तमान में स्पीकर श्री मनोहर जोशी तथा डिप्टी स्पीकर श्री पी. एम. सईद है। स्पीकर का पद शक्ति सम्पन्न और महत्वपूर्ण हैं जिसे राज्यसभा के सभापति की तुलना में ज्यादा अधिकार दिये गये हैं। स्पीकर सामान्य सदन संचालन का काम करता है। इसके अलावा कोई विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं इसका फैसला स्पीकर करता है, दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता भी स्पीकर ही करता है।

13.3.9 संसद सदस्यों के विशेषाधिकार–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 105 में दोनों सदनों के सदस्यों के विशेषाधिकारों का उल्लेख किया गया है, वे हैं–

1. संसद में कही हुई किसी बात के आधार पर न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।
2. न्यायालयों को संसद की कार्यवाही की जांच निषेध।
3. अधिवेशन के दौरान तथा 40 दिन पूर्व एवं 40 दिन पश्चात् दिवानी मामलों में किसी सदस्य को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता।
4. सदन में विचार अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है।
5. संसद सदस्यों को जूरी सदस्यों के रूप में नियुक्त नहीं किया जा सकता।

13.4 लोकसभा की शक्तियाँ

भारतीय संसद के दोनों सदनों में से लोकसभा लोकप्रिय सदन है क्योंकि इसके सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से वयस्क मताधिकार प्रणाली के आधार पर होता है। संसदीय व्यवस्था का यह सिद्धान्त है कि इसमें लोकप्रिय सदन को अधिक शक्तिशाली बनाया जाता है। भारतीय संविधान द्वारा भी लोकसभा को राज्यसभा की तुलना में उच्च स्थिति प्रदान की गई है। संसद निर्माण = लोकसभा + राज्यसभा + राष्ट्रपति । लेकिन लोकसभा सबसे शक्तिशाली। उसकी शक्तियां निम्नलिखित है –

13.4.1 विधायी शक्तियाँ–भारतीय संविधान के अनुसार भारतीय ससद को संघ सूची, समवर्ती सूची, अवशेष विषयों और विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची पर कानून बनाने का अधिकार है। यद्यपि संविधान के द्वारा साधारण विधेयक और संवैधानिक संशोधन विधेयकों पर दोनों सदनों को समान स्थिति प्रदान की गयी है। इस प्रकार के विधेयक दोनों में से किसी एक सदन में पहले प्रस्तुत किये जा सकते है। जब दोनों सदनों द्वारा अपने–अपने पृथक बहुमत से पास कर दिये जाते है तब विधेयक राष्ट्रपति के पास जाता है। लेकिन यदि साधारण विधेयक को लेकर दोनों सदनों के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाए तो राष्ट्रपति अनुच्छेद 108 के तहत दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाता है। जिसमें लोकसभा की इच्छानुसार फैसला होता है क्योंकि संख्या बल में वह ज्यादा है।

विशेष : 2002 को आतंकवाद निरोधक अध्यादेश पास करवाने के लिए संयुक्त अधिवेशन बुलाया गया। इससे पूर्व दो बार 1961 में दहेज उन्मूलन विधेयक तथा 1978 में बैंकिंग सेवा आयोग विधेयक पास करवाने के लिए बुलाया गया था।

इस प्रकार राज्यसभा साधारण विधेयक को 6 माह तक रोके रखने के अलावा और कुछ नहीं कर सकती।

13.4.2 वित्तीय शक्तियाँ–वित्तीय शक्ति के क्षेत्र में लोकसभा का एकाधिकार है। इसके सामने राज्य सभा की स्थिति पूर्णतः गौण है, वित्त विधेयक पहले लोकसभा में ही पेश किया जाता है। जब लोकसभा पास कर देती है तब राज्यसभा में यदि राज्य सभा सहमत नहीं है तो वह वित्त विधेयक को केवल 14 दिनों तक ही रोके रख सकती है। इसके अलावा कोई विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं इसका फैसला करने का एकमात्र अधिकार लोकसभा के स्पीकर को ही है।

13.4.3 कार्यपालिका पर नियंत्रण–भारतीय संविधान द्वारा संसदीय व्यवस्था की नींव रखी गई है, जिसमें संघीय कार्यपालिका अर्थात् मंत्रिमण्डल संसद (व्यवहार में लोकसभा न की राज्यसभा) के प्रति सामुहिक उत्तरदायी होती है। मंत्रिमण्डल तब तक अपने पद पर बना रह सकता है जब तक उसे लोकसभा का विश्वास मत प्राप्त है। संसद के दोनों सदनों के सदस्य मंत्रियों से प्रश्न, पूरक प्रश्न पूछ सकते है, निन्दा प्रस्ताव, स्थगन प्रस्ताव, काम रोको प्रस्ताव, अविश्वास प्रस्ताव ला सकते हैं, लेकिन अविश्वास प्रस्ताव की शक्ति केवल लोकसभा में पास होती है।

विशेष : 17 अप्रैल, 1999 को वाजपेयी मंत्रिमण्डल को इसलिए इस्तीफा देना पड़ा था कि वे लोकसभा में विश्वास का मत एक वोट से हार गये थे।

13.4.4 संविधान संशोधन की शक्ति–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान में संशोधन करने की शक्ति संसद के पास है। संसद संविधान के अधिकांश भाग में अपने उपस्थित सदस्यों के बहुमत से तथा भाग लेने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत से संशोधन कर सकती है। इस प्रकार का विधेयक दोनों में से किसी एक सदन में पहले प्रस्तुत किया जा सकता है। संविधान संशोधन विधेयक तब तक पास नहीं माना जाएगा जब तक कि दोनों सदन अपने पृथक–पृथक बहुमत से प्रस्ताव पास न कर दे। यदि दोनों सदनों के बीच ऐसे विधेयक को लेकर मतभेद उत्पन्न हो जाता है तो उसे वही रद्द कर दिया जाता है।

13.4.5 निर्वाचक मण्डल के रूप में कार्य–लोकसभा निर्वाचक मण्डल के रूप में भी कार्य करती है। अनुच्छेद 54 के अनुसार लोकसभा के सदस्य राज्यसभा और राज्य विधानसभा के सदस्यों के साथ मिलकर राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं। अनुच्छेद 66 के अनुसार लोकसभा राज्यसभा उपराष्ट्रपति का चुनाव करती हैं। इसके अलावा लोकसभा अपने स्पीकर तथा डिप्टी स्पीकर का भी निर्वाचन करती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

13.4.6 जनता की शिकायतों का निवारण–लोकसभा के सदस्यों को जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होने के कारण जन इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा समस्याओं का पूरा ख्याल रखना पड़ता है। वे जन समस्याओं को मंत्रियों तक पहुंचाते है।

13.4.7 विविध कार्य–लोकसभा कुछ अन्य कार्य भी करती है –

1. लोकसभा राज्यसभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग ला सकती है।
2. उपराष्ट्रपति को हटाने का प्रस्ताव यदि राज्यसभा पास कर दे तो लोकसना उसका अनुमोदन करती है।
3. राष्ट्रपति की संकटकालीन घोषणा की एक माह के भीतर संसद की स्वीकशति मिलना अनिवार्य है अन्यथा घोषणा समाप्त हो जाती है।
4. लोकसभा राज्यसभा के साथ मिलकर सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों के विरूद्ध महाभियोग ला सकती है।
5. यदि राष्ट्रपति सर्वक्षमा करना चाहे तो संसद की स्वीकृति लेना अनिवार्य है।

13.5 राज्यसभा का संगठन

भारतीय संसद का उच्च या द्वितीय सदन राज्य सभा है। राज्य सभा राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाला सदन है, क्योंकि भारत में संघीय व्यवस्था का अनुसरण किया गया है अतः केन्द्र में राज्यों के हितों के संरक्षण के लिए राज्यसभा का गठन किया गया है।

13.5.1 उम्मीदवार की योग्यताएँ–भारतीय संविधान में राज्यसभा सदस्यों के लिए निम्नलिखित योग्यताओं का प्रावधान रखा गया है–

1. वह भारत का नागरिक हो,
2. उसकी आयु 30 वर्ष से कम न हो,
3. वह सरकारी लाभकारी पद पर न हो,
4. वह पागल या न्यायालय द्वारा पागल घोषित न हो।

13.5.2 सदस्य संख्या–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 80 के अनुसार राज्यसभा की अधिकतम सदस्य संख्या 250 हो सकती है, लेकिन वर्तमान में सदस्य संख्या 245 है। जिनमें से 233 का चुनाव राज्य विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य करते हैं तथा 12 सदस्यों का मनोनयन राष्ट्रपति कला, शिक्षा, तकनीकी, पत्रकारिता, अनुसंधान, साहित्य आदि के क्षेत्र में विशेष योग्यता एवं अनुभव रखने वालों में से करता है।

13.5.3 सदस्यों का निर्वाचन–राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव दो तरीके से होता है। प्रथम 233 सदस्यों का चुनाव जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से एकल संक्रमणीय आनुपातिक गुप्त मतदान प्रणाली के आधार पर राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य करते हैं। द्वितीय शेष 12 सदस्यों का मनोनयन राष्ट्रपति विशेष योग्यता एवं अनुभव के आधार पर करता है।

13.5.4 कार्यकाल–राज्यसभा एक स्थाई सदन है जिसे समय पूर्व भंग नहीं किया जा सकता। संविधान के द्वारा राज्यसभा का कार्यकाल 6 वर्ष तय किया गया है। प्रति दो वर्ष बाद 1/3 सदस्य सेवानिवश्त हो जाते हैं और नये 1/3 पद ग्रहण करते हैं।

13.5.5 पदाधिकारी–राज्यसभा का पदेन सभापति भारत का उपराष्ट्रपति होता है जो इसका प्रमुख पदाधिकारी है। इसके अलावा इसका एक उपसभापति भी होता है जिसका चुनाव राज्यसभा स्वयं अपने सदस्यों में से चुनती है। उपराष्ट्रपति का चुनाव लोकसभा तथा राज्यसभा मिलकर करते है तथा इसको प्रतिमाह 40000 रूपये वेतन मिलता है। वह सभापति की हैसियत के कारण मिलता है न कि उपराष्ट्रपति पद के कारण। इस प्रकार उपराष्ट्रपति राज्यसभा का सदस्य न होते हुए भी सभापति होता है। वर्तमान में राज्य सभा के सभापति श्री भैरूसिंह शेखावत एवं उपसभापति श्रीमती नजमा हेप्तुला हैं।

13.5.6 गणपूर्ति एवं अधिवेशन–राज्यसभा की बैठकें तब तक वैध नहीं होतें जब तक कि उसके 1/10 सदस्य उपस्थित न हो अर्थात् 25 सदस्यों का उपस्थित रहना अनिवार्य है। राज्यसभा का अधिवेशन लोकसभा के अधिवेशन के साथ ही शुरू होता हैं। अधिवेशन का वर्ष में दो बार होना जरूरी है। अर्थात् दो अधिवेशनों के बीच का अन्तर 6 माह से अधिक नहीं होना चाहिए।

13.5.7 वेतन एवं सुविधाएँ–सांसदों को वेतन के रूप में प्रतिमाह 4000 रूपये, दैनिक भत्ता 400 प्रतिदिन, 8000 प्रतिमाह निर्वाचन क्षेत्र भत्ता, 8500 रू. प्रतिमाह कार्यालय भत्ता, 6000 रू. प्रतिमाह सचिवालय सहायक के, 1 लाख टेलीफोन कॉल मुफ्त प्रतिवर्ष, निःशुल्क आवास, प्रतिवर्ष 25000 यूनिट बिजली, 2000 किलोलीटर पानी प्रतिवर्ष, मुफ्त रेलवे पास, 32 हवाई यात्राएं प्रतिवर्ष मुफ्त किसी एक को साथ लेकर कर सकता है।

13.5.8 विशेषाधिकार–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 105 में दोनों सदनों के सदस्यों के विशेषाधिकारों का उल्लेख किया गया है, वे हैं–

1. संसद में कही हुई किसी बात के आधार पर न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता
2. न्यायालयों को संसद की कार्यवाही की जांच निषेध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. अधिवेशन के दौरान तथा 40 दिन पूर्व एवं 40 दिन पश्चात् दिवानी मामलों में किसी सदस्य को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता
4. सदन में विचार अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है
5. संसद सदस्यों को जूरी सदस्यों के रूप में नियुक्त नहीं किया जा सकता।

13.6 राज्यसभा की शक्तियाँ

13.6.1 विधायी शक्ति–भारतीय संविधान के अनुसार भारतीय संसद को संघ सूची, समवर्ती सूची, अवशेष विषयों और विशेष परिस्थितियों में राज्य सूची पर कानून बनाने का अधिकार है। यद्यपि संविधान के द्वारा साधारण विधेयक और संवैधानिक संशोधन विधेयकों पर दोनों सदनों को समान स्थिति प्रदान की गयी है। इस प्रकार के विधेयक दोनों में से किसी एक सदन में पहले प्रस्तुत किये जा सकते है। जब दोनों सदनों द्वारा अपने–अपने पृथक बहुमत से पास कर दिये जाते है तब विधेयक राष्ट्रपति के पास जाता है। लेकिन यदि साधारण विधेयक को लेकर दोनों सदनों के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाए तो राष्ट्रपति अनुच्छेद 108 के तहत दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाता है। जिसमें लोकसभा की इच्छानुसार फैसला होता है क्योंकि संख्या बल में वह ज्यादा है।

विशेष : 2002 को आतंकवाद निरोधक अध्यादेश पास करवाने के लिए संयुक्त अधिवेशन बुलाया गया। इससे पूर्व दो बार 1961 में दहेज उन्मूलन विधेयक तथा 1978 में बैंकिंग सेवा आयोग विधेयक पास करवाने के लिए बुलाया गया था।

इस प्रकार राज्यसभा साधारण विधेयक को 6 माह तक रोके रखने के अलावा और कुछ नहीं कर सकती।

13.6.2 वित्तीय शक्तियाँ–वित्तीय शक्ति के क्षेत्र में लोकसभा का एकाधिकार है। इसके सामने राज्य सभा की स्थिति पूर्णत: गौण है, वित्त विधेयक पहले लोकसभा में ही पेश किया जाता है। जब लोकसभा पास कर देती है तब राज्यसभा में यदि राज्य सभा सहमत नहीं है तो वह वित्त विधेयक को केवल 14 दिनों तक ही रोके रख सकती है। इसके अलावा कोई विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं इसका फैसला करने का एकमात्र अधिकार लोकसभा के स्पीकर को ही है।

13.6.3 संविधान संशोधन की शक्ति–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 के अनुसार संविधान में संशोधन करने की शक्ति संसद के पास है। संसद संविधान के अधिकांश भाग में अपने उपस्थित सदस्यों के बहुमत से तथा भाग लेने वाले सदस्यों के 2/3 बहुमत से संशोधन कर सकती है। इस प्रकार का विधेयक दोनों में से किसी एक सदन में पहले प्रस्तुत किया जा सकता है। संविधान संशोधन विधेयक तब तक पास नहीं माना जाएगा जब तक कि दोनों सदन अपने पृथक–पृथक बहुमत से प्रस्ताव पास न कर दे। यदि दोनों सदनों के बीच ऐसे विधेयक को लेकर मतभेद उत्पन्न हो जाता है तो उसे वही रद्द कर दिया जाता है।

13.6.4 कार्यपालिका शक्ति–संसदात्मक शासन व्यवस्था में मंत्रिपरिषद संसद के लोकप्रिय सदन (लोकसभा) के प्रति उत्तरदायी होती है न कि राज्यसभा के प्रति। राज्यसभा के सदस्य मंत्रिगों से प्रश्न पूछ सकते हैं, पूरक प्रश्न पूछ सकते है, निन्दा कर सकते है परन्तु अविश्वास प्रस्ताव द्वारा मंत्रिमण्डल को पदच्युत नहीं कर सकती। यह शक्ति केवल लोकसभा को ही प्राप्त है।

13.6.5 विविध कार्य–राज्यसभा कुछ अन्य कार्य भी करती है –

1. राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर राष्ट्रपति के विरूद्ध महाभियोग ला सकती है।
2. राष्ट्रपति की संकटकालीन घोषणा की एक माह के भीतर संसद की स्वीकृति मिलना अनिवार्य है अन्यथा घोषणा समाप्त हो जाती है।
3. राज्यसभा लोकसभा के साथ मिलकर सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों में न्यायाधीशों के विरूद्ध महाभियोग ला सकती है।
4. यदि राष्ट्रपति सर्वक्षमा करना चाहे तो संसद की स्वीकृति लेना अनिवार्य है।

13.6.6 राज्यसभा की विशेष शक्तियाँ–राज्यसभा को कुछ ऐसी महत्वपूर्ण शक्तियां प्राप्त है जो लोकसभा को नहीं है। जो इस प्रकार है :

1. अनुच्छेद 249 के अनुसार राज्यसभा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले 2/3 सदस्यों के बहुमत से राज्य सूची के किसी विषय को राष्ट्रीय महत्व का विषय घोषित कर सकती है।
2. अनुच्छेद 312 के अनुसार राज्यसभा ही अपने दो तिहाई बहुत से प्रस्ताव पास कर नई अखिल भारतीय सेवाएं स्थापित करने का अधिकार केन्द्र सरकार को दे सकती है। राज्यसभा जब तक इस प्रकार का प्रस्ताव पास न करे तब तक संसद या भारत सरकार किन्हीं नवीन सेवाओं की व्यवस्था नहीं कर सकती है।
3. उपराष्ट्रपति को पद से हटाने के लिए महाभियोग प्रक्रिया की शुरूआत राज्यसभा की पहल पर ही होती है। जब राज्यसभा महाभियोग प्रस्ताव पास कर दे, तब उसका अनुमोदन लोकसभा करती है।

13.6.7 राज्य सभा निर्वाचक मण्डल के रूप में–राज्य सभा निर्वाचक मण्डल के रूप में भी कार्य करती हैं । अनुच्छेद 54 के अनुसार राज्यसभा के सदस्य लोकसभा के सदस्य और राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति का चुनाव करते हैं । अनुच्छेद 366 के अनुसार राज्यसभा और लोकसभा मिलकर उपराष्ट्रपति का चुनाव करती हैं । इसके अलावा राज्यसभा के द्वारा अपने उपसभापति का चुनाव किया जाता हैं ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

13.7 सारांश

राज्यसभा की शक्तियों के इस अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि राज्यसभा न केव्ल द्वितीय सदन वरन् द्वितीय महत्व का सदन ही है। शक्तियों की दृष्टि से इसकी स्थिति ब्रिटिश लार्ड सभा और अमरीकी सीनेट के बीच में ही कही है। संविधान निर्माताओं ने प्रथम सदन की सहायता और सहयोग की भूमिका प्रदान की न कि प्रतिद्वन्द्वी सदन की। पायली के शब्दों में राज्यसभा एक निरर्थक सदन या व्यवस्थापन पर केवल रोक लगाने वाला सदन ही नहीं है। वास्तव में राज्यसभा शासन तन्त्र का एक आवश्यक अंग है, केवल दिखाने मात्र का दूसरा सदन नहीं है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संघीय व्यवस्थापिका के संगठन और शक्तियों का उल्लेख कीजिए।
2. लोकसभा और राज्यसभा की तुलनात्मक व्याख्या करो।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. क्या भारतीय संसद सम्प्रभु है? सिद्ध करो।
2. लोकसभा की ऐसी दो शक्तियां बताओ जो राज्यसभा को प्राप्त नहीं है।
3. राज्यसभा की ऐसी दो शक्तियां बताओं जो लोकसभा को प्राप्त नहीं है।
4. लोकसभा कार्यपालिका पर नियंत्रण कैसे करती हैं?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. संसद के संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता कौन करता है?
2. लोकसभा एवं राज्यसभा की वर्तमान में सदस्य संख्या कितनी है?
3. राज्यसभा का पदेन सभापति कौन होता है?
4. संवैधानिक संशोधन विधेयक पर मतभेद होने पर क्या व्यवस्था की गई है?
5. उपराष्ट्रपति का वेतन बताओ।
6. संसद का संयुक्त अधिवेशन अब तक कितनी बार बुलाया जा चुका है?
7. राज्यसभा वित्त विधेयक को अधिकतम कितने समय तक रोक सकती है?
8. राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव किस पद्धति के आधार पर होता है?
9. वर्तमान में लोकसभा स्पीकर तथा डिप्टी स्पीकर कौन है?

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

बी.एल. फड़िया भारतीय शासन और राजनीति साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

सुभाष कश्यप संविधान की आत्मा लोकतान्त्रिक समीक्षा

डी.डी. बसु भारत का संविधान वाधवा प्रकाशन मेरठ।

एल.एम. सिंघवी राज्यसभा और भारतीय संसदीय प्रणाली में उसकी भूमिका

सुभाष कश्यप हमारी संसद नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया।

सुभाष कश्यप भारतीय संसद : समस्याएँ और समाधान हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशक, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

डॉ. बसन्तीलाल बावेल, संसद, सांसद और सर्वोच्च न्यायालय, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–14 : सर्वोच्च न्यायालय : संगठन एवं शक्तियाँ

संरचना

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 उच्चतम न्यायालय का संगठन

- 14.2.1 न्यायाधीशों की संख्या
- 14.2.2 गणपूर्ति
- 14.2.3 नियुक्ति का तरीका
- 14.2.4 न्यायाधीशों की योग्यता
- 14.2.5 न्यायाधीशों के वेतन–भत्ते
- 14.2.6 न्यायाधीशों का कार्यकाल
- 14.2.7 न्यायाधीशों को पद से हटाने का तरीका
- 14.2.8 शपथ
- 14.2.9 वकालत की मनाही
- 14.2.10 न्यायाधीशों की उन्मुक्तियां

14.3 उच्चतम न्यायालय का क्षेत्राधिकार

- 14.3.1 अभिलेखीय क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 129)
- 14.3.2 प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार
  - (अ) मूल अधिकार सम्बन्धी क्षेत्राधिकार
  - (ब) संघीय क्षेत्राधिकार
- 14.3.3 अपीलीय क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 131 से 136)
  - (अ) संवैधानिक मामले (अनुच्छेद 132)
  - (ब) दीवानी मामले (अनुच्छेद 133)
  - (स) फौजदारी मामले (अनुच्छेद 134)
  - (द) विशिष्ट पुनर्विचार (अनुच्छेद 136)
- 14.3.4 परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 143)

14.4 सारांश

14.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत भारतीय सर्वोच्च न्यायालय का संगठन, न्यायालय की कार्यप्रणाली एवं क्षेत्राधिकार का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप न्यायपालिका की स्थिति की समीक्षा कर सकेंगे–

- सर्वोच्च न्यायालय की भूमिका को समझ सकेंगे,
- संविधान के संरक्षक रूप में सर्वोच्च न्यायालय के महत्त्व को समझ सकेंगे।

14.1 प्रस्तावना

स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका का होना एक राष्ट्र के लिए नितान्त आवश्यक है। इस बात का इतिहास साक्षी है कि जब–जब सही व निष्पक्ष न्याय का अभाव रहा है, तब–तब वह साम्राज्य ताश के पत्तों की भांति ढह गया है। अत: जब हमारा देश आजाद हुआ तब संविधान निर्माताओं ने एक स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका की नींव रखी। जिसका उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 124–147 तथा 214–237 में विस्तृत रूप से किया गया है। एक स्वतन्त्र न्यायपालिका द्वारा ही न्यायिक पुनरावलोकन का कार्य सम्पादित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

किया जा सकता है। न्यायिक पुनरावलोकन की कोई सामान्य शक्ति नहीं है, वरन एक देश के राजनीतिक जीवन पर इसका निर्णायक संवैधानिक प्रभाव पड़ता है। भारत का सर्वोच्च न्यायालय न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का प्रयोग करता है।

संघात्मक शासन व्यवस्था के लिए तो स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका का होना नितान्त आवश्यक माना जाता है, ताकि वह समय–समय पर संघ व राज्यों के बीच उठने वाले विवादों का निपटारा आसानी से कर सके। भारतीय संविधान निर्माताओं ने संसदीय सर्वोच्चता एवं न्यायिक सर्वोच्चता के बीच का रास्ता अपनाया है। उस कारण न्यायपालिका को अपेक्षाकृत शक्तिशाली बनाया गया है और सर्वोच्च न्यायालय को सीमित मात्रा में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्रदान की गई है ताकि, संसद और न्यायपालिका दोनों की गरिमा बनी रहे। पिछले कुछ समय में भारतीय न्यायपालिका ने अपनी सक्रियता का परिचय देते हुए अनेक महत्वपूर्ण फैसले देकर समाज और राष्ट्र की उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया है और व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के अनुचित कदमों को रोका है। वस्तुतः भारत में संविधान और लोकतंत्र की रक्षा का दायित्व सर्वोच्च न्यायालय का ही है। स्वाधीन भारत में सर्वोच्च न्यायालय का कार्यकरण बहुत गौरवमय रहा है तथा आन जनता में व्यक्ति के संवैधानिक अधिकारों तथा स्वाधीनता के प्रहरी के रूप में उसके प्रति अटूट श्रद्धा और सम्मान है।

स्वतन्त्र और सभ्य राज्य की प्रथम पहचान स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका है। इसलिए आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था वाले राज्यों में न्यायपालिका का अपना एक अलग ही महत्व होता है। सर्वोच्च न्यायालय का महत्व इस प्रकार है–

1. संघात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्र के साथ–साथ अनेक राज्य सरकारें होती है उनके बीच समन्वय एवं विवाद के निपटारे के लिये सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता होती है।
2. संविधान की व्याख्या करने के लिए।
3. सरकार के विभिन्न अंगों के बीच तालमेल एवं समन्वय बनाए रखने के लिए।
4. मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए।
5. राष्ट्रपति को महत्वपूर्ण विषयों पर परामर्श देने के लिए।

14.2 उच्चतम न्यायालय का संगठन

14.2.1 न्यायाधीशों की संख्या–भारतीय संविधान न्यायाधीशों की स्पष्ट संख्या का उल्लेख नहीं करता है। 1950 में एक मुख्य न्यायाधीश तथा 7 अन्य न्यायाधीशों की व्यवस्था की गई थी परन्तु यह संख्या समय–समय पर बढ़ती रही है। 1980 में मुख्य न्यायाधीश सहित कुल 14 न्यायाधीश थे तथा सर्वोच्च न्यायालय न्यायाधीशों की संख्या अधिनियम 1985 के तहत यह व्यवस्था की गई कि उच्चतम न्यायालय में कुल 26 न्यायाधीश होंगे। यह संख्या आज तक लागू है। इस प्रकार संविधान का अनुच्छेद 124 (1) संसद को यह अधिकार देता है कि वह न्यायाधीशों की संख्या में वृद्धि कर सकती है।

14.2.2 गणपूर्ति–संविधान में इस बात का कोई उल्लेख नहीं है कि किसी विषय पर निर्णय लेने के लिए कितने न्यायाधीशों की आवश्यकता होगी। सामान्यतया संविधान संशोधन पीठ के लिए 5 न्यायाधीशों की आवश्यकता होती है। अनुच्छेद 127 (1) में प्रावधान किया गया है कि यदि अधिक संख्या में न्यायाधीश अनुपस्थित हो तो मुख्य न्यायाधीश को यह अधिकार है कि वह राष्ट्रपति की सलाह पर अस्थाई न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सकता है।

14.2.3 नियुक्ति का तरीका–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 124 के अनुसार राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधीश के परामर्श पर अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करेगा, परन्तु क्या मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति के समय वह किसी की सलाह मानने का बाध्य है? 1998 को सर्वोच्च न्यायालय ने अपने महत्वपूर्ण फैसले में सर्वोच्च न्यायालय एवं उच्च न्यायालयों की नियुक्ति की प्रक्रिया स्पष्ट की है जिसके अनुसार राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के परामर्श के आधार पर करेगा। मुख्य न्यायाधीश के सम्बन्ध में परामर्श देने से पूर्व चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों से लिखित में सलाह लेगा।

14.2.4 न्यायाधीशों की योग्यता–उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों के लिए निम्न योग्यता होनी चाहिए–

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. वह भारत के एक या एक से अधिक उच्च न्यायालय में 5 वर्ष तक न्यायाधीश रह चुका हो या 10 वर्ष तक वकालत कर चुका हो।
3. वह राष्ट्रपति की राय में कानून का प्रकाण्ड पण्डित हो।

14.2.5 न्यायाधीशों के वेतन भत्ते–मुख्य न्यायाधीश का वेतन 33000 रूपये मासिक तथा अन्य न्यायाधीशों के वेतन 30000 रूपये मासिक।

14.2.6 न्यायाधीशों का कार्यकाल–उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को 65 वर्ष की आयु तक पद पर आसीन रहते हैं। 65 वर्ष की आयु के बाद उनको सेवानिवृत कर दिया जाएगा। सेवानिवृत होने के बाद वह पेंशन का हकदार बन जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

14.2.7 न्यायाधीशों को पद से हटाने का तरीका–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 124 में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि यदि उस पर (न्यायाधीश) पर कदाचार या भ्रष्टाचार के गम्भीर आरोप सिद्ध होने की स्थिति में उसे श्महाभियोगश द्वारा पद से हटाया जा सकता है। यद्यपि हटाने की इस प्रक्रिया को काफी जटिल बनाया गया ताकि न्यायाधीशों को अपने पद की असुरक्षा नहीं रहे। महाभियोग प्रस्ताव के पास होने के लिए लोकसभा व राज्यसभा के उपस्थित सदस्यों का 2/3 बहुमत तथा सभी सदस्यों के बहुमत की आवश्यकता होती है और यदि प्रस्ताव पास हो जाए और राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे तो यह महाभियोग सिद्ध हो जाता है।

14.2.8 शपथ–भारतीय संविधान में यह लिखा है कि उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति को अपना पद सम्भालने से पूर्व तृतीय अनुसूची में दी गई शपथ राष्ट्रपति के सम्मुख या उसकी ओर से नियुक्त किए हुए अन्य किसी व्यक्ति के सामने ग्रहण करनी पड़ती है।

14.2.9 वकालत करने की मनाही–अनुच्छेद 124 (7) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि सेवानिवृति के पश्चात् न्यायाधीश किसी भी न्यायालय में वकालत नहीं करेंगे। यह प्रावधान इसलिए किया गया ताकि कोई न्यायाधीश उसकी गरिमा या उसके प्रभाव से प्रभावित कोई गलत निर्णय न दे दे।

14.2.10 न्यायाधीशों की उन्मुक्तियाँ :– संविधान न्यायाधीशों को कुछ उन्मुक्तियाँ प्रदान करता है जो निम्नलिखित है–

1. न्यायाधीशों के आचरण अथवा उनके निर्णयों के बारे में संसद में कोई वाद विवाद नहीं हो सकता है।
2. किसी भी न्यायाधीश पर जनता अथवा संसद में किसी प्रकार के बुरे इरादे का आरोप नहीं लगाया जा सकता व आलोचना नहीं की जा सकती।
3. उच्चतम न्यायालय किसी भी ऐसे व्यक्ति के विरूद्ध अवमानना की कार्यवाही चला सकता है जो न्यायाधीशों के विरूद्ध कोई ईर्ष्यापूर्ण प्रचार करता हो अथवा जिन्होंने न्यायाधीशों की आलोचना बुरे इरादे से की हो।

   विशेष : टाईम्स ऑफ इण्डिया के सम्पादकों, प्रकाशकों, मुद्रकों के विरूद्ध सुप्रीम कोर्ट में इसी कारण अवमानना की कार्यवाही चली।
4. सुप्रीम कोर्ट उनके विरूद्ध भी कार्यवाही कर सकती है, जो इसको प्रभावित करने की कोशिश करे या उनके मत को किसी विपक्ष में करे।

14.3 उच्चतम न्यायालय का क्षेत्राधिकार

भारतीय उच्चतम न्यायालय को विश्व के अन्य न्यायालयों की तुलना में अधिक शक्तियाँ प्रदान की गई है। इसके क्षेत्राधिकार निम्नलिखित है–

14.3.1 अभिलेखीय क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 129)–संविधान का अनुच्छेद 129 सर्वोच्च न्यायालय को एक अभिलेख न्यायालय का रूप प्रदान करता है और इसे न्यायालय की समस्त शक्तियाँ प्राप्त होगी। इसके निर्णय, कार्यवाही कार्य आदि के अभिलेख रखे जाते है। जो आगे चलकर काफी महत्वपूर्ण साबित होते है। क्योंकि उनको आधार मानकर अन्य अधीनस्थ न्यायालय निर्णय दे सकते है। इस प्रकार उसे साक्ष्य के रूप में इस्तेमाल किया जा सकता है और किसी न्यायालय में उनकी प्रमाणिकता को चुनौती नहीं दी जा सकती। (दफ्तरी बनाम गुप्ता, ए.आई.आर. 1971, एस.सी. 1132 नंबूद्रीपाद बनाम नम्बियार ए.आई.आर. 1970 एस.सी. 2015)

अभिलेख न्यायालय इस आधार पर महत्वपूर्ण होता है कि वह अवमानना के विरूद्ध भी कार्यवाही कर सकता है। इस शक्ति को संविधान प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त संसद से न्यायालय अवमानना अधिनियम 1971 पारित कर के न्यायिक अवमानना की निश्चित परिभाषा दे दी है। न्यायालय; अवमानना के लिए 6 माह का कारावास तथा 2000 रू. का जुर्माना या दोनों ही कर सकता है। यदि न्यायाधीश ऐसा करता है तो उसके विरूद्ध भी कार्यवाही की जा सकती है।

44वें संविधान संशोधन 1978 के अनुसार उच्चतम न्यायालय यदि चाहे तो स्वयं उच्च न्यायालय से मामले को अपने पास मंगा सकता है।

14.3.2 प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार–अनुच्छेद 131 के अनुसार उच्चतम न्यायातय को निम्न विषयों पर प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है–

1) भारत सरकार व एक या एक से अधिक राज्यों के बीच विवाद,
2) संघ तथा राज्य के साथ कुछ राज्य दूसरी ओर एक या अधिक राज्य,
3) मौलिक अधिकारों सम्बन्धी विवाद (इनको हम अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में बांट सकते हैं)

(अ) मूल अधिकार सम्बन्धी क्षेत्राधिकार –भारतीय संविधान का अनुच्छेद 14 से 35 तक नागरिकों को मौलिक अधिकार प्रदान करता है। इन्हें लागू करने के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय के साथ–साथ उच्च न्यायालय को भी शक्ति प्राप्त है। संविधान का अनुच्छेद 32 संवैधानिक उपचारों का अधिकार प्रदान करता है जिसके अनुसार यदि किसी व्यक्ति के मूल अधिकारों का हनन राज्य या किसी व्यक्ति द्वारा किया जाता है तो वह सर्वोच्च न्यायालय की शरण ले सकता है। इन अधिकारों के प्रवर्तन के लिए उच्चतम न्यायालय को विस्तृत क्षेत्राधिकार प्राप्त है। इसके लिए वह न केवल बंदी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, अधिकार–पृच्छा, उत्प्रेषण व प्रतिषेध की प्रकृति के लेख ही जारी कर सकता है बल्कि अन्य निर्देश या आदेश भी जारी कर सकता है। राष्ट्रपति द्वारा घोषित आपातकालीन स्थिति में मूल अधिकार निलम्बित किये जा सकते है। उस समय सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार प्रभावहीन हो जाते हैं।

विशेष : 44वें संविधान संशोधन द्वारा यह स्थिति उत्पन्न कर दी गई है कि आपातकाल की घोषणा में राष्ट्रपति अनुच्छेद 21 को निलम्बित नहीं कर सकता है जो जीवन की स्वतंत्रता से सम्बन्धित है ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ब) संघीय क्षेत्राधिकार – अनुच्छेद 131 निम्न मामलों पर उच्चतम न्यायालय को क्षेत्राधिकार प्रदान करता है–

1) संघ या एक या एक से अधिक राज्यों के बीच,
2) संघ और कोई राज्य एक ओर तथा एक या अधिक राज्य दूसरी ओर
3) दो या दो से अधिक राज्यों के बीच;

सर्वोच्च न्यायालय का यह क्षेत्राधिकार संघात्मक व्यवस्था के अनुकुल है क्योंकि जब केन्द्र या राज्य या दो या दो से अधिक राज्यों के बीच आपसी विवाद उत्पन्न हो जाये तो उनका समाधान करने के लिये यह जरूरी है । इस प्रकार ऐसे तमाम विवादों की अपील केवल सर्वोच्च न्यायालय में ही की जा सकती है ।

14.3.3 अपीलीय क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 131 से 136)–सर्वोच्च न्यायालय के अपीलीय क्षेत्राधिकार को हम चार भागों में बांट सकते है –

अ. संवैधानिक मामले (अनुच्छेद 132)

ब. दिवानी मामले (अनुच्छेद 133)

स. फौजदारी मामले (अनुच्छेद 134)

द. विशिष्ट पुनर्विचार (अनुच्छेद 136)

(अ) संवैधानिक मामले : अनुच्छेद 132 में व्यवस्था है कि यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि यह विवाद संविधान की व्याख्या से सम्बन्धित है तो उच्च न्यायालय के निर्णय की अपील उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है। यदि उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाण–पत्र देना अस्वीकार कर देता है तो ऐसी स्थिति में उच्चतम न्यायालय सबंद्ध मामले को संविधान की व्याख्या का प्रश्न घोषित कर सकता है और वह स्वयं अपील सुन सकता है।

उच्चतम न्यायालय में अपील उच्च न्यायालय के अन्तिम आदेश के विरूद्ध की ज सकती है। अन्तिम आदेश वह आदेश होता है जो पक्षकारों के अधिकारों का अन्तिम रूप से निपटारा करता है। यदि आदेश के बाद भी मुकद्मा जीवित है अर्थात् जिसमें अधिकारों का भी निपटारा किया जाना शेष है तो उसके विरूद्ध अपील नहीं की जा सकती है।

विशेष : चुनाव आयोग बनाम वेंकटराव के वाद में यह प्रश्न उठाया गया था कि क्या संवैधानिक विषयों में अनुच्छेद 132 के अधीन किसी अकेले न्यायाधीश के निर्णय के विरूद्ध अपील की जा सकती है ? उच्चतम न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि उच्च न्यायालय के किसी एक न्यायाधीश के निर्णय के विरूद्ध भी अपील की जा सकती है। इस सम्बन्ध में न्यायाधीशों की संख्या का कोई महत्व नहीं है।

(ब) दिवानी मामले : मूल संविधान के अनुसार उच्च न्यायालय से उच्चतम न्यायालय में केवल ऐसे दिवानी मामलों की अपील की जा सकती है जिसमें विवादास्पद राशि 20,000 रूपये से अधिक हो लेकिन अनुच्छेद 133 में 30 वां संविधान संशोधन (1972) कर राशि की सीमा समाप्त कर दी गयी है। अब उच्च न्यायालय द्वारा यह प्रमाणिक कर दिया जाये कि इस विवाद में कानून की व्याख्या से सम्बन्धित प्रश्न मौजूद है तो अपील उच्चतम न्यायालय में की जा सकती हैं। अर्थात् उच्च न्यायालय के प्रमाण पत्र के आधार पर ही।

(स) फौजदारी मामले : श्री पी.के.सैन का मत था कि मृत्युदण्ड़ के सभी मामलों की अपील सर्वोच्च न्यायालय में होनी चाहिए लेकिन के.एम.मुंशी जैसे संविधान सभा के सदस्य सहमत नहीं थे। उनका कहना था कि इससे उच्चतम न्यायालय का कार्यभार बढ़ जायेगा अतः वर्तमान में फौजदारी मामलों से सम्बन्धित प्रावधान मुंशी के विचारकों के अनुरूप ही है। अनुच्छेद 134 के अनुसार फौजदारी मामलों में उच्चतम न्यायालय में तभी अपील की जा सकती है जबकि

क) उच्च न्यायालय ने अपील प्रस्तुत होने पर किसी व्यक्ति की मुक्ति का आदेश रद्द करके उसे मृत्युदण्ड सुना दिया हो या उसे आजीवन कारावास का या कम से कम 10 वर्ष के कारावास का दण्ड दिया हो।

ख) उच्च न्यायालय ने अधीनस्थ न्यायालय से मामला सुनवाई के लिए अपने पास मंगवा कर अभियुक्त को मृत्युदण्ड सुना दिया हो या उसे आजीवन कारावास का या कम से कम दस वर्ष के कारावास का दण्ड दिया हो।

ग) उच्च न्यायालय ने यह प्रमाण–पत्र दे दिया हो कि मुकदमा इस लायक है के उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है।

अनुच्छेद 134 (1) (ग) के अधीन किसी उच्च न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध कोई अपील उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है। यदि उच्च न्यायालय अनुच्छेद 134 (क) के अधीन प्रमाणित कर देता है कि मामला उच्चतम न्यायालय में अपील के योग्य है लेकिन उपखंड (ग) के अन्तर्गत कहा गया है कि ऐसी अपीलें उच्चतम न्यायालय द्वारा बनाए गए नियमों तथा ऐसी अन्य शर्तों के अधीन होगी जिन्हें उच्च न्यायालय नियत करे। फौजदारी मामलों के बारे में उच्चतम न्यायालय में अपीलों के उच्च न्यायालय द्वारा प्रमाणपत्र का दिया जाना इस मूल्यांकन पर निर्भर करता है कि क्या मामले में विधि तथा उसमे निर्वाचन का सारवान प्रश्न अन्तःस्थित है और क्या उस पर उच्चतम न्यायालय के लिए तुरन्त अपनी राय का दिया जाना अपेक्षित है और क्या इसके फलस्वरूप अभियुक्त के प्रति गंभीर अन्याय हो जाएगा, यदि उसे उच्चतम न्यायालय में अपील के अवसर से वंचित किया जाता है।

Uttarakhand Open University, Vishva Bharat Institute (Deemed University) Ladhun

(ग) विशिष्ट पुनर्विचार : अनुच्छेद 136 उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इसके तहत प्रदान की गई शक्तियाँ विशिष्ट शक्तियों की प्रकृति की है। संविधान के अनुच्छेद 132 से 134 तक उच्च न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध उच्चतम न्यायालय का हस्तक्षेप आवश्यक हो सकता है। अनुच्छेद 136 यह व्यवस्था करता हैं कि उच्चतम न्यायालय स्वविवेक से भारत राज्य क्षेत्र के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा किसी विषय में दिए गए किसी निर्णय, आज्ञप्ति निर्धारण दण्डादेश या आदेश की अपील के लिए विशेष इजाजत दे सकता है। इस सम्बन्ध में अपवाद यह है कि सैनिक न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध उच्च न्यायालय में अपील नहीं की जा सकती हैं।

14.3.4 परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार (अनुच्छेद 143)—भारतीय संविधान का अनुच्छेद 143 सर्वोच्च न्यायालय को परामर्श या सलाह संबंधी अधिकार प्रदान करता हैं, जिसके मुताबिक राष्ट्रपति चाहे तो किसी राष्ट्रीय महत्व के विषय या अतिसंवेदनशील मामले पर सुप्रीम कोर्ट से सलाह या परामर्श मांग सकता है परन्तु यह सुप्रीम कोर्ट की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह राष्ट्रपति को किसी मामले में सलाह दे।

विशेष : जब भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति शंकरदयाल शर्मा ने उच्चतम न्यायालय से राम जन्मभूमि व बाबरी मस्जिद के सन्दर्भ में सलाह मांगी तब उच्चतम न्यायालय ने स्पष्ट रूप से सलाह देने हेतु इन्कार कर दिया।

विशेष : सन् 2002 में चुनाव आयोग तथा गुजरात सरकार के बीच गुजरात विधान सभा चुनाव अक्टूबर 2002 में करवाने को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया था क्योंकि गुजरात की नरेन्द्र मोदी सरकार इस माह तक चुनाव करवाना चाहती थी और राज्य विधानसभा को पहले से ही भंग कर दिया गया था अतः उसका तर्क था कि यदि इस माह तक चुनाव नहीं होते हैं तो विधानसभा के दो अधिवेशनें के बीच का अन्तर छः माह से अधिक हो जायेगा। जिसके चलते यहां संवैधानिक संकट खड़ा हो सकता है। लेकिन चुनाव आयोग गुजरात की परिस्थितियों को साम्प्रदायिक दंगों को तत्काल बाद चुनाव योग्य नही मानता था और उसने चुनाव दिसम्बर 2002 में करवाने का निश्चय किया अतः इस विवाद के समाधान के लिये राष्ट्रपति ए.पी.जे.अब्दुल कलाम ने अनुच्छेद 143 का प्रयोग करते हुए यह सलाह मांगी की अनुच्छेद 324 (चुनाव आयोग) को महत्व दिया जाये या अनुच्छेद 174 (विधान सभा की दो बैठकों का अन्तर छः माह से अधिक का न हो) अन्ततः सर्वोच्च न्यायालय ने 324 के महत्व को स्वीकार किया।

14.4 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारत के संविधान निर्माताओं ने आशा के अनुरूप स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायापालिका की नींव रखी, जो सरकार के अन्य दो अंगों व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त रहकर स्वतन्त्र रूप से अपनी भुमिका का निर्वहन कर रही हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने पिछले कुछ समय में महत्वपूर्ण निर्णय देकर संविधान, लोकतान्त्रिक ढांचे तथा मौलिक अधिकारों का संरक्षण किया हैं व व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के अनुचित कार्यो पर अंकुश लगाया है। केशवानन्द भारती के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने महत्वपूर्ण फैसले में कहा है कि संसद संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती है लेकिन मुलभुत ढांचे के साथ छेड़छाड़ नहीं कर सकती। इसके अतिरिक्त पिछले एक दशक से सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायिक सक्रियता का परिचय देकर आम जनता की आवाज को सशक्त रूप से उठाने का प्रयास जनहित याचिकाओं के माध्यम से किया हैं वह भी प्रशंसनीय हैं। अनेक भ्रष्टाचार एवम् घोटालों से सम्बन्धित मामलों में जांच एजेंसियों को फटकार लगाकर निष्पक्ष एवं तीव्र गति से जांच करने के निर्देश दिये हैं। यह हमारी व्यवस्था के लिये शुभ संकेत माना जा सकता है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. उच्चतम न्यायालय के संगठन एवं क्षेत्राधिकार का वर्णन कीजिये ।
2. संविधान के अभिभावक तथा नागरिक अधिकारों के संरक्षक के रूप में उच्चतम न्यायालय की भूमिका पर प्रकाश डालिये ।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. उच्चतम न्यायालय के परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार (उदाहरण सहित) बताओं
2. उच्चतम न्यायालय का क्या महत्व है ?
3. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को पद से हटाने की प्रक्रिया का उल्लेख कीजिये?
4. उच्चतम न्यायालय को अभिलेखीय न्यायालय क्यों कहा जाता हैं ?
5. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति का तरीका बताओं ?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा अन्य न्यायाधीशों को वेतन कितना मिलता है ?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. वर्तमान में मुख्य न्यायाधीश सहित न्यायाधीशों की कितनी संख्या है ?
3. 30 वें संविधान संशोधन द्वारा दिवानी मामलों की उच्चतम न्यायालय में अपील के सम्बन्ध में क्या परिवर्तन किया गया है ?
4. हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय ने किस विषय के सम्बन्ध में परामर्श दिया है ?
5. एक बार नियुक्त होने पर एक न्यायाधीश कितने वर्ष की आयु तक अपने पद पर बना रह सकता है ?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

जय नारायण पाण्डेय, भारत का संविधान, सैन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहबाद।

डी.डी. बसु, भारत का संविधान वाधवा प्रकाशन मेरठ।

सुशीला कौशिक, भारतीय शासन और राजनीति, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय , दिल्ली विश्वविद्यालय , दिल्ली।

सुभाष कश्यप, भारत का संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया,

बी.पी.पाण्डेय , भारतीय शासन और राजनीति, सरस्वती सदन, दिल्ली ।

बी.एल.फड़िया, भारतीय शासन और राजनीति, साहित्य भवन आगरा ।

बसन्तीलाल बावेल, संसद, सांसद और सर्वोच्च न्यायालय , राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–15 : न्यायिक पुनरावलोकन

संरचना

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 न्यायिक पुनरावलोकन की संवैधानिक व्यवस्था

- 15.2.1 अनुच्छेद 13 (2)
- 15.2.2 अनुच्छेद 246
- 15.2.3 अनुच्छेद 32
- 15.2.4 अनुच्छेद 131 व 132

15.3 न्यायिक पुनरावलोकन की प्रकृति एवं सीमाएँ

- 15.3.1 अमरीकी संविधान संक्षिप्त तथा भारतीय संविधान विस्तृत
- 15.3.2 अमरीकी अधिकार पत्र का अस्पष्ट तथा भारतीय मौलिक अधिकारों का स्पष्ट होना
- 15.3.3 संवैधानिक व्यवस्था में निहित अन्तर

15.4 न्यायिक पुनरावलोकन की आलोचनाएँ

- 15.4.1 अनुदारवादी शक्ति के रूप में कार्य
- 15.4.2 पूर्व निर्णयों में परिवर्तन
- 15.4.3 संवैधानिक सीमाओं का अतिक्रमण
- 15.4.4 सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता को बढ़ाव
- 15.4.5 संसद और न्यायपालिका के बीच टकराव को प्रोत्साहन

15.5 सारांश

15.0 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय की सर्वोच्च शक्ति न्यायिक पुनरावलोकन की संवैधानिक व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। इस पाठ को पढ़कर आप न्यायिक पुनरावलोकन की समीक्षा कर सकेंगे–

- न्यायिक पुनरावलोकन की प्रकृति और क्षेत्र का विश्लेषण कर सकेंगे,
- न्यायिक पुनरावलोकन का आलोचनात्मक मूल्यांकन करेंगे।

15.1 प्रस्तावना

न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार न्यायपालिका के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है। जो उसकी (न्यायपालिका) की प्रतिष्ठा में चार चांद लगा देता है। यह न्यायालय की एक ऐसी शक्ति है जिसमें यह किसी कानूनी या सरकारी कार्य को असंवैधानिक घोषित कर सकती है, जिसे यह देश की मूल विधि या संविधान के विरूद्ध समझे।

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्थाओं की यह विशेषता होती है कि इनमें शासन व्यक्ति विशेष या व्यक्ति समूह की इच्छा के अनुसार नहीं चलकर विधि के अनुसार सम्पादित होता है। सभी व्यक्ति समुदाय व सरकार तथा उसके अधिकारी अपने–अपने अधिकार क्षेत्र में रहे, इसके लिए संविधान के द्वारा स्वतन्त्र व निष्पक्ष न्यायपालिका की व्यवस्था होती है। जो उन्हें अपने कार्य क्षेत्र का उल्लंघन करने से रोकती है। उल्लंघनकर्ता को दण्डित करती है, संविधान की व्याख्या करती है। न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति की आवश्यकता होती है।

ब्रातूपद ने अपनी पुस्तक Encyclopaedia of Social Science में लिखा है कि न्यायिक पुनरावलोकन का अभिप्राय न्यायालयों की उस शक्ति से है जो उन्हें अपने न्याय क्षेत्र के तहत लागू होने वाले व्यवस्थापिका के कानूनों की वैधानिकता का निर्णय देने के सम्बन्ध में तथा उन कानूनों को लागू करने के सम्बन्ध में प्राप्त है, जिन्हें वे अवैध समझे।

Pinoken and Smite यह न्यायालयों की संविधान की व्याख्या करने की तथा व्यवस्थापिका, कार्यपालिका व प्रशासन के उन कार्यों की जो सर्वोच्च कानून (संविधान) के प्रतिकूल हो रद्द करने की शक्ति प्राप्त है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

एम.वी. पायली Constitution of Indian यह न्यायपालिका की वह शक्ति है जिससे वह व्यवस्थापन कार्यों की वैधानिकता या अवैधानिकता की घोषणा करती है। भारत में न्यायिक पुनरावलोकन : भारत में सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की सर्वोच्चता की रक्षा करने का उत्तरदायित्व प्राप्त है। यदि संघीय या राज्य विधानमण्डलों और संघ अथवा राज्यों की कार्यपालिका द्वारा संविधान का अतिक्रमण किया जाता है या अपनी लिखित सीमाओं के बाहर कानूनों का निर्माण किया जाता है अथवा प्रशासनिक कार्यवाही की जाती है तो सर्वोच्च न्यायालय ऐसे कानूनों अथवा प्रशासनिक कार्यवाही को अवैध घोषित करने का अधिकार रखता है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने न्यायिक क्षेत्र में न्यायिक सर्वोच्चता तथा संसदीय व्यवस्था के बीच समन्वय बनाये रखने का प्रयास किया है। वे यह नहीं चाहते थे कि न्यायपालिका सरकार के तीसरे अंग के रूप में स्वतन्त्र रूप में कार्य करे। इसके अलावा इस बात का भी पूरा–पूरा ध्यान रखा गया कि संसद की सर्वोच्चता इस हद तक न पहुँच जाये कि वह निरंकुश हो जाए।

15.2 न्यायिक पुनरावलोकन की संवैधानिक व्यवस्था

यद्यपि भारतीय संविधान में कोई ऐसा अनुच्छेद नहीं है, जो संविधान को देश की सर्वोच्च विधि घोषित करता हो। इसके अलावा उचित प्रक्रिया के आधार पर संविधान संशोधनों को भी न्यायपालिका अवैध घोषित नहीं कर सकती, लेकिन भारतीय संविधान लिखित एवं कठोर है, संघात्मक व्यवस्था है; केन्द्र व राज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट विभाजन है; मौलिक अधिकारों का उल्लेख है यहीं सारी व्यवस्था सर्वोच्च न्यायालय को स्वतः ही संविधान की व्याख्या करने का अधिकार प्रदान करती है। भारतीय संविधान के निम्न प्रावधान सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्रदान करते हैं।

15.2.1. अनुच्छेद 13 (2) के अनुसार न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति–इस अनुच्छेद के अनुसार राज्य ऐसा कोई कानून नहीं बनाएगा जो मूल अधिकारों के भाग तीन द्वारा दिये गये अधिकारों को छीनता या कम करता है और इस खण्ड का उल्लंघन करने वाला प्रत्येक कानून उल्लंघन की मात्रा तक शून्य होगा। इसका आशय यह हुआ कि राज्य द्वारा किए गए कार्यों को उच्चतम न्यायालय इस आधार पर देख सकता है कि अनुच्छेद 13 (2) के अनुकूल है या नहीं और यदि वह इसके अनुकूल है तो सर्वोच्च न्यायालय उस कानून को असंवैधानिक घोषित कर सकता है। संविधान के 24वें संशोधन, 1971 से पूर्व यह अनुच्छेद देश की राजनीति में तूफान लाने वाला सिद्ध हुआ।

विशेष : 1952 में पहली बार शंकरीप्रसाद मामले में तत्कालीन मुख्य न्यायाधीश हरिलाल कानिया की अध्यक्षता में गठित जाँच ने सर्वसहमति से यह निर्णय किया था कि संसद मूल अधिकारों सहित संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती है। बशर्ते यह निर्धारित प्रक्रिया का पालन किया जाए।

लेकिन 1967 में गोलकनाथ के मामले में उच्चतम न्यायालय ने अपने पूर्व निर्णय को उलट दिया। इस मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्णय ने सदा के लिए मूल अधिकारों का संशोधन शक्ति से परे कर दिया। गोलकनाथ के निर्णयों से बड़े दूरगामी और क्रांतिकारी परिणाम निकले, देश के संविधान को दी गई चुनौतियों के नए उत्तर दिये गये।

तेजी से बदलते हुए राजनीतिक सन्दर्भों से 24वें, 25वें और 26वें संशोधन के लिए रंगमंच तैयार हो गया। संविधान के 24वें संशोधन अधिनियम 1971 द्वारा अनुच्छेद 13 में खण्ड (3) के पश्चात् निम्नलिखित खण्ड (4) जोड़ दिया गया है कि इस अनुच्छेद की कोई बात अनुच्छेद 368 के अधीन किए गए संविधान के किसी संशोधन पर लागू नहीं होगी।इस प्रकार संसद को मूल अधिकारों के अध्याय में संशोधन करने का अधिकार है या नहीं – इस प्रश्न पर विवाद समाप्त हो गया, न्यायिक पुनरावलोकन के क्षेत्र में चली आ रही एक अस्पष्टता दूर हो गई।

विशेष : 1973 में उच्चतम न्यायालय द्वारा श्री केशवानन्द भारती बनाम मद्रास सरकार विवाद के सम्बन्ध में दिये गये अपने निर्णय में इस सांविधानिक संशोधन की वैधता को स्वीकार कर लिया गया।

15.2.2 अनुच्छेद 246 के अनुसार न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति–अनुच्छेद 246 संघ व राज्यों के सम्बन्धों का उल्लेख करता है जो उच्चतम न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति प्रदान करता है। अतः कोई भी पक्ष अपनी निर्धारित शक्तियों का उल्लंघन करता है तो सर्वोच्च न्यायालय उसे असंवैधानिक घोषित कर सकता है। चूंकि तीनों सूचियों में शक्ति वितरण की स्पष्ट व्यवस्था है और सभी परिस्थितियों का संविधान में यथा साध्य उल्लेख कर दिया गया है। अतः उच्चतम न्यायालय को अपने विवेक का प्रयोग करने का बहुत कम अवसर मिलता है, अर्थात् उसे कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही जांच करनी होती है।

15.2.3 अनुच्छेद 32 के अनुसार न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति–भारतीय संविधान का अनुच्छेद 32 नागरिकों को संवैधानिक उपचारों का अधिकार प्रदान करता है। जिसके अनुसार यदि नागरिक के अधिकारों का हनन राज्य या किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा किया जाता है तो वह न्यायालय की शरण ले सकता है। उच्चतम न्यायालय को यह देखने का अधिकार है कि क्या वास्तव में व्यक्ति के अधिकारों का हनन हो रहा है ? मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए उच्चतम न्यायालय को अनुच्छेद 32 (2) के अन्तर्गत बंदी प्रत्यक्षीकरण परमादेश, प्रतिषेध, उत्प्रेषण और अधिकार पृच्छा लेख निकलने का अधिकार है। ये लेख या आदेश कानून द्वारा स्थापित प्रक्रिया के उल्लंघन पर ही निकाले जाते हैं, अमेरिका की तरह प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं। वास्तव में इन रिटों के रूप में न्याय प्रशासन की नई शाखा का विकास हुआ है। इस नई शाखा का जनता ने किस उत्साह के साथ उपभोग किया है, वह इस बात से ही प्रकट है कि अनेक उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की संख्या में 100 से 200 प्रतिशत तक वृद्धि करनी पड़ी है और फिर भी विचाराधीन मुकदमों की संख्या बढ़ती जा रही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशेष : 1999 में प्रमुख राजनीतिज्ञ व विधिवेत्ता राजीव धवन ने जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय के समागार में आयोजित अपने भाषण में यह कहा था कि न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने से विचाराधीन मुकदमों की संख्या कम नहीं होगी, अपितु इसके लिए कार्यपालिका का दायित्व बनता है कि कानूनों को इस ढंग से लागू करें, जिससे स्वतः इनकी संख्या में कमी आ जायेगी। न्यायपालिका द्वारा रिट अधिकार के प्रयोग से जन साधारण के मन में यह विश्वास जाग गया है कि उस पर शासन कानूनों का हैं, व्यक्ति का नहीं।

विशेष : दिसम्बर 1997 को जयपुर की एक सातवीं कक्षा की छात्रा ने अपने पत्र में न्यायालय को सूचित किया कि एक टी.वी. चैनल कुछ ऐसे दृश्य पेश करता है जिससे उनको भय व डर लगता है। उसको राजस्थान उच्च न्यायालय ने जनहित याचिका मानकर स्वीकार किया है।

15.2.4 अनुच्छेद 131 एवं 132 के अनुसार–अनुच्छेद 131 में उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक क्षेत्राधिकार का उल्लेख हैं और अनुच्छेद 132 में संवैधानिक मामलों में उसके अपीलीय क्षेत्राधिकार का उल्लेख किया गया है अर्थात् ये दोनों अनुच्छेद उच्चतम न्यायालय को संघीय और राज्य सरकार द्वारा निर्मित विधियों के पुनरावलोकन का अधिकार देते हैं।

38 वें संविधान संशोधन से 43वें संविधान संशोधनों की स्थिति–

1. संविधान के 38वें संशोधन एक्ट, 1975 द्वारा यह व्यवस्था कर दी गई कि आपातकालीन स्थिति की घोषणा के राष्ट्रपति के अधिकार को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। इस संशोधन ने राष्ट्रपति, राज्यपाल और राज्यपालों द्वारा उद्घोषित आपातकालीन स्थिति वाले अध्यादेशों को न्यायालय की सुनवाई के क्षेत्राधिकार से अलग कर दिया।
2. 39वें संशोधन, 1975 द्वारा राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और संसद के अध्यक्ष के चुनाव पर विचार करने के न्यायालय के अधिकार समाप्त कर दिए गए।
3. 40वें संशोधन एक्ट, 1976 के द्वारा प्रधानमंत्री को भी राष्ट्रपति और राज्यपालों की तरफ दाण्डिक तथा दीवानी कार्यवाहियों से विमुक्ति प्रदान कर दी गई।
4. 42वें संशोधन अधिनियम 1976 के द्वारा उच्चतम न्यायालय की पुनरावलोकन की शक्ति को और सीमित कर दिया गया तथा न्यायिक पुनरावलोकन की प्रक्रिया को कठिन बना दिया गया।
5. लेकिन 42वें संवैधानिक संशोधन ने न्यायिक पुनरावलोकन सम्बन्धी व्यवधानी को समाप्त कर दिया और न्यायिक पुनरावलोकन के सम्बन्ध में पुनः वही स्थिति हो गई जो 42वें संशोधन के पूर्व थी। 43वें संविधान संशोधन ने भारतीय न्यायपालिका की प्रतिष्ठा और गरिमा को बहाल कर दिया।

15.3 न्यायिक पुनरावलोकन की प्रकृति व सीमाएँ

भारत के संविधान निर्माताओं ने न्यायिक पुनरावलोकन का प्रावधान संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान से ग्रहण किया हैं। जहां सर्वप्रथम 1803 में न्यायमूर्ति मार्शल ने मार्बरी बनाम मेडिसन के मामलें में न्यायिक पुनरावलोकन की व्याख्या कर सर्वोच्च न्यायालय को यह अधिकार प्रदान किया, ताकि न्यायपालिका अपनी इस शक्ति के माध्यम से व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के अनुचित कार्यों पर नियत्रंण स्थापित कर संविधान की रक्षा कर सके। इसी सोच के अनुरूप भारतीय सर्वोच्च न्यायालय को यह शक्ति प्रदान की गयी हैं लेकिन अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की तुलना में इसे काफी कम एवं सीमित शक्ति प्राप्त हैं। इसके निम्नलिखित कारण हैं।

15.3.1 अमरीकी संविधान का संक्षिप्त तथा भारतीय संविधान का विस्तृत होना–अमरीका का संविधान अत्यधिक संक्षिप्त हैं इसके कारण संघ तथा राज्यों के बीच विवाद उत्पन्न होते रहते हैं। इसके परिणामस्वरूप सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन का क्षेत्र बहुत बढ़ जाता है क्योंकि उसे प्रत्येक फैसले में अपनी इस शक्ति का प्रयोग करना होता है। इसके विपरीत भारतीय संविधान विस्तृत हैं जिसमें प्रत्येक व्यवस्था या प्रावधान को स्पष्ट किया गया हैं। अतः केन्द्र–राज्य के अलावा अन्य संविधान निकायों के बीच विवाद उत्पन्न हो जाता है तो उनका समाधान संविधान की व्यवस्था के अनुसार कर दिया जाता है, जिससे सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति सीमित हो गयी हैं।

15.3.2 अमरीकी अधिकार पत्र का अस्पष्ट तथा भारतीय अधिकार पत्रों का स्पष्ट होना–अमरीकी अधिकार पत्र में अस्पष्टता हैं। अधिकारों पर किन परिस्थितियों में प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है। इन अधिकारों की व्याख्या करते वक्त पुलिस–शक्ति तथा 'सामान्य कल्याण' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया हैं। कार्यपालिका इन्हीं के आधार पर अधिकारों की सीमा निर्धारित कर सकती हैं। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय यह जांच करता हैं कि कार्यपालिका ने अपना कार्य उचित तरीके से किया है अथवा नहीं। इस प्रकार ऐसे प्रावधानों से सर्वोच्च न्यायालय को अपनी शक्ति के विस्तार करने का अवसर मिलता हैं। इसके विपरीत भारतीय संविधान के भाग 3 में वर्णित मौलिक अधिकारों की सुविधा के साथ साथ प्रतिबन्धों की भी उचित व्यवस्था की गयी हैं जिसके चलते न्यायपालिका को व्याख्या करने का ज्यादा अवसर नहीं मिल पाता।

15.3.3 संवैधानिक व्यवस्था में निहित अन्तर–दोनों देशों की संवैधानिक व्यवस्था में निहित अन्तर न्यायिक पुनरावलोकन की व्यवस्था को काफी हद तक प्रभावित करता हैं। जहां अमरीकी संविधान में कानून की उचित प्रक्रिया शब्दावली को अपनाया गया है वहीं भारतीय संविधान में विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया शब्दावली प्रयोग में लायी गयी हैं। एलेकण्ड्रोविच के शब्दों में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय की कल्पना एक अतिरिक्त कानून निर्माता के रूप में नही की गयी हैं अपितु एक ऐसे निकाय के रूप में की गयी हैं जिसे अभिव्यक्त कानून लागू करना है।

Jai Vishwa Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

15.4 न्यायिक पुनरावलोकन की आलोचनाएँ

किसी सर्वोच्च न्यायालय का न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति से सुसज्जित होना लोकतन्त्र, संविधानवाद, संविधान, मौलिक अधिकारों आदि की रक्षा के लिये शुभ सकेंत माना जाता हैं। लेकिन यह सिक्के का एक पहलु हैं। कुछ आलोचकों का मत हैं कि सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के नाम पर परिवर्तन का मार्ग अवरूद्ध कर दिया हैं और कुछ ऐसे परस्पर विरोधी फैसले देकर इस व्यवस्था पर प्रश्नचिह्न लगा दिया है। इसकी निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती है।

15.4.1 अनुदारवादी शक्ति के रूप में–इसमें तनिक भी सदेंह नहीं कि सर्वोच्च न्यायालय ने व्यक्ति स्वतन्त्रता एवं मौलिक अधिकारों की सुरक्षा के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किये हैं। लेकिन कुछ इस प्रकार के फैसले दिये हैं जिनसे अनुदारवादियों को प्रोत्साहन मिलता हैं जैसे 1950–51 में इसने जमीदारी और जागीरदारी उन्मूलन के तहत् पारित कुछ भुमि सुधारों को अवैध घोषित कर दिया। 1953 में शोलापुर स्पिनिंग ,एण्ड वीविंग कम्पनी के शासन द्वारा अधिग्रहण करने को अवैध ठहरया। 1967 के गोलखनाथ विवाद में यह फैसला दिया कि संसद ऐसे अधिनियम नहीं बना सकती जिससे मौलिक अधिकार समाप्त या सीमित होते हो।

15.4.2 पूर्व निर्णयों में परिवर्तन–सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति की यह कहकर भी आलोचना की जाती हैं कि इसने अपने पूर्व के फैसलों में भी व्यापक परिवर्तन किया हैं जिसका परिणाम यह होता हैं कि संविधान के प्रावधानों के सन्दर्भ में भ्रान्तिया फैलती हैं जैसे 1952 में शंकरीप्रसाद तथा 1965 में सज्जनसिंह के मामलें में सर्वोच्च न्यायालय ने यह फैसला दिया कि संसद मूल अधिकार सहित संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती हैं लेकिन इसके विपरीत 1967 में गोलखनाथ विवाद पर फैसला दिया कि संसद ऐसा संशोधन नहीं कर सकती जिससे मौलिक अधिकार समाप्त या सीमित होते हों। 1973 में सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय को केशवनानन्द भारती विवाद में पुनः बदल दिया कि संस्द मूल अधिकार सहित संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती हैं लेकिन बुनियादी ढांचे के साथ छेड़छाड़ नहीं कर सकती।

15.4.3 संविधान सीमाओं का अतिक्रमण–सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा 1967 से 1971 की कालावधि में जिस तरह से न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का प्रयोग किया गया, उससे यह स्पष्ट होता हैं कि सर्वोच्च न्यायालय अपनी सीमाओं का अतिक्रमग करते हुए भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में भूमिका अदा करने का प्रयास करना चाहता हैं। जो संविधान निर्माता बिल्कुल नहीं चाहते थे।

15.4.4 सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अस्थिरता–जब भी संसद सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में परिवर्तन लाने वाले कानून बनाती है तब उसके प्रयासों पर सर्वोच्च न्यायालय की न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति की कच्चे धागे से बंधी हुयी नंगी तलवार लटकती रहती हैं। उससे अस्थिरता को बढ़ावा मिलता हैं। पूर्व विधि मन्त्री गोखले के अनुसार ष्न्यायालय कानूनी मामलों पर फैसला दे सकते हैं । राजनीतिक तथा आर्थिक मामलों पर निर्णय का कोई अधिकार नहीं है।

15.4.5 संसद और न्यायपालिका के बीच टकराव को प्रोत्साहन–न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के आधार पर सर्वोच्च न्यायालय जब संसद द्वारा निर्मित कानूनों को अवैध घोषित करता है तो उससे संसद और न्यायपालिका के बीच टकराव की स्थिति पैदा होती हैं, जो लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था के लिये अशुभ संकेत होता है।

15.5 सारांश

न्यायिक पुनरावलोकन की आलोचनाओं के बावजूद इसके महत्व को नजरअदांज नही किया जा सकता। इससे न केवल सरकार के अन्य अंगों की मनमानी पर अंकुश लगता हैं अपितु संवैधानिक प्रावधानों की व्याख्या करता हैं। कुलदीप नायर ने लिखा है न्यायालय से पुनरावलोकन का अधिकार छिना जाना लोकतन्त्र के हित में नहीं होगा।[8] हमारे संविधान निर्माताओं ने जो समायोजन का सिद्धान्त अपनाकर देश को अति से बचाने की कोशिश की, उसी कड़ी में संसद की सर्वोच्चता और न्यायिक पुनरावलोकन के बीच का रास्ता अपनाते हुए दोनों ही व्यवस्था को सम्मानजनक दर्जा दिया गया है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. न्यायिक पुनरावलोकन पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिये।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. न्यायिक पुनरावलोकन की प्रकृति पर प्रकाश डालिये।
2. भारतीय सर्वोच्च न्यायालय , अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय की तुलना में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति कम क्यों रखता है ? कारण सहित बताओ।
3. भारतीय संविधान के कौन कौन से अनुच्छेदों में न्यायिक पुनरावलोकन के लक्षण मिलते हैं (कोई दो) बताओ।
4. न्यायिक पुनरावलोकन का अर्थ स्पष्ट कीजिये?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. न्यायिक पुनरावलोकन की शुरूआत कब और कहां से हुई ?
2. किस न्यायाधीश ने कौनसे विवाद में सर्वप्रथम न्यायिक पुनरावलोकन की व्याख्या की?
3. मौलिक अधिकारों का वह कौनसा अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्रदान करता है ?
4. मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय ने किन विवादों में न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति का प्रयोग किया हैं ?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

जय नारायण पाण्डेय , भारत का संविधान, सैन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहबाद।

डी.डी. बसु, भारत का संविधान वाधवा प्रकाशन मेरठ।

सुशीला कौशिक, भारतीय शासन और राजनीति, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय , दिल्ली विश्वविद्यालय , दिल्ली।

सुभाष कश्यप, भारत का संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया।

बी.पी.पाण्डेय, भारतीय शासन और राजनीति, सरस्वती सदन, दिल्ली।

बी.एल.फड़िया, भारतीय शासन और राजनीति, साहित्य भवन आगरा।

डॉ0 बसन्तीलाल बावेल, संसद, सांसद और सर्वोच्च न्यायालय, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–4 : संसद विधि निर्माण एवं राज्यों की शासन व्यवस्था

इकाई–16 : संसद एवं विधि निर्माण

संरचना

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 विधेयकों का वर्गीकरण (साधारण विधेयक)

- 16.2.1 विधेयक का प्रस्तुतीकरण एवं प्रथम वाचन
- 16.2.2 द्वितीय वाचन
- 16.2.3 समिति स्तर
- 16.2.4 प्रतिवेदन स्तर
- 16.2.5 तृतीय वाचन
- 16.2.6 दूसरा सदन
- 16.2.7 राष्ट्रपति की अनुमति

16.3 वित्त विधेयक

16.4 सारांश

16.0 उद्देश्य

इस खण्ड के अन्तर्गत भारतीय संसद में विधि निर्माण की प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात् आप विधेयकों के प्रस्तुतीकरण की भाषा शैली और कानूनों के क्रियान्विति के पक्ष को समझ सकेंगे–

- कानून बनाने के लिए विधेयक किन–किन प्रक्रियाओं से गुजरता है, की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे,
- विधेयकों के वर्गीकरण की समीक्षा कर सकेंगे,
- वित्त विधेयक और साधारण विधेयक के अन्तर को समझ सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

सरकार के तीन अंग होते है । (1) व्यवस्थापिका (2) कार्यपालिका (3) न्यायपालिका। व्यवस्थापिका का कार्य कानूनो का निर्माण, कार्यपालिका का कार्य कानून को लागू करना तथा न्यायपालिका का कार्य कानूनों की व्याख्या करना और उल्लंघन करने वालों को दण्डित करना। व्यवस्थापिका को भारत में संसद कहा जाता है इसका प्रमुख कार्य विधि (कानून) का निर्माण करना है। संसद विधि का निर्माण जन–इच्छाओं और आकांक्षाओं के मध्यनजर हुए करती है क्योंकि संसद सदस्यों को हमेशा जनमत की शक्ति का भय रहता है। यदि वे इसकी उपेक्षा करके कानून का निर्माण करते हैं, तो जनता उन्हें महानिर्वाचन के समय करारा जवाब दे सकती है।

पिछले कुछ समय से राजनीतिक व्यवस्था में परिर्वतन आया है, उससे संसद भी अछूती नहीं रही है। राज्य का स्वरूप लोककल्याणकारी होने के कारण संसद का कार्यभार बहुत ज्यादा बढ़ गया है। संसद के गिरते स्तर, प्रदत्त व्यवस्थापन आदि के कारण विधि निर्माण का कार्य कार्यपालिका के पास चला गया है और संसद केवल स्वीकृति देने वाली संस्था मात्र रह गयी है। लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि संसद विधि निर्माण के क्षेत्र में कमजोर हो गयी है, कोई भी विधेयक तब तक कानून का रूप धारण नहीं कर सकता, जब तक संसद उस पर अपनी सहमति न दे दें।

संसद तीन अगों से मिलकर बनती है लोकसभा + राज्यसभा + राष्ट्रपति = संसद। अर्थात् विधेयक तीनों स्तर पर स्वीकृति मिलने के बाद ही कानून का रूप ले पाता है।

प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन होते हैं : प्रथम वाचन से अभिप्राय, विधेयक को पेश करने की अनुमति का प्रस्ताव, जिसके पास होने पर विधेयक पेश किया जाता है। द्वितीय वाचन में विधेयक के सिद्धान्तों और उसके उपबन्धों पर समान रूप से चर्चा की जाती है और तृतीय वाचन में इस प्रस्ताव की चर्चा की जाती है कि विधेयक को पास किया जाय।

16.2 विधेयकों का वर्गीकरण (साधारण विधेयक)

विधेयक दो प्रकार के होते हैं। साधारण विधेयक और वित्त विधेयक। साधारण विधेयक वह हैय जिसका सम्बन्ध धन को छोड़कर अन्य सभी विषयों से है। साधारण विधेयक दोनों में से किसी एक सदन में पहले प्रस्तुत किया जा सकता है। साधारण विधेयक भी दो प्रकार का होता है। सरकारी विधेयक अर्थात् जिसे किसी मन्त्री द्वारा प्रस्तुत

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

किया गया है और गैर–सरकारी विधेयक अर्थात् जिसे संसद के किसी भी सदस्य द्वारा पेश किया गया हो। वित्त विधेयक का सम्बन्ध धन के प्रस्तावों से है, जो पहले लोकसभा में ही पेश किया जाता है। साधारण विधेयक के सम्बन्ध में दोनों सदनों को बराबर स्थिति प्राप्त है। इस प्रकार का विधेयक दोनों में से किसी एक सदन में पहले प्रस्तुत किया जा सकता है और दोनों की पृथक–पृथक स्वीकृति से ही विधेयक पास माना जाता है। साधारण विधेयक को मन्त्री या संसद के किसी भी सदस्य के द्वारा पेश किया जा सकता है। इन विधेयकों को पारित होने के लिए निम्न चरणों से गुजरना पड़ता है–

16.2.1 विधेयक का प्रस्तुतीकरण एवं प्रथम वाचन–साधारण विधेयक पास होने का प्रथम चरण प्रस्तुतीकरण है, लेकिन कुछ साधारण विधेयक ऐसे भी होते हैं, जिन्हें प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति लेना अनिवार्य होता है। जैसे – राज्य पुनर्गठन विधेयक आदि। साधारणतया किसी भी विधेयक को प्रस्तुत करने की आज्ञा प्राप्त करने के लिए एक माह का नोटिस देना आवश्यक होता है। यदि कोई सदस्य विधेयक को प्रस्तुत करना चाहता है तो अध्यक्ष या सभापति से आज्ञा लेनी पड़ती है। आज्ञा मिलने पर प्रस्तुत करने वाला सदस्य, यदि आवश्यक हुआ तो भाषण देता है। इसी समय विधेयक पर विरोधी सदस्यों को विचार व्यक्त करने का अवसर दिया जाता है। इसके बाद अध्यक्ष विधेयक को सरकारी गजट में प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान करता है। इससे प्रथम वाचन पूर्ण माना जाता है।

16.2.2 द्वितीय वाचन–जैसे ही प्रथम वाचन पूर्ण होता है विधेयक की प्रतियाँ सदस्यों में बाँट दी जाती है तब दूसरा वाचन शुरू हो जाता है। पुनःस्थापना एवं द्वितीय के मध्य दो दिन का अन्तर होता है। उस समय विधेयक का प्रस्तावक निम्न प्रस्तावों में से कोई एक प्रस्ताव रखता है–

1. विधेयक प्रवर समिति को विचारार्थ सौंपा जाय।
2. जनमत जानने के लिए प्रस्तावित किया जाय।
3. उस पर तत्काल ही विचार किया जाय।
4. विधेयक को राज्यसभा की सहमति से दोनों सदनों की प्रवर समिति को सौंप दिया जाय।

16.2.3 समिति स्तर–जिस प्रकार पानी को फिल्टर (शुद्ध) करने के लिए फिल्टर मशीन काम में ली जाती है जो जल में व्याप्त अशुद्धियों को दूर कर शुद्ध बना देती है, ठीक इसी प्रकार संसद में प्रस्तुत किये जाने वाले विधेयकों की गम्भीर जाँच पड़ताल के लिए संसदीय समितियों का सहारा लिया जाता है। यदि सदन विधेयक को प्रवर समिति में भेजने के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है तो विधेयक पर एक समिति नियुक्त की जाती है। समिति के सदस्य प्रस्ताव द्वारा तय कर दिये जाते हैं। सभापति की नियुक्ति अध्यक्ष करता है। प्रवर समिति विधेयक की प्रत्येक धारा पर सूक्ष्म विचार करती है तथा आवश्यकतानुसार संशोधन करती है। प्रवर समिति विधेयक की प्रत्येक धारा पर विचार करने के पश्चात् अपनी रिपोर्ट सदन में पेश करती है।

16.2.4 प्रतिवेदन स्तर–समिति का प्रतिवेदन प्राप्त होने पर उसे छाप दिया जाता है और सदस्यों में इसकी प्रतियाँ वितरित कर दी जाती हैं। इसके बिल का प्रस्तावक निम्न प्रस्ताव रख सकता है–

1. प्रवर समिति द्वारा बिल पर रिपोर्ट विचार किया जाय।
2. समिति के पास बिल को पुनः भेजा जाय।
3. जनगत जानने के लिए बिल पुनः प्रसारित किया जाय।

16.2.5 तृतीय वाचन–यह विधेयक की एक सदन में अन्तिम अवस्था होती है। इस अवस्था में विधेयक के सामान्य सिद्धान्तों पर बहस होती है और भाषा की अशुद्धियों को दूर करने के लिए कुछ संशोधन रखे जा सकते हैं। इसके पश्चात् सारे विधेयक पर मतदान होता है।

16.2.6 दूसरा सदन–दूसरे सदन में सामान्यतया विधेयक के सम्बन्ध में वही प्रक्रिया अपनायी जाती है। साधारण विधेयक तब तक पास नहीं माना जाता, जब तक दोनों सदन अपनी पृथक–पृथक स्वीकृति दे दें। यदि दोनों सदनों के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाता है तो भारत का राष्ट्रपति संविधान के अनुच्छेद 108 के तहत दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुलाता है। जिसमें प्रायः लोकसभा की ही जीत होती है, क्योंकि संख्या के आधार पर वह ज्यादा है। भारत के संसदीय इतिहास में अब तक तीन बार संसद का संयुक्त अधिवेशन बुलाया जा चुका है। 1961 दहेज उन्मूलन विधेयक, 1978 बैंकिग सेवा आयोग विधेयक तथा 2002 में आतंक निरोधक अध्यादेश (पोटो) पास करवाने के लिए। जिसकी अध्यक्षता लोकसभा का स्पीकर करता है।

16.2.7 राष्ट्रपति की अनुमति–राष्ट्रपति संसद का अभिन्न अंग होने के कारण कोई भी विधेयक उसकी स्वीकृति के बिना कानून का रूप धारण नहीं करता। जब कोई विधेयक राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जाता है तो यह राष्ट्रपति पर निर्भर करता है कि वह अनुमति दे दे या संशोधन सहित पुनः लौटा दे। लेकिन यदि संसद पुनः अपने बहुमत से प्रस्ताव पास कर देती है, तब राष्ट्रपति हस्ताक्षर करने के लिए बाध्य है।

16.3 वित्त विधेयक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साधारणतया आय–व्यय से सम्बंधित सभी विधेयक वित्त विधेयक कहलाते हैं। संविधान के अनुच्छेद 110 में यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार के विधेयक को वित्त विधेयक कहा जायेगा। कोई विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं इसका फैसला करने का एकमात्र अधिकार लोकसभा के स्पीकर को है, जिसे कहीं पर भी चुनौती नहीं दी जा सकती।

विधेयक के पारित होने की प्रक्रिया वहीं है, जो साधारण विधेयक के पारित होने की है लेकिन कुछ विशेष बातें हैं। प्रथम वित्त विधेयक को प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति लेना आवश्यक है। द्वितीय वित्त विधेयक पहले लोकसभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। तृतीय लोकसभा से पास होने के पश्चात् वित्त विधेयक राज्यसभा के समक्ष पेश किया जाता है। यदि राज्य सभा इससे सहमत नहीं है तो ऐसे विधेयक को केवल 14 दिनों तक रोक सकती है। इसके बाद पास करें या न करें, वित्त विधेयक स्वतः पास माना जाता है और राष्ट्रपति के हस्ताक्षर से कानून बन जाता है।

16.4 निष्कर्ष

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि कानून निर्माण के क्षेत्र में दोनों सदनों में से लोकसभा की स्थिति अधिक सुदृढ़ है। साधारण विधेयक के क्षेत्र में दोनों सदनों को समान स्थिति प्राप्त है लेकिन मतभेद की स्थिति में संयुक्त अधिवेशन बुलाया जाता है, जिसमें लोकसभा का ही पलड़ा भारी रहता है। वित्त विधेयक के क्षेत्र में तो लोक सभा का एकाधिकार है, क्योंकि राज्यसभा मतभेद की स्थिति में केवल 14 दिन की रोक लगा सकती है। संवैधानिक संशोधन के क्षेत्र में दोनों को बराबर का दर्जा है। ऐसे विधेयक किसी भी सदन में पहले प्रस्तुत किये जा सकते हैं और मतभेद होने पर विधेयक को वहीं पर रद्द कर दिया जाता है। इस प्रकार कानून निर्माण में संसद सर्वोच्च एवं एकमात्र संस्था है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संसद की विधि निर्माण शक्ति पर प्रकाश डालिये।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. साधारण विधेयक एवं वित्त विधेयक में अन्तर बताओ।

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. कोई विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं इसका फैसला कौन करता है?
2. सरकारी विधेयक किसे कहते हैं?
3. वित्त विधेयक के अलावा ऐसा कौनसा विधेयक है जिससे संसद में प्रस्तुत करने से पूर्व राष्ट्रपति की स्वीकृति संवैधानिक व्यवस्था है?
4. साधारण विधेयक पर मतभेद होने पर क्या संवैधानिक व्यवस्था है?
5. वित्त विधेयक को राज्यसभा कितने दिन रोक सकती है?
6. संसद का संयुक्त अधिवेशन कितनी बार और कब–कब बुलाया गया?
7. संसद के संयुक्त अधिवेशन की अध्यक्षता कौन करता है?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

डी.डी. बसु भारत का संविधान, वाधवा प्रकाशन, मेरठ।

जे.सी. जौहरी भारत शासन और राजनीति, विशाल पब्लिकेशन्स दिल्ली, 1988

आर.सी. अग्रवाल, भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि., नई दिल्ली।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–17 : संसद एवं बजट

संरचना

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 धन विधेयक तथा बजट पास करने की प्रक्रिया

- 17.2.1 बजट का वर्गीकरण
- 17.2.2 भारत की संचित निधि से होने वाले खर्च
- 17.2.3 साधारण खर्च
- 17.2.4 बजट पर साधारण वाद–विवाद
- 17.2.5 अनुदान माँगों पर ब्यौरेवार चर्चा तथा मतदान
- 17.2.6 ब्यौरेवार विचार–विमर्श की अवधि तथा मतदान
- 17.2.7 मतदान प्रक्रिया
- 17.2.8 लेखानुदान
- 17.2.9 विनियोजन विधेयक
- 17.2.10 वित्त विधेयक
- 17.2.11 राज्यसभा में बजट
- 17.2.12 राष्ट्रपति की अनुमति

17.3 सारांश

17.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत भारतीय संसद में बजट पारित करने की प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। इस अध्याय को पढ़कर आप–

- धन विधेयक के विभिन्न चरणों की व्याख्या कर सकेंगे,
- धन विधेयक लोकसभा में ही प्रस्तुत क्यों किया जाता है? की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- धन विधेयक के सन्दर्भ में उच्च सदन की गौण स्थिति के कारण जान सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

वित्त प्रशासन का अहम पहलू है कि जिस प्रकार ईंधन के बिना कोई वाहन या मशीन नहीं चल सकती, ठीक इसी प्रकार वित्त के अभाव में प्रशासन रूपी गाड़ी को नहीं चलाया जा सकता है। इसीलिए प्रत्येक सरकार (कार्यपालिका) आय–व्यय के प्रस्ताव संसद (व्यवस्थापिका) के सम्मुख पेश करती है और उन्हें पास करवाकर वित्तीय समस्याओं से बचाती है। विधेयक दो प्रकार के होते हैं। साधारण विधेयक और वित्त विधेयक। वित्त विधेयक का सम्बन्ध आय–व्यय से होता है। आधुनिक व्यवस्था में संसद (व्यवस्थापिका) की अनुमति के बिना कार्यपालिका एक पैसा भी खर्च नहीं कर सकती और न ही नया कर लगा सकती है या करों में कमी कर सकती है।

आधुनिक युग में हमारे देश में बजट की पद्धति का श्रीगणेश भारत के पहले वायसराय लॉर्ड केनिंग (1856–62) के कार्यकाल में हुआ। 1859 में पहली बार एक वित्त विशेषज्ञ जेम्स विल्सन को वायसराय की कार्यकारिणी में से नियुक्त किया गया। इन्होंने 18 फरवरी, 1860 को वायसराय की परिषद् में पहली बार बजट प्रस्तुत किया। यहीं से प्रतिवर्ष बजट पेश करने की परम्परा शुरु हो गई। इस तरह जेम्स विल्सन को भारत की बजट पद्धति का संस्थापक और जन्मदाता कहा जा सकता है। आजादी से पूर्व केन्द्रीय विधानमण्डल में भारतीयों को बजट प्रस्तावों पर वाद–विवाद करने की छूट नहीं थी और उसपर वायसराय का नियन्त्रण होता था लेकिन स्वतन्त्रता के बाद केन्द्रीय बजट पर संसद का पूर्ण नियन्त्रण स्थापित हो गया है।

17.2 धन विधेयक पारित करने की प्रक्रिया

धन विधेयक का सम्बन्ध किसी नये कर को लगाने, पुराने कर को हटाने और तब्दील करने से होता है। यदि यह प्रश्न उठे कि कोई विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं तो लोकसभा स्पीकर का निर्णय अन्तिम माना जाता है जिसे कहीं पर भी चुनौती नहीं दी जा सकती।

हमारे संविधान में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वित्त विधेयक या बजट पहले लोकसभा में पेश किया जायेगा। प्रतिवर्ष देश का वित्तमन्त्री वित्त वर्ष अर्थात् 1 अप्रैल से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पहले बजट तैयार कर राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति से लोकसभा के समक्ष पेश करता है। वित्त मन्त्री बजट का निर्माण प्रधानमन्त्री के निर्देशन में मन्त्रिमण्डल की नीति एवं कार्यक्रम के अनुसार करता है।

17.2.1 बजट का वर्गीकरण–भारतीय बजट की यह प्रमुख विशेषता है कि इसमें एकता का अभाव पाया जाता है, अर्थात् सभी विभागों का एक बजट नहीं होता। भारत में बजट के दो रूप देखने को मिलता है। पहला रेल बजट तथा दूसरा सामान्य बजट। रेल बजट में केवल आगामी वर्ष की अनुमानित आमदनी एवं खर्च का वर्णन रहता है। रेल बजट लोकसभा में रेलमन्त्री पेश करता है। 1921 से पूर्व रेल व सामान्य बजट में कोई अन्तर नहीं था। परन्तु 1921 में रेल्वे का पृथक बजट पेश करने की व्यवस्था की गई, जो आज तक जारी है। सामान्य बजट में केन्द्र सरकार के रेलवे विभाग के अलावा अन्य सारे प्रशासनिक विभागों के आगामी वर्ष की अनुमानित आमदनी एवं खर्च का विवरण होता है, जिसे प्रतिवर्ष वित्तमन्त्री लोकसभा के समक्ष पेश करता है। सामान्य बजट के भी दो भाग होते हैं। 1. भारत की संचित निधि से होने वाला खर्च, जिसको भारित व्यय भी कहा जाता है। 2. अभारित व्यय अर्थात् साधारण खर्च।

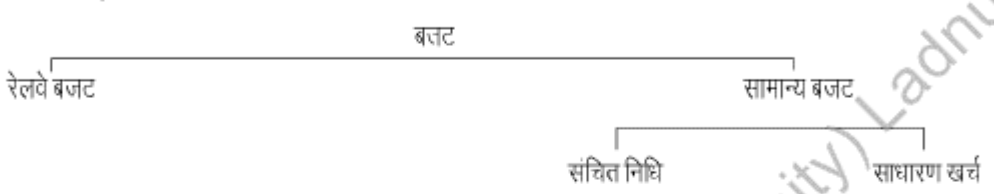

17.2.2 भारत की संचित निधि से होने वाले खर्च–निम्नलिखित खर्च भारत की संचित निधि में से खर्च होने वाले कहलाते हैं –

1. राष्ट्रपति के वेतन, भत्ते तथा उसके पद के सम्बन्ध में होने वाले अन्य खर्च।
2. लोकसभा अध्यक्ष व उपाध्यक्ष तथा राज्यसभा के सभापति व उपसभापति के वेतन भत्ते।
3. उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों तथा भारत के नियन्त्रक व महालेखा परीक्षक के वेतन व भत्ते।
4. कुछ ऐसे खर्च जिन्हें संसद या संविधान द्वारा संचित निधि में रखा गया हो। जैसे उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों का वेतन।
5. ऋण सम्बन्धी खर्च।
6. ऐसी अन्य राशि जो किसी न्यायालय के निर्णय को लागू करने के लिए आवश्यक हो।

भारत की संचित निधि पर राष्ट्रपति का नियन्त्रण होता है। जिस पर संसद के दोनों सदनों में बहस हो सकती है। लेकिन मतदान नहीं हो सकता और संविधान संशोधन के बिना संसद इन खर्चों में कटौती नहीं कर सकती।

17.2.3 साधारण खर्च–बजट का दूसरा भाग अभारित व्यय अर्थात् साधारण खर्च कहलाता है। इसके सम्बन्ध में संसद की स्वीकृति लेना आवश्यक होता है। वह लोकसभा के सामने वित्तमन्त्री के भाषण से आरम्भ होता है। जिसमें वित्तमन्त्री राष्ट्र की वित्तीय स्थिति का विस्तृत लेखा–जोखा पेश करता है तथा नये करों को लगाने एवं पुराने करों में संशोधन करने पर बल देता है। इसके अलावा वित्तमन्त्री आगामी खर्च तथा आगामी आमदनी (आय) के स्त्रोत भी प्रस्तुत करता है।

17.2.4 बजट पर साधारण वाद–विवाद–वित्तमन्त्री के बजट भाषण की समाप्ति के उपरान्त बजट के सिद्धान्तों पर गरमा–गरम बहस होती है। विपक्ष, सत्ता पक्ष को घेरने का प्रयास करता है। बजट पर बहस हेतु तीन–चार दिन निश्चित् कर दिये जाते हैं। इस समय आमदनी और खर्च के सम्बन्ध में विचार–विमर्श नहीं होता। इस समय विरोधी दल के सदस्यों को सरकार की वित्तीय नीति और शासन की आलोचना करने का अवसर मिल जाता है। जो सरकार पर आर्थिक मोर्चे पर असफल होने, महंगाई, बेरोजगारी, आदि बढ़ाने के आरोप लगाते हैं। मारिस जोन्स ने लिखा है कि यह ऐसा अवसर है, जिस पर सदन अपने मन की खुलकर कह सकता है और इस अवसर पर सरकारी मांगों को किस प्रकार ग्रहण किया जाने वाला है। बाद में लोकसभा को यह अधिकार है कि अनुदान के लिए मांगों को स्वीकार कर लें या अस्वीकार कर दे या घटा दे।

17.2.5 अनुदान माँगों पर ब्यौरेवार चर्चा तथा मतदान–वाद–विवाद के पष्चात् अलग–अलग मन्त्रालयों के लिए क्रमवार अनुदान मांगें एक प्रस्ताव के रूप में लोकसभा के समक्ष प्रस्तुत की जाती है, अपने मन्त्रालय से सम्बन्धित हर मन्त्री मांगों को प्रस्तुत करते समय एक संक्षिप्त भाषण भी देता है। जो आर्थिक नीति पर आधारित न होकर राजनीतिक रंग में रंगा होता है।

17.2.6 ब्यौरेवार विचार–विमर्श की अवधि तथा मतदान–संसदीय कार्यवाही नियम 132 तथा 133 के तहत लोकसभा अध्यक्ष सदन के नेता से विचार–विमर्श के पश्चात् एक अवधि निश्चित करता है जिसमें विभिन्न विभागों की अनुदान मांगों पर विचार–विमर्श किया जा सके। सामान्यतया इसके लिए 26 दिनों की अवधि तय की जाती है। एक–एक अनुदान मांगों पर विचार होते समय विपक्षी सदस्यों द्वारा तीखी प्रतिक्रिया की जाती है तथा अनेक बार कटौती प्रस्ताव सदन के समक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं। ये प्रस्ताव तीन प्रकार के होते हैं–

1. नीति सम्बन्धी कटौती प्रस्ताव, 2. मित्तव्ययता सम्बन्धी कटौती प्रस्ताव , 3. प्रतीकात्मक कटौती प्रस्ताव

17.2.7 मतदान प्रक्रिया–भारतीय संसद में कुल 26 दिनों के भीतर अनुदान माँगों को पास करने की परम्परा है। अध्यक्ष द्वारा किसी भी अनुदान माँग पर बहस के लिए निर्धारित समय के अन्तिम दिन (चाहे अन्त में कितनी भी विभागों की अनुदान मांगें पर बहस नहीं हुई हो, फिर भी) मतदान होता है। इस प्रकार अन्तिम दिन करोड़ों रुपये की अनुदान मांगें बिना बहस के पास कर दी जाती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

17.2.8 लेखानुदान–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 116 (1) के अन्तर्गत संसद को यह अधिकार प्राप्त है कि बजट प्रक्रिया के पूर्ण होने के पूर्व ही वित्तीय वर्ष के माह के लिए कार्यपालिका को अग्रिम अनुदान स्वीकृत कर खर्च करने की अनुमति प्रदान करे। इस परिपाटी के प्रारम्भ होने के कारण अब अनुदान मांगों पर 1 अप्रैल के पश्चात् भी बहस जारी रहती है। इससे संसद में बजट सम्बन्धी प्रस्तावों में और अधिक बहस होती है और प्रशासनिक कमियों को उजागर करके कार्यपालिका को अधिक सचेत किया जा सका।

17.2.9 विनियोजन विधेयक–अनुदान मांगों पर संसद में मतदान हो जाने का मतलब यह नहीं है कि सरकार को सार्वजनिक कोष से पैसा निकालने का हक प्राप्त हो गया हो। संविधान की धारा 110 (1) (ब) में कहा गया है कि भारत की संचित निधि में से कोई भी धनराशि विधि द्वारा विनियोजन के बिना निकाली नहीं जा सकती। इस तरह संचित निधि में से धन खर्च करने के लिए विनियोजन विधेयक संसद से पास करवाना पड़ता है।

17.2.10 वित्त विधेयक–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 265 में यह कहा गया है कि कानूनी सत्ता के बिना न तो कोई कर लगाया जा सकता है और न ही वसूल किया जा सकता है। अतः नया कर लगाने और पुराने कर को घटाने या बढ़ाने के लिए वित्त विधेयक लाया जाता है। जो अन्य वित्तीय प्रस्तावों और बजट की भांति पहले लोकसभा में ही पेश किया जाता है। लोकसभा करों को स्वीकार या अस्वीकार या घटा सकती है लेकिन इन करों को बढ़ा नहीं सकती। इस पर तो कार्यपालिका का नियन्त्रण होता है। इस विधेयक के पास होने पर ही नये कर लगाने और पुराने को हटाने की प्रक्रिया शुरु होती है। इसके लिए भी राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक होती है।

17.2.11 राज्यसभा में बजट–जब लोकसभा से विधेयक पास हो जाता है तब उसे राज्यसभा के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। राज्यसभा भी लोकसभा की तरह विचार–विमर्श करती है। लेकिन वित्त (बजट) के बारे में अन्तिम शक्ति तो लोकसभा के पास होती है। यदि राज्यसभा बजट पर सहमत नहीं है तो वह उसे 14 दिनों तक रोक सकती है। इसके बाद वह पास करे या न करे, बजट पास ही माना जाता है।

17.2.12 राष्ट्रपति की अनुमति–धन–विधेयक पर राष्ट्रपति की अनुमति केवल औपचारिकता मात्र है। जब विधेयक लोकसभा और राज्यसभा से पास हो जाता है, तब राष्ट्रपति की अनुमति के लिए भेजा जाता है। जिस पर वह वीटो (विशेषाधिकार) का प्रयोग नहीं कर सकता, क्योंकि वित्त विधेयक उसकी पूर्व अनुमति से ही लोकसभा में प्रस्तुत किया जाता है।

17.3 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वित्त विधेयक (बजट) के क्षेत्र में संसद (व्यवहार में लोकसभा) को व्यापक शक्ति प्राप्त है, क्योंकि उसकी अनुमति के बिना सरकार एक पैसा भी खर्च नहीं कर सकती। लेकिन व्यावहारिक स्थिति कुछ अलग है। लोकसभा में सरकार (कार्यपालिका) का बहुमत होता है। जिसके कारण उसे पास करवाने में कोई समस्या नहीं आती है, क्योंकि बजट के पास न होने का अर्थ सरकार का अल्पमत में आ जाना है और सरकार को तत्काल इस्तीफा देना पड़ता है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. संसद से बजट (धन विधेयक) पारित होने की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. लेखानुदान क्या है ?
2. संचित निधि में से होने वाले खर्च बताओ।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत में बजट की शुरुआत कब और किसने की ?
2. भारत में बजट एकता क्यों नहीं है ?
3. रेलवे का पृथक बजट कब से शुरु हुआ ?
4. कोई विधेयक वित्त विधेयक है या नहीं, इसका फैसला कौन करता है ?
5. राज्यसभा वित्त विधेयक को कितने दिन रोक सकती है ?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अवस्थी, माहेश्वरी लोक प्रशासन लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

सी.पी. भाम्भरी लोक प्रशासन सिद्धान्त तथा व्यवहार, जय प्रकाश नाथ एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली।

बी.एल. फड़िया लोक प्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

बसन्तीलाल बावेल, संसद, सांसद और सर्वोच्च न्यायालय , राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–18 : राज्यपाल

संरचना

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 राज्यपाल की नियुक्ति, निर्वाचित क्यों नहीं?

18.3 राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ परम्परायें

- 18.3.1 राज्यपाल पद की योग्यताएँ
- 18.3.2 राज्यपाल के वेतन–भत्ते
- 18.3.3 राज्यपाल की उन्मुक्तियाँ
- 18.3.4 राज्यपाल की पदच्युति

18.4 राज्यपाल की शक्तियाँ

- 18.4.1 कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ
- 18.4.2 विधायी शक्तियाँ
- 18.4.3 वित्तीय शक्तियाँ
- 18.4.4 न्यायिक शक्तियाँ
- 18.4.5 विविध शक्तियाँ

18.5 राज्यपाल की भूमिका

- 18.5.1 राज्यपाल संवैधानिक प्रधान के रूप में
- 18.5.2 राज्यपाल संवैधानिक अध्यक्ष से कुछ अधिक
- 18.5.3 मुख्यमन्त्री की नियुक्ति
- 18.5.4 मन्त्रिमण्डल को भंग करना
- 18.5.5 विधानसभा का अधिवेशन बुलाना
- 18.5.6 विधानसभा को भंग करना
- 18.5.7 केन्द्र सरकार के एजेन्ट के रूप में
- 18.5.8 अनुच्छेद 356 के सम्बन्ध में शक्तियाँ
- 18.5.9 विधानसभा को भंग न करते हुए राष्ट्रपति शासन लागू करना
- 18.5.10 राज्य की स्थिति के बारे में केन्द्र सरकार को रिपोर्ट भेजना

18.6 राज्यपाल का पद विवादों के घेरे में क्यों ?

18.7 सारांश

18.0 उद्देश्य

इस खण्ड के अन्तर्गत केन्द्र के एजेन्ट रूप में राज्यों के संवैधानिक प्रधान राज्यपाल पद का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय को पढ़कर आप निम्न जानकारी प्राप्त करेंगे–

- राज्यों में राज्यपाल निर्वाचित क्यों नहीं? उन कारणों की पहचान कर सकेंगे,
- 1935 के अधिनियम की परम्परा द्वारा राज्यपाल को बनाये रखने का इतिहास खोज सकेंगे,
- राज्यपाल संवैधानिक प्रधान के रूप में भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे,
- राज्यपाल केन्द्र सरकार के एजेन्ट रूप में विवादग्रस्त क्यों रहें? समीक्षात्मक जाकारी प्राप्त कर सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

18.1 प्रस्तावना

भारतीय संविधान में संसदीय लोकतन्त्र का प्रावधान किया गया है, जिसके अनुसार कार्यपालिका दो प्रकार की होती है, अर्थात् नाममात्र की कार्यपालिका व वास्तविक कार्यपालिका। अतः राज्यों में राष्ट्रपति पद की तर्ज पर राज्यपाल पद की स्थापना की गई है। केन्द्र में राष्ट्रपति संवैधानिक प्रमुख होता है। उसी प्रकार राज्यों में राज्यपाल संवैधानिक प्रमुख है। यद्यपि संविधान राज्यपाल को समस्त राज्यसूची के विषय देता है। लेकिन उनका वास्तविक प्रयोगकर्ता राज्यपाल न होकर मुख्यमन्त्री व उसका मन्त्रिमण्डल होता है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 153 के तहत प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल की व्यवस्था है। इस सन्दर्भ में कहा गया है कि राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के परामर्श से की जायेगी अर्थात् व्यवहार में केन्द्र सरकार द्वारा राज्यपाल को मनोनीत किया जाता है। इसीलिए राज्यपाल को राष्ट्रपति का प्रतिनिधि केन्द्र सरकार का अभिकर्ता कहा जाता है।

1967 के पूर्व भारत में राज्यपाल का पद कोई विशेष नहीं था। उसे केवल शोपीस के रूप में जाना जाता था क्योंकि इस समय तक केन्द्र के साथ–साथ राज्यों में एक छत्र राज था। चारों तरफ कांग्रेसमय वातावरण था। कहीं भी विपक्ष का नाम नहीं था। अतः जो भी राज्यपाल होता था, उसका राज्य सरकार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता था और वह किसी भी मामले में किसी भी प्रकार की दखल अन्दाजी नहीं करता था तथा अपनी हद में रहते हुए कार्य करता था लेकिन 1967 के बाद भारतीय राजनीति में व्यापक बदलाव आता है। 9 राज्यों में गैर–कांग्रेसी दलों की मिली जुली सरकार बनती है। तब इस पद का राजनीतिक महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया और विवादों के घेरे में आ गया तथा राज्यपाल का हस्तक्षेप राज्यों की राजनीति पर बहुत अधिक बढ़ने लगा, जो भारतीय संसदीय लोकतन्त्र के लिए गलत व घातक परम्परा की शुरुआत थी, जो आज तक जारी है। केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के यदि विपक्ष की राज्य में सरकार है तो राज्यपाल निश्चित रूप से राज्य सरकार को परेशान करते हैं। यहाँ तक कि वहाँ की सरकारों पर कुशासन व अराजकता का आरोप लगाकर उस राज्य सरकार को बर्खास्त करने तक की सिफारिश कर देता है। भारतीय संसदीय इतिहास में अनुच्छेद 356 का प्रयोग करीब 120 बार हो चुका है। जिसके सन्दर्भ में राजनीतिक विशेषज्ञों का मत है कि अधिकांशतः इसका इस्तेमाल राजनीतिक स्वार्थता एवं बदले की भावना के आधार पर किया गया है।

18.2 राज्यपाल की नियुक्ति, निर्वाचित क्यों नहीं?

संविधान सभा के सम्मुख जब राज्यपाल का प्रश्न आया तब उस पर जोरदार बहस हुई कि राज्यपालों की नियुक्ति जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा किया जाए या राष्ट्रपति के द्वारा मनोनीत किया जाय। अन्ततया यह स्वीकार किया गया कि राज्यपाल का मनोनयन राष्ट्रपति द्वारा किया जाय, जिसके सन्दर्भ में निम्न तर्क प्रस्तुत किये गये।

1. यदि राज्यपाल का निर्वाचन किया जाय तो यह संसदीय परम्पराओं के प्रतिकूल है और ऐसा होने पर राज्यपाल शासन का प्रमुख बन जायेगा।
2. एक निर्वाचित राज्यपाल होने के कारण मुख्यमन्त्री व राज्यपाल के बीच नवीन शक्ति संघर्ष शुरु हो जायेगा।
3. राज्यपाल जैसा संवैधानिक एवं मर्यादित पद दलगत राजनीति के कीचड़ में फंस जायेगा।
4. निर्वाचन से समय एवं धन का अपव्यय होता है।
5. अल्पसंख्यक वर्ग का व्यक्ति इस पद तक नहीं पहुंच सकता।
6. यदि राज्यपाल का पद निर्वाचन प्रणाली द्वारा शुरू कर दिया तो समाज के प्रतिष्ठित व्यक्ति, बुद्धिजीवी, शिक्षाविद, व्यक्ति इस पद पर नहीं पहुँच पायेंगे और वही व्यक्ति इस पद पर पहुँचेंगे जो राजनीति की गोटी मिलाने में माहिर होंगे।

18.3 राज्यपाल की नियुक्ति के सन्दर्भ में कुछ परम्पराएँ

स्वतन्त्रता से लेकर अब तक राज्यपालों की नियुक्तियाँ जिस प्रकार हुई है, उसके आधार पर कतिपय परम्परा कायम हो चुकी है। जो निम्नलिखित हैं –

1. इस पद पर प्रायः ऐसे लोगों को नियुक्त किया जाता है जो सक्रिय राजनीति में हिस्सा लेते हैं, जो राजनीति के साथ प्रशासन में भी माहिर होते हैं।
2. इस पद का उपयोग सांत्वना पुरस्कार के रूप में भी किया जाता है।
3. राज्यपाल प्रायः प्रधानमन्त्री का विश्वासपात्र होता है।
4. राज्यपाल पद पर प्रायः उसी राज्य के व्यक्ति को नियुक्त नहीं किया जाता है अर्थात् वह सम्बद्ध राज्य का निवासी नहीं होता है।
5. एक स्वतन्त्र परम्परा का भी विकास हुआ, जिसके अनुसार सामान्यतः राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व सम्बद्ध राज्य सरकार से सलाह ली जाती है।
6. राज्यपाल पद पर सेवानिवृत्त सेनाध्यक्षों, ख्याति प्राप्त शिक्षा–शास्त्रियों तथा गाँधीवादी लोगों को भी नियुक्त किया जाता है।

राज्यपाल की नियुक्ति के सन्दर्भ में अनेक समितियों ने अपनी सिफारिश की है, उनमें राजमन्नार समिति ने महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं–

(अ) राज्यपाल की नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्य के मुख्यमन्त्री से सलाह की जाय।

(ब) सक्रिय राजनीतिज्ञों की राज्यपाल पद पर नियुक्ति नहीं की जानी चाहिये।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

18.3.1 राज्यपाल पद की योग्यताएँ–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 157 व 158 में राज्यपाल पद की नियुक्ति सम्बन्धी योग्यताओं का उल्लेख किया गया जो इस प्रकार है–

1. वह भारत का नागरिक हो।
2. उसकी आयु 35 वर्ष से कम न हो।
3. वह संसद या विधान सभा का सदस्य न हो।
4. वह व्यक्ति किसी भी लाभकारी पद पर न हो।
5. संसद या विधानमण्डल का सदस्य बनने की योग्यता रखता हो।

18.3.2 राज्यपाल के वेतन भत्ते–राज्यपाल को वेतन के रूप में 36,00C रुपये मासिक मिलते हैं। इसके अलावा अन्य अनेक भत्ते एवं सुविधायें मुफ्त में उपलब्ध करवाई जाती है। जैसे – मुफ्त आवास, वाहन, स्वास्थ्य सुविधायें, हवाई यात्रायें, आदि।

18.3.3 राज्यपाल की उन्मुक्तियाँ–राज्यपाल को अपने पद की गरिमा और प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण रखने के लिए अपने कर्त्तव्य निर्वहन के अनुरूप विविध उन्मुक्तियाँ प्रदान की गई है। अपने कर्त्तव्य निर्वाह करते समय उस पर किसी भी अदालत में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है। इसके अलावा उसे बन्दी या कारावास में डालने के सन्दर्भ में कोई आदेश नहीं दिया जा सकता। इसका उद्देश्य यह है कि राज्यपाल को अवांछनीय परिस्थितियों का सामना न करना पड़े।

18.3.4 राज्यपालों की पदच्युति–सामान्यतः राज्यपाल का कार्यकाल 5 वर्ष होता है। संविधान में यह स्पष्ट उल्लिखित है कि राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त ही अपने पद पर बने रहेंगे। यहां राष्ट्रपति की प्रसाद पर्यन्त का आशय व्यवहार में केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह कितने समय तक इस पद पर रहे। राष्ट्रपति उन्हें उनकी समयावधि पूरे होने से पहले ही बर्खास्त कर सकता है, उसे त्यागपत्र देने के लिए कह सकता है या उसके सम्मुख कुछ इस प्रकार की परिस्थितियां पैदा की जाती है कि त्यागपत्र दे दें या राज्यपाल अपनी इच्छानुसार कभी भी त्यागपत्र दे सकता है। अब यह परम्परा सी बन गई है कि जब केन्द्र में नवीन सरकार आती है तब राज्यपाल या तो स्वतः ही इस्तीफा दे देता है या फिर उन्हें कुछ संकेत दे दिया जाता है कि वह त्यागपत्र दे दे।

विशेष :– जब 1998 को केन्द्र में अटलबिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में भारतीय जनता पार्टी व उसके सहयोगियों की सरकार बनी तब अनेक राज्यों के राज्यपालों ने त्यागपत्र दे दिया उनमें बिहार, उत्तरप्रदेश (रोमेश भण्डारी), राजस्थान (बलिराम भगत), गुजरात (कृष्णकुमार) आदि के राज्यपालों ने त्यागपत्र दे दिया था और उनके स्थान पर भाजपा के अनेक विशिष्ट नेताओं को नियुक्त किया गया। उनमें प्रमुख हैं सुन्दरसिंह भण्डारी (बिहार), भाई महावीर (मध्यप्रदेश), सूरजभान (उत्तरप्रदेश), अंशुमान सिंह (गुजरात), अकाली नेता दरबारा सिंह (राजस्थान), आदि को नियुक्त किया गया है।

18.4 राज्यपाल की शक्तियाँ

संविधान में राज्यपाल को व्यापक षक्तियाँ प्रदान की गई है। राज्य में राज्यपाल की वही स्थिति है, जो केन्द्र में राष्ट्रपति की मानी जाती है। इस सम्बन्ध में संविधान के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गादास का कहना है कि राज्यपाल की शक्तियाँ राष्ट्रपति के समान हैं – सिर्फ कूटनीतिक सैनिक तथा संकटकालीन अधिकारों को छोड़कर। राज्यपाल राज्य का प्रधान होता है। वही समस्त कार्यपालिका शक्तियों का प्रमुख होता है, उसी के नाम से समस्त कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। लेकिन उन शक्तियों का वास्तविक प्रयोगकर्ता मुख्यमन्त्री व उसकी मन्त्रिपरिषद् होती हैं। राज्यपाल की शक्तियाँ निम्नलिखित हैं।

18.4.1 कार्यपालिका सम्बन्धी षक्तियाँ–राज्य की समस्त कार्यपालिका सम्बन्धी षक्तियाँ राज्यपाल में निवास करती है। लेकिन वह स्वयं उनका प्रयोग नहीं करता है, अपितु मुख्यमन्त्री व कैबिनेट करती है। कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में राज्यपाल की शक्ति प्रभावी व महत्त्वपूर्ण हो जाती है। उसकी कार्यपालिका शक्तियाँ निम्नलिखित है–

(1) **मुख्यमन्त्री की नियुक्ति :** राज्यपाल अपने कार्यपालिकी कार्यों का उचित सम्पादन हेतु मुख्यमन्त्री नियुक्त करता है। इसके लिए वह सामान्यतया विधानसभा में बहुमतदल के नेता को आमन्त्रित करता है, लेकिन कुछ विशिष्ट परिस्थितियों जैसे विधानसभा में किसी भी दल को बहुमत नहीं मिले तब वह अपने स्वविवेक का प्रयोग करते हुए किसी भी दल के नेता को नियुक्त कर सकता है।

विशेष :– जब नवम्बर 1993 में राजस्थान की 10वीं विधानसभा के चुनाव सम्पन्न हुए लेकिन इसमें किसी भी पार्टी को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला तब दोनों पार्टियों भाजपा व कांग्रेस (इ) ने सरकार बनाने के लिए राज्यपाल के सम्मुख दावा प्रस्तुत किया साथ ही नवनिर्वाचित 21 निर्दलीय विधायकों को अपने अपने समर्थन में होने का दावा किया। यह स्थिति तात्कालिक राज्यपाल बलिराम भगत के लिए बड़ी ही विचित्र थी। तब उन्होंने आखिर में गहन विचार–विमर्श के बाद भाजपा विधायक दल के नेता भैरोसिंह षेखावत को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित किया तथा एक माह के भीतर बहुमत सिद्ध करने का निर्देश दिया गया।

(2) राज्यपाल मुख्यमन्त्री के परामर्श से मन्त्रियों को नियुक्त करता है।

(3) मन्त्रियों के विभागों का बँटवारा करता है।

(4) राज्यपाल मुख्यमन्त्री की सलाह पर मन्त्रियों को पद से बर्खास्त कर सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विशेष :– उत्तरप्रदेश के राज्यपाल श्री सूरजभान ने मुख्यमन्त्री श्री कल्याणसिंह के कहने पर प्राथमिक शिक्षा मन्त्री श्री रविन्द्रशुक्ल को अपने पद से बर्खास्त कर दिया क्योंकि शुक्ल ने कैबिनेट के बिना निर्णय स्कूलों में श्वन्देमातरम्श गीत अनिवार्य रूप से लागू कर दिया था। जिसका अल्पसंख्यकों के नेताओं (अली मिया) ने कड़ा विरोध किया था।

विशेष :– मई 2003 को उत्तरप्रदेश की मुख्यमन्त्री सुश्री मायावती ने मुद्रण व प्रेस राज्यमन्त्री अमरमणि त्रिपाठी को मधुमति हत्याकाण्ड के आरोपों के चलते पद से बर्खास्त किया।

(5) राज्यपाल के द्वारा ही राज्य के महाधिवक्ता, राज्य लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और अन्य सदस्यों, अल्पसंख्यक आयोग के अध्यक्ष और अन्य सभी नियुक्तियाँ राज्यपाल द्वारा ही की जाती है।

(6) उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश व अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति से पूर्व राज्यपाल से सलाह की जाती है।

(7) राज्यपाल आंग्ल–भारतीय समुदाय के एक सदस्य को विधानसभा में मनोनीत कर सकता है। यदि उन्हें पर्याप्त प्रतिनिधित्व न मिले तो।

(8) राज्यपाल शासन के विषय में मन्त्रिपरिषद् से किसी प्रकार की सूचना प्राप्त कर सकता है। उसी की तर्ज पर वह समय–समय पर केन्द्र सरकार को राज्य की स्थिति के बारे में रिपोर्ट भेज सकता है।

(9) राज्य में संवैधानिक संकट उपस्थित होने अथवा राजनीतिक अस्थिरता या अन्य किसी कारण से संवैधानिक तन्त्र की असफलता पर वह राज्य की स्थिति के बारे में राष्ट्रपति को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है।

(10) राज्य में अनुच्छेद 356 का इस्तेमाल भी राज्यपाल के प्रतिवेदन के आधार पर ही किया जाता है।

(11) राज्य में जब राष्ट्रपति शासन लागू होता है तब राज्यपाल वास्तविक शासक की भूमिका का निर्वाह करता है।

(12) राज्यपाल मन्त्रिपरिषद् का मार्गदर्शक और अभिभावक भी होता है। अतः वह अपनी मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों को चेतावनी, सलाह और प्रोत्साहन देने की षक्ति रखता है।

18.4.2 विधायी शक्तियाँ–राज्यपाल को व्यापक विधायी शक्तियाँ भी प्राप्त है। राज्यपाल राज्य विधानमण्डल का अनिवार्य अंग है, अर्थात् विधानमण्डल से आशय विधानसभा + विधान परिषद् त्र राज्यपाल से होता है। उसकी विधायी या व्यवस्थापिका सम्बन्धी शक्तियाँ निम्नलिखित हैं –

1. राज्यपाल ही विधानमण्डल का अधिवेशन बुलाता है व सत्रावसान करता है।
2. वह विधानमण्डल के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन को सम्बोधित करता है।
3. विधानमण्डल द्वारा पारित कोई भी विधेयक तब तक कानून नहीं बनता है जब तक कि राज्यपाल स्वीकृति प्रदान न कर दे।
4. अनुच्छेद 201 के अनुसार राज्यपाल किसी भी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए रोक सकता है जो उसकी दृष्टि में अति महत्त्वपूर्ण हो।
5. जब विधानसभा का सत्रावसान हुआ है तब राज्य सरकार को कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण कानून की आवश्यकता पड़ती है तब राज्यपाल अध्यादेश जारी कर देता है जो कानून के बराबर होता है जिसकी अवधि 6 सप्ताह या 6 माह होती है। यदि विधानमण्डल स्वीकार कर लेती है वह अधिनियम बन जाता है। अन्यथा उसे समाप्त माना जाता है।
6. जिन राज्यों में विधान परिषद् है, वहाँ राज्यपाल 1/6 सदस्यों को मनोनीत करता है। यह व्यक्ति कला, साहित्य, शिक्षा, विज्ञान, समाज सेवा में अनुभवी होने चाहिये।
7. जब राज्य में कुछ इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाय, तब राज्यपाल विधानसभा को भंग न करके वहाँ पर राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश कर सकता है।

   विशेष :– जब 1997 उत्तरप्रदेश विधानसभा चुनाव हुए तब वहाँ किसी भी पार्टी या गठबन्धन को बहुमत नहीं मिला और कोई पार्टी एक–दूसरे को समर्थन देने को तैयार नहीं थी। तब वहाँ के तत्कालिक राज्यपाल रोमेश भण्डारी ने वहाँ की विधानसभा स्थगित करके राष्ट्रपति शासन लागू करवाया।

8. राज्यपाल विधानसभा के नव–निर्वाचित सदस्यों को शपथ दिलाने के लिए विधानसभा में अपने प्रतिनिधि नियुक्त करता है।

18.4.3 वित्तीय शक्तियाँ–राज्यपाल व राष्ट्रपति की वित्तीय शक्तियाँ एक समान हैं, जो निम्नलिखित हैं –

1. राज्यपाल की स्वीकृति के बिना कोई भी वित्त विधेयक विधानसभा में प्रस्तावित या पुनः स्थापित नहीं किया जा सकता है।
2. राज्यपाल का उत्तरदायित्व है कि वार्षिक बजट का विवरण विधानमण्डल के समक्ष रखा जाय तथा उसे पारित किया जाय।
3. राज्यपाल को राज्य विधानमण्डल से पूरक, अतिरिक्त या विशेष मांग करने का अधिकार है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

4. राज्यपाल की संचित निधि पर राज्यपाल का ही अधिकार होता है और विधानमण्डल की स्वीकृति के बिना ही व्यय की अनुमति दे सकता है।

5. राज्यपाल द्वारा ही राज्य के खर्च की जाँच की हुई वार्षिक रिपोर्ट भी विधानमण्डल में रखवाई जाती है।

18.4.4 न्यायिक शक्तियाँ–राज्य के कार्यपालिका क्षेत्राधिकार के तहत आने वाले कानूनों के विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों के दण्ड को कम करने, स्थगित करने, बदलने अथवा क्षमा करने का अधिकार राज्यपाल को ही है। राजयपाल अपनी इस न्यायिक शक्ति का इस्तेमाल मुकदमे से पूर्व, मुकदमे के दौरान व मुकदमे के बाद कर सकता है। इनका उल्लेख संविधान के अनुच्छेद 161 (1) में किया गया है।

18.4.5 विविध शक्तियाँ–राज्यपाल द्वारा समय–समय पर विभिन्न क्षेत्रों में उल्लेखनीय सेवा करने वालों को पुरस्कृत किया जाता है तथा राज्यपाल राज्य के विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति भी होता है इस कारण विश्वविद्यालयों के कुलपतियों की नियुक्ति राज्यपाल ही करता है।

इस प्रकार राज्यों की राजनीति के अन्तर्गत राज्यपाल में ही समस्त शक्तियाँ निहित हैं। लेकिन इन सबका वास्तविक प्रयोगकर्ता वह स्वयं न होकर मुख्यमन्त्री व उसकी मन्त्रीपरिषद् होती है। इस तरह राज्यपाल की स्थिति संवैधानिक दृष्टि से रबड़ की मोहर के समान है लेकिन कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल का पद बहुत ही गरिमापूर्ण व शक्तिशाली बन जाता है।

18.5 राज्यपाल की भूमिका

राज्यपाल की उपरोक्त शक्तियों का मूल्यांकन करने के पश्चात् हमारे सम्मुख यह प्रश्न उठता है कि राज्यपाल की वास्तविक भूमिका या स्थिति क्या है? क्या राज्यपाल केवल संवैधानिक प्रमुख है? या उससे कुछ अधिक, क्या राज्यपाल केन्द्र का अभिकर्ता है? ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण व विवादास्पद प्रश्न उत्पन्न होते हैं। लेकिन भारत की आजादी के 53 वर्ष के इतिहास को देखें तो हम यह पाते हैं कि अभी तक राज्यपाल की स्थिति बिलकुल साफ नहीं हुई है क्योंकि समय–समय पर विभिन्न राज्यपालों ने अपनी भूमिका को निखारने का प्रयास किया है। भारतीय संविधान में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राज्यपाल राज्य का संवैधानिक प्रमुख है तथा संविधान कुछ स्वविवेकीय शक्तियाँ प्रदान करता है। यह स्वविवेकीय शक्तियाँ राज्यपाल को कभी महत्त्वपूर्ण तो कभी नाममात्र की बना देती हैं। 1967 तक राज्यपाल की स्थिति मात्रगौण थी। लेकिन 1967 से लेकर आज तक भारतीय राजनीति में आने वाले परिवर्तनों ने इस पद को और अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया है। साथ ही यह पद विवादों का भी केन्द्र बन चुका है। राज्यपाल की वास्तविक स्थिति क्या है? उसको निम्न शीर्षकों द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है–

18.5.1 राज्यपाल संवैधानिक प्रधान के रूप में–भारतीय संविधान निर्माताओं ने संसदीय व्यवस्था को बढ़ाने के उद्देश्य से राज्यपाल पद की स्थापना की। संविधान के अनुच्छेद 163 (1) के अनुसार राज्यपाल राज्य के तहत मन्त्रिपरिषद् की सलाह से ही कार्य करेगा और साधारण परिस्थितियों में स्वविवेक शक्तियों का प्रयोग नहीं करेगा। दूसरी ओर अनुच्छेद 163 (1) राज्य के राज्यपाल को स्वविवेकीय शक्तियाँ प्रदान करता है। इसको स्पष्ट करते हुए डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था कि राज्य का राज्यपाल केवल मन्त्रिपरिषद् की सलाह पर उसी के निर्देशानुसार कार्य करने को बाध्य है। इससे स्पष्ट होता है कि संविधान का अनुच्छेद 163 (1) राज्यपाल की स्वविवेक की शक्ति को स्पष्ट नहीं कर सका है। क्योंकि संविधान में विशेष परिस्थितियों में अधिकारों का उल्लेख स्पष्ट रूप से नहीं किया गया है। अर्थात् संविधान में कहा गया है कि राज्यपाल तत्कालीन परिस्थितियों को मध्यनजर रखते हुए अपनी स्वविवेकीय शक्तियों के अनुसार किसी भी विधायक दल के नेता को सरकार बनाने के लिए आमन्त्रित करके निश्चित् समयावधि में बहुमत सिद्ध करने का निर्देश दे सकता है। राज्यपाल की वास्तविक स्थिति पर सरोजिनी नायडू ने कहा है कि – सोने के पिंजरे में कैद चिड़िया। श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित के अनुसार यदि कोई व्यक्ति उस पद को स्वीकार करता है तो उसको पद नहीं वरन् वेतन का आकर्षण है।

18.5.2 राज्यपाल संवैधानिक अध्यक्ष से कुछ अधिक–संसदात्मक शासन प्रणालियों में केन्द्र व राज्यों में समन्वय स्थापित करने के लिए राज्यपाल पद सृजित कर उसको अलिखित अधिकार सौंपे गये। जिनके माध्यम से वह राज्य विधानमण्डल पर केन्द्रीय अभिकर्ता के रूप में नियन्त्रण स्थापित करता है। इस प्रकार का उदाहरण भारत में सर्वप्रथम सातवान ने प्रस्तुत किया था। अलिखित अधिकारों की श्रेणी में हम केवल इतना स्पष्ट कर सकते हैं कि राज्य विधानमण्डल यानि राज्य संसदीय व्यवस्था कमजोर होती है। उस समय लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राज्यपाल अपनी इच्छानुसार निर्णय करने की शक्ति रखता है।

18.5.3 मुख्यमन्त्री की नियुक्ति–भारतीय संविधान के अनुच्छेद 164 (1) मुख्यमन्त्री पद का सृजन करता है जिसमें कहा गया है कि राज्य की वास्तविक कार्यपालिका का प्रमुख होगा। जिसकी नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जायेगी। सामान्यतया राज्यपाल विधानसभा में बहुमत दल के नेता को मुख्यमन्त्री बनाता है। लेकिन कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में राज्यपाल की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। जैसे – विधानसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिले तब राज्यपाल अपने स्वविवेक के अनुसार किसी भी दल के नेता को मुख्यमन्त्री (सरकार) बनने के लिए आमन्त्रित कर सकता है। राज्यपाल यह अधिकार राज्यों की राजनीति के लिए लाभदायक भी रहा है। साथ ही कुछ राज्यपालों ने अपने इन अधिकारों का दुरुपयोग करते हुए लोकतन्त्र की हत्या तक करने का प्रयास किया है।

विशेष :– राजस्थान की दसवीं विधानसभा चुनाव के पष्चात् किसी भी दल को बहुमत प्राप्त नहीं हुआ था। दोनों ही प्रमुख दल भाजपा व कांग्रेस (इ) सरकार बनाने का दावा कर रहे थे। यह स्थिति तत्कालिक राज्यपाल बलिराम भगत के लिए विचित्र थी। तब उन्होंने विवेक का उचित प्रयोग करते हुए सबसे बड़े दल भाजपा के नेता श्री भैरोसिंह शेखावत को मुख्यमन्त्री बनाया।

Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशेष :– इसी प्रकार जब 1967 विधानसभा के चुनाव हुए तब भी विधानसभा में किसी भी दल को बहुमत नहीं मिला। रामराज्य परिषद् के नेता महारावल लक्ष्मणसिंह ने राज्यपाल सम्पूर्णानन्द के सम्मुख सरकार बनाने का दावा पेश किया जिसमें उन्होंने अपने समर्थक विधायकों को राजभवन में पेश किया, लेकिन राज्यपाल ने ऐसा न करके कांग्रेस (इ) के नेता श्री मोहनलाल सुखाड़िया को राज्य का मुख्यमन्त्री बना दिया। राज्यपाल की इस नीति को पक्षपातपूर्ण व लोकतन्त्र की दिन–दहाड़े हत्या की संज्ञा दी गई और संसदीय इतिहास में पहली बार महारावल लक्ष्मणसिंह ने अपने समर्थक विधायकों के साथ राष्ट्रपति के सम्मुख परेड की।

18.5.4 मन्त्रिमण्डल को भंग करना–यद्यपि भारतीय संविधान राज्यपाल को यह अधिकार नहीं देता है कि वह मन्त्रिमण्डल को भंग करे। लेकिन राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियों में यह बताया गया है कि यदि उसको आभास हो जाय कि सरकार अपना बहुमत खो चुकी है या अल्पमत में आ चुकी है, तब राज्यपाल उस मन्त्रिमण्डल को भंग करके नवीन मन्त्रिमण्डल का गठन कर सकता है। लेकिन यह कार्य राज्यपाल को संविधान के प्रावधानों के दायरे में करना होगा।

विशेष :– जब 1998 को उत्तरप्रदेश में कल्याणसिंह के नेतृत्त्व वाली भाजपा की सरकार से लोकतान्त्रिक कांग्रेस, लोकतान्त्रिक बहुजन समाजवादी पार्टी तथा कुछ अन्य विधायकों ने अपना समर्थन वापस लिया तब उत्तरप्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल श्री रोमेश भण्डारी को यह आभास हुआ कि सरकार अपना बहुमत खो चुकी है। तब उन्होंने लोकतान्त्रिक कांग्रेस के नेता जगदम्बिका पाल को अन्य विपक्ष के समर्थन से रातों–रात राज्य का मुख्यमन्त्री बना दिया। तब भाजपा ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में एक याचिका दायर की और न्यायालय ने राज्यपाल के इस निर्णय का कड़ा विरोध किया और इसे असंवैधानिक करार दिया और कहा बहुमत का फैसला राजभवन में नहीं विधानसभा में होना चाहिये। राज्यपाल की इस कार्यवाही की संविधान विशेषज्ञों तथा राजनीतिज्ञों ने कड़ी आलोचना की। अटलबिहारी वाजपेयी ने कहा कि राज्यपाल ने राजभवन में रात के अन्धेरे में कल्याणसिंह सरकार को बर्खास्त कर दिया।

18.5.5 विधानसभा का अधिवेशन बुलाना–साधारण परिस्थिति में राज्यपाल मुख्यमन्त्री के परामर्श से विधानसभा का अधिवेशन बुलाता है। लेकिन अनुच्छेद 174 के अनुसार राज्यपाल यदि महसूस करे कि किसी विषय पर तुरन्त निर्णय लिया जाना आवश्यक है तो वह मुख्यमन्त्री के परामर्श के बिना भी विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है। इसी प्रकार यदि उसे मुख्यमन्त्री के बहुमत पर संदेह हो तो वह विधानसभा का अधिवेशन बुला सकता है।

18.5.6 विधानसभा भंग करना–साधारणतया राज्यपाल मुख्यमन्त्री के परामर्श से अथवा मुख्यमन्त्री की सिफारिश पर ही विधानसभा को भंग कर सकता है, लेकिन विशेष परिस्थिति में वह मुख्यमन्त्री के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है या मुख्यमन्त्री का परामर्श मानने से इंकार कर सकता है।

18.5.7 केन्द्र सरकार के एजेन्ट के रूप में–राज्यपाल की भूमिका या स्थिति केन्द्र सरकार के एजेन्ट या प्रतिनिधि के रूप में भी देख सकते हैं। मेरे विचारों में राज्यपाल सबसे पहले केन्द्र सरकार का प्रतिनिधि है क्योंकि उसकी नियुक्ति केन्द्र सरकार द्वारा की जाती है, उसका पद पर बने रहना भी केन्द्र सरकार पर निर्भर करता है, राज्यपाल का यह दायित्व बनता है कि राज्य में वह केन्द्र सरकार के हितों का पूरा–पूरा ख्याल रखे आदि। यदि हम भारत के संसदीय लोकतन्त्र के इतिहास को देखें तो हम पाते हैं कि जब–जब केन्द्र की राजनीति में बदलाव आता है, तब–तब निश्चित रूप से राज्यपाल का पद प्रभावित होता है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि राज्यपाल निश्चित रूप से 24 कैरेट सोने के समान केन्द्र सरकार का एजेण्ट है। संविधान के अनुच्छेद 256 के अनुसार राज्यपाल केन्द्रीय अभिकर्ता के रूप में राष्ट्रीय महत्त्व के विषय जो केन्द्रीय सूची में सम्मिलित है और केन्द्र अनेक विषय, जो राज्य को सुपुर्द करता है तो ऐसी स्थिति में उन विषयों की कार्यप्रणाली का अवलोकन राज्य का राज्यपाल ही करेगा। अनुच्छेद 257 के अनुसार राज्यपाल राज्य विकास हेतु संघीय सूची के वे विषय जैसे सड़क निर्माण, दो राज्यों के मध्य पुलों का निर्माण या नदी जल का बंटवारा, इत्यादि का अवलोकन राज्यपाल करता है। इसी प्रकार अनुच्छेद 200 व 201 के अनुसार राज्यपाल राज्य विधानसभा द्वारा पारित किसी विधेयक को केन्द्र (राष्ट्रपति) की स्वीकृति के लिए रोक सकता है।

18.5.8 अनुच्छेद 356 के सम्बन्ध में शक्तियाँ–भारतीय संविधान का अनुच्छेद 356 राष्ट्रपति को आपातकालीन षक्तियाँ प्रदान करता है। जिसके अनुसार यदि राष्ट्रपति को (राज्यपाल की रिपोर्ट) इस बात का आभास हो जाय कि राज्य का प्रशासनिक तन्त्र विफल हो चुका है, सरकार ऐसी स्थिति में नहीं रही कि वह षासन भली–भांति सफलतापूर्वक संचालित कर सके। इन आधारों पर राष्ट्रपति राज्यसरकार को बर्खास्त करके तथा राज्य विधानसभा भंग कर देता है और वहाँ पर राष्ट्रपति षासन लागू कर देता है। ऐसी स्थिति में राज्य की वास्तविक कार्यपालिका का प्रमुख राज्यपाल बन जाता है और उसी के द्वारा तब तक प्रशासनिक कार्य संचालित किए जाते, तब तक राष्ट्रपति शासन समाप्त नहीं होता। इस प्रकार राज्यपाल राष्ट्रपति या केन्द्र सरकार के बतौर प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है।

18.5.9 विधानसभा को भंग न करते हुए राष्ट्रपति शासन लागू करना–जब राज्य की राजनीति में इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनमें सरकार का गठन करना मुश्किल हो या विधानसभा में किसी दल के पास बहुमत न हो और कोईभी दल या गठबन्धन आपस में मिलकर सरकार बनाने को तैयार नहीं हो, तब राज्यपाल वैकल्पिक व्यवस्था होने तक विधानसभा को भंग न करते हुए राष्ट्रपति शासन अनुच्छेद 356 के तहत लागू करने की सलाह राष्ट्रपति को दे सकता है।

विशेष :– 1998 में उत्तरप्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी ने ऐसा ही किया था।

18.5.10 राज्य की स्थिति के बारे में केन्द्र सरकार को रिपोर्ट भेजना–राज्यपाल समय–समय पर राज्य की राजनीतिक, आर्थिक, प्रशासनिक बिन्दुओं को मध्यनजर रखते हुए रिपोर्ट तैयार करता है जिसमें वह राज्य की स्थिति का उल्लेख करता है तथा इस रिपोर्ट या प्रतिवेदन को राष्ट्रपति या केन्द्र सरकार के सम्मुख भेजता है। राज्यपाल रिपोर्ट तैयार करने में पूरी तरह से स्वतन्त्र होता है। राज्यपाल की इसी रिपोर्ट के आधार पर सम्बद्ध राज्य को निर्देश जारी किये जाते है तथा अनुच्छेद 356 का इस्तेमाल करते हुए राष्ट्रपति शासन लागू किया जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

राज्यपाल के इस अधिकार ने राज्यपाल पद को विवादों के घेरे में लाकर खड़ा कर दिया है। क्योंकि राज्यपाल द्वारा अपने इस अधिकार का इस्तेमाल राजनीतिक दलगत भावना के आधार पर किया जाता है। केन्द्र में सत्तारूढ़ दल अपने विपक्ष की राज्य सरकार को कमजोर करना चाहता है। इसके लिए वह राज्यपाल को मोहरा बनाकर अपने निहित स्वार्थों को पूरा करती है। इससे इस पद की निष्पक्षता पर प्रश्न चिह्न लग गया है।

विशेष :– 1998 व 1999 में बिहार के राज्यपाल केन्द्र सरकार को समय–समय पर रिपोर्ट भेजने के कारण विवादों के घेरे में रहे हैं और इसी तर्ज पर केन्द्र में सत्तारूढ़ भाजपा सरकार ने कहा कि राबड़ी देवी के नेतृत्त्व वाली राष्ट्रीय जनता दल की सरकार को बर्खास्त करने का असफल प्रयास कर चुकी है क्योंकि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल की सिफारिशों को राष्ट्रपति श्री के.आर. नारायणन ने पुनः लौटा दी।

18.6 राज्यपाल का पद विवादों के घेरे में क्यों?

जैसा कि यह स्पष्ट किया जा चुका है कि राज्यपाल राज्य का प्रमुख है, लेकिन वास्तविक स्थिति में हमें इसका दूसरा ही रूप दिखाई देता है। भारत की संसदीय प्रजातन्त्र के 53 वर्षीय इतिहास को देखें तो यह तथ्य स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। 1967 तक राज्यपाल का पद केवल शोपीस की भांति था, लेकिन जब पहली बार 9 राज्यों में गैर कांग्रेस दलों की सरकार बनती है तब से राज्यपाल का पद विवादों के घेरे में आ जाता है। इससे पूर्व राज्यपाल का पद विवाद रहित पूर्णतया विशुद्ध था। क्योंकि केन्द्र व राज्यों में कांग्रेस का एकछत्र राज था। अतः राज्यपाल भी राज्य सरकार से किसी भी प्रकार का टकराव नहीं लेता था और वह अपने संवैधानिक दायरे में रहकर अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करता था। राज्य सरकार व राज्यपाल के बीच मधुर सम्बन्ध थे लेकिन जब 1967 में लोकसभा चुनाव के साथ–साथ राज्य विधानसभा के चुनाव हुए इनमें से 9 राज्यों में गैर–कांग्रेस की सरकार बनती है। तब से राज्यपाल विवादों के घेरे में आ जाता है। राज्यपाल केन्द्र के निर्देश या फिर केन्द्र सरकार खुश रखने के लिए राज्य सरकारों को परेशान करने लगे।

भारत के संसदीय प्रजातन्त्र के इतिहास में अभी तक अनुच्छेद 356 करीब 120 बार प्रयुक्त किया जा चुका है। राजनीतिक व संविधान विश्लेषकों का यह तर्क है कि अधिकांशतया अनुच्छेद 356 का प्रयोग पक्षपातपूर्ण, राजनीतिक पक्षपात, स्वार्थों तथा बदले की भावना के आधार पर किया गया है। राज्यों में अनुच्छेद 356 का इस्तेमाल तथा राज्य सरकारों को बर्खास्त करने की कार्यवाही ने इस पद को और अधिक विवादास्पद बना दिया है।

राज्यपालों के द्वारा अनेक बार ऐसे निर्णय लिए गये हैं जो पूर्णतया राजनीतिक पक्षपात से प्रेरित रहे हैं। राज्यपालों ने अनेक बार राजनीतिक इच्छाशक्ति से तथा केन्द्र के दबाव में आकर अल्पमतों के लोगों को मुख्यमन्त्री बनाया है।

विशेष :– जब चौथी राजस्थान विधानसभा के चुनाव में किसी भी दल को बहुमत नहीं मिला तब तात्कालिक राज्यपाल श्री सम्पूर्णानन्द के सम्मुख रामराज्य परिषद् के महारावल लक्ष्मण सिंह ने निर्दलीय विधायकों के समर्थन के साथ बहुमत के समर्थन की बात करते हुए सरकार बनाने का दावा पेश किया, परन्तु राज्यपाल ने कांग्रेस के मोहनलाल सुखाड़िया को मुख्यमन्त्री बना दिया।

विशेष :– इसी प्रकार राज्यपालों ने रातों रात राज्य सरकारों को बर्खास्त कर देया। 1998 को उत्तरप्रदेश की राजनीति में ऐसा कुछ दिखाई पड़ता है। जब यहाँ के तत्कालीन राज्यपाल श्री रोमेश भण्डारी द्वारा कल्याण सिंह की सरकार को बर्खास्त कर यहाँ पर रातों–रात नया मुख्यमन्त्री श्री जगदम्बिका पाल को बना देते हैं। इस प्रकार यह पद निश्चित रूप से विवादों के घेरे में आ गया है।

इसी तरह समय–समय पर राज्यपालों द्वारा रिपोर्ट को आधार बनाकर राज्य सरकारों को परेशान करने का प्रयास किया गया है। जिसके कारण राज्यपाल व मुख्यमन्त्री के बीच इस कदर विवाद उत्पन्न हो जाता है कि दोनों सार्वजनिक स्थानों पर एक–दूसरे का खुल्लम–खुल्ला विरोध कर रहे हैं। जो भारतीय लोकतन्त्र के लिए न केवल घातक है अपितु यह विनाशकारी भी साबित हो सकता है।

विशेष :– बिहार के राज्यपाल श्री सुन्दरसिंह भण्डारी द्वारा वहाँ की राबड़ीदेवी सरकार को बर्खास्त करने की सिफारिश करना और मुख्यमन्त्री राबड़ी देवी द्वारा राज्यपाल के प्रति सार्वजनिक स्थल पर असंसदीय भाषा का प्रयोग करना। निःसन्देह ही यह लक्षण राज्यपाल पद की गरिमा पर कालिख पोतने के समान है।

18.7 सारांश

उपर्युक्त राज्यपाल की शक्तियाँ एवं भूमिका या स्थिति की विवेचना के तत्पश्चात् मै इस निष्कर्ष पर पहुँचता हूँ कि भारतीय संविधान में राज्यपाल के सन्दर्भ में यह कहा गया है कि राज्य की समस्त कार्यपालिका सम्बन्धी शक्ति उसी में ही निहित होगी। लेकिन व्यवहार में ऐसा नहीं है क्योंकि उसकी शक्तियों का वास्तविक प्रयोगकर्ता मुख्यमन्त्री व कैबिनेट होती है। इस तरह संवैधानिक आधार पर देखा जाय तो राज्यपाल की स्थिति गौण है। परन्तु असंवैधानिक आधार पर वह कुछ ज्यादा ही शक्तिशाली दिखाई पड़ता है। आज राज्यपाल का पद बहुत अधिक विवादों के घेरे में आ चुका है। राज्यपालों की मुख्यमन्त्रियों द्वारा सार्वजनिक मंचों पर न केवल आलोचनायें की जा रही हैं, बल्कि असंसदीय भाषा का भी इस्तेमाल धड़ल्ले के साथ किया जा रहा है।

विशेष :– दिसम्बर 1998 को बिहार की मुख्यमन्त्री श्रीमती राबड़ी देवी ने राज्यपाल सुन्दरसिंह भण्डारी के खिलाफ एक जनसभा में बड़े ही बेहुदा किस्म के षब्दों का प्रयोग किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

राज्यपाल पद को राजनीति का मोहरा बनाकर राजनीतिक बदले की भावना के रूप में प्रयोग किया जा रहा है। जिसके कारण आज केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में विवादों का नया अध्याय षुरु हो गया है। राज्यपालों के द्वारा आज इस प्रकार के कृत्य किये जा रहे है जिससे राज्य की स्वायत्तता पर गहरी चोट पहुँच रही है। राज्यपालों के तानाशाहपूर्ण रवैयों ने इस पद को कलंकित किया है। राज्यपालों ने राजभवन में बैठकर सरकारों को बदल कर दिन–दहाड़े लोकतन्त्र की हत्या की है।

विशेष :– 1998 में उत्तरप्रदेश के राज्यपाल रोमेश भण्डारी द्वारा कल्याणसिंह को हटाकर जगदम्बिका पाल को मुख्यमन्त्री बनाना विवादों के घेरे में आया है। राज्यपालों को चाहिये कि वे संविधान के तकाजे को ध्यान में रखते हुए कदम उठाये न कि दलगत भावना को।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राज्यपाल की नियुक्ति प्रक्रिया पर प्रकाश डालिये।
2. राज्यपाल की शक्ति एवं स्थिति का उल्लेख कीजिये।
3. राज्यपाल पद का विवादों के घेरे में आने के क्या कारण हैं ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राज्यपाल की नियुक्ति सम्बन्धी परम्पराएँ कौन–सी हैं?
2. राज्यपाल की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ संक्षिप्त में बताओ।
3. राज्यपाल की वित्तीय शक्तियाँ बताओ।
4. राज्यपाल की स्वविवेकीय शक्तियाँ स्पष्ट कीजिये।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राज्यपाल का कितना वेतन हैं?
2. राज्यपाल किसके प्रसाद पर्यन्त पद पर बना रहता हैं?
3. कुलाधिपति के रूप में राज्यपाल का प्रमुख कार्य क्या हैं?
4. राज्य में संवैधानिक तन्त्र का प्रतिवेदन राष्ट्रपति को कौन भेजता है?
5. संविधान के अनुसार राज्य की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ किसमें निहित हैं?
6. राज्य लोकसभा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों की नियुक्ति कौन करता हैं?

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

बी.एल. पनगरिया, भारत में राज्य की राजनीति।

हरिशचन्द्र माथुर, भारत में राज्यों की राजनीति, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।

धर्मचन्द जैन, अनुच्छेद 356 (एक सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विष्लेशण), ओ.बी.एस. पब्लिकेशन्स, जयपुर।

एस.एल. वर्मा, बी.एम. शर्मा, भारत में संवैधानिक आपातकाल, रावत पब्लिकेशन्स, जयपुर।

डी.डी. बसु, भारत का संविधान, वाधवा प्रकाशन, मेरठ।

धर्मचन्द जैन, राज्यपाल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–19 : मुख्यमन्त्री एवं मन्त्रिपरिषद्

संरचना

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 मुख्यमन्त्री की नियुक्ति

19.2.1 मुख्यमन्त्री चयन की राजनीति

19.3 मुख्यमन्त्री की शक्तियाँ एवं कार्य

19.3.1 मन्त्रिपरिषद् का निर्माता

19.3.2 विभागों का बंटवारा करना

19.3.3 मन्त्रिमण्डल का कार्य संचालन

19.3.4 विभिन्न विभागों में समन्वय

19.3.5 मन्त्रियों को पद से हटाना

19.3.6 प्रशासन की धुरी

19.3.7 नीति का निर्धारक

19.3.8 विधानसभा में बहुमत दल का नेता

19.3.9 पार्टी का प्रमुख नेता

19.3.10 राज्य का प्रतिनिधित्व करना

19.3.11 राज्यपाल और मन्त्रिमण्डल के बीच कड़ी का कार्य

19.3.12 विधानसभा को भंग करना

19.4 राज्य मन्त्रिपरिषद् का संगठन

19.4.1 मुख्यमन्त्री की नियुक्ति

19.4.2 मन्त्रियों का चयन

19.4.3 मन्त्रियों की संख्या

19.4.4 मन्त्रियों की योग्यताएँ

19.4.5 मन्त्रियों का कार्य विभाजन

19.4.6 मन्त्रियों द्वारा शपथ–ग्रहण

19.4.7 मन्त्रियों की श्रेणियाँ

19.4.8 मन्त्रि परिषद् का कार्यकाल

19.4.9 सामूहिक उत्तरदायित्व

19.4.10 वेतन भत्ते

19.5 मन्त्रिपरिषद् की शक्तियाँ

19.5.1 नीति का निर्धारण

19.5.2 व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियाँ

19.5.3 नियुक्ति सम्बन्धी कार्य

19.5.4 विधानमण्डल में शासन का प्रतिनिधित्व

19.5.5 बजट तैयार करवाना

19.5.6 अन्य कार्य

19.6 राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद्

19.7 सारांश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

19.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत राज्यों की राजनीति में मुख्यमंत्री पद की गरिमा एवं मन्त्रिपरिषद् के गठन का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात् आप–

- राज्य राजनीति में संसदीय शासन व्यवस्था को समझ सकेंगे,
- राज्यों में मुख्यमंत्री पद के महत्त्व की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- मन्त्रिपरिषद् का संसद के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व सिद्धान्त को समझ सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

भारत में संसदीय व्यवस्था का अनुसरण किया गया है, इसके कारण केन्द्र में कार्यपालिका के दो रूप नाममात्र (राष्ट्रपति) और वास्तविक (प्रधानमन्त्री) पाये जाते हैं। ठीक इसी तरह राज्यों में भी कार्यपालिका के दो रूप पाये जाते हैं। जहाँ नाममात्र राज्यपाल वहीं वास्तविक प्रमुख मुख्यमन्त्री होता है। संविधान द्वारा राज्य की तमाम कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ राज्यपाल को प्रदान की जाती है। परन्तु व्यवहार में षक्तियों का प्रयोगकर्ता मुख्यमन्त्री ही होता है। संविधान के अनुच्छेद 163 के अनुसार राज्यपाल अपनी कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों के प्रयोग के लिए मुख्यमन्त्री के नेतृत्त्व में एक मन्त्रिपरिषद् का गठन करेगा और उसी की सलाह से राज्यपाल अपने दायित्त्व का निर्वहन भी करेगा। राज्यपाल सामान्यतया राज्य विधानसभा में बहुमत दल के नेता को मुख्यमन्त्री पद पर नियुक्ति हेतु आमन्त्रित करता है लेकिन यदि विधानसभा में किसी भी दल को बहुमत न मिले तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल अपने स्वविवेक का प्रयोग करते हुए किसी भी दल के नेता को नियुक्त कर निश्चित समयावधि में बहुमत सिद्ध करने का निर्देश दे सकता है। संविधान–निर्माताओं ने यह आशा की थी कि राज्य में मुख्यमन्त्री बहुमत दल का नेता ही नहीं होगा, अपितु राज्य का नायक और मुख्य प्रवक्ता होगा। मुख्यमन्त्री के प्रभावी व्यक्तित्व और सुदृढ़ राजनीतिक स्थिति का भी राज्य के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्तर पर काफी फायदा होता है और केन्द्र सरकार भी ऐसे मुख्यमन्त्रियों की बात को नजरअन्दाज नहीं कर सकती।

विशेष :– वर्तमान में भी कुछ ऐसे मुख्यमन्त्री हैं, जो उपर्युक्त विचार पर पूर्णतया खरे उतरते हैं, जैसे – आन्ध्रप्रदेश के चन्द्रबाबू नायडू, मध्यप्रदेश के दिग्विजय सिंह, प. बंगाल के पूर्व मुख्यमन्त्री ज्योति बसु, आदि।

19.2 मुख्यमन्त्री की नियुक्ति

संविधान के अनुच्छेद 164 के अनुसार मुख्यमन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है। राज्यपाल को मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करते वक्त दो मापदण्डों को ध्यान में रखना पड़ता है–प्रथम उसे राज्य विधानसभा में बहुमत का समर्थन प्राप्त हो द्वितीय वह विधानसभा का सदस्य हो। यदि कोई व्यक्ति मुख्यमन्त्री बन गया है और विधान सभा का सदस्य नहीं है तो उसे छः माह के भीतर विधानसभा की सदस्यता प्राप्त करनी पड़ती है, अन्यथा उसे अपने पद से इस्तीफा देना पड़ेगा।

विशेष :– 1998 में राजस्थान के मुख्यमन्त्री पद पर जब अशोक गहलोत ने शपथ ली थी तब वे विधानसभा के सदस्य नहीं थे। उन्होंने बाद में जोधपुर के सरदारपुरा विधानसभा सीट से चुनाव जीता और विधानसभा की सदस्यता प्राप्त की।

मुख्यमन्त्री चयन की राजनीति

मुख्यमन्त्री का चयन करना आसान नहीं है। अनेक राज्यों में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने, सिद्धान्तहीन एवं अवसरवादी गठबन्धन के अस्तित्व में आने के कारण मुख्यमन्त्री के चयन में राज्यपालों को अनेक दुविधाओं का सामना करना पड़ता है। इस कारण राज्यपाल का संवैधानिक पद भी विवादों के घेरे में आया है क्योंकि अनेक बार राज्यपालों ने मुख्यमन्त्रियों के चयन में केन्द्र सरकार के इशारों पर काम किया। इससे लोकतन्त्र की हत्या और जन भावनाओं पर भी गहरा आघात लगा। कुछ मुख्यमन्त्रियों का चयन तो दलीय बहुमत के अभाव में ही कर दिया गया। जैसे 1967 में राजस्थान में 183 सदस्यीय सदन में कांग्रेस को 88 स्थान तथा संयुक्त मोर्चे की संख्या 93 सदस्यों की थी। राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द ने मोर्चे के साथ निर्दलीय सदस्यों की उपेक्षा करते हुए मोर्चे के नेता महारावल लक्ष्मणसिंह को न बुलाकर कांग्रेस विधायक दल के नेता मोहनलाल सुखाड़िया को बुलाकर मुख्यमन्त्री पद की शपथ दिलाई।

अब प्रश्न यह उठता है कि विधानसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिले तो राज्यपाल क्या करे? राज्यपाल अपने स्वविवेक का प्रयोग करते हुए किसी भी दल के नेता को इस पद पर नियुक्त कर सकता है। परम्परा के अनुसार राज्यपाल ऐसी परिस्थितियों में सबसे बड़े दल के नेता को आमन्त्रित करता है। लेकिन अनेक बार इस मापदण्ड की भी राज्यपाल उपेक्षा कर देते हैं।

मुख्यमन्त्री चयन की दुविधा को कम करने के लिए उच्चतम न्यायालय ने अभूतपूर्व निर्देश दिये। फरवरी 1998 में यह निर्देश उत्तरप्रदेश में मुख्यमन्त्री पद के दो दावेदारों–कल्याणसिंह और जगदम्बिका पाल के दावों का निर्धारण करते हुए दिये गये। न्यायालय ने राज्य विधानसभा के विशेष सत्र की बैठक 26 फरवरी 1998 को बुलाने का आदेश दिया, ताकि इस बात का पता लगाया जा सके कि बहुमत किसके पास है। यह पहला अवसर था जब न्यायालय ने ऐसा आदेश जारी किया और कहा कि मुख्यमन्त्री के पास बहुमत है या नहीं, इसका फैसला सदन में होना चाहिये न कि राजभवन में।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

19.3 मुख्यमन्त्री की शक्तियाँ

19.3.1 मन्त्रिपरिषद् का निर्माता–मुख्यमन्त्री का प्रमुख कार्य मन्त्रि परिषद् का निर्माण करना है। जब वह अपने पद और गोपनीयता की शपथ ले लेता है, तब वह मन्त्रिपरिषद् के निर्माण को सर्वप्रथम पूरा करता है। मुख्यमन्त्री मन्त्रियों की सूची राज्यपाल को सौंपता है जिसे राज्यपाल भी स्वीकार कर लेता है। मन्त्रियों के चयन में मुख्यमन्त्री बहुत कुछ सीमा तक अपने विवेक के अनुसार निर्णय लेता है लेकिन फिर भी उसे कुछ बातों का ध्यान रखना पड़ता है, जैसे – मन्त्रिपरिषद् में दल के प्रमुख नेताओं, सभी जातियों, धर्मों तथा क्षेत्रों को उचित प्रतिनिधित्व मिले।

19.3.2 विभागों का बंटवारा–मन्त्रिपरिषद् के निर्माण के बाद किस मन्त्री को कौन सा विभाग दिया जाय , इसका फैसला करने की शक्ति भी मुख्यमन्त्री की होती है। प्रायः मुख्यमन्त्री महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावी विभाग अपने विश्वसनीय मन्त्रियों को देकर भविष्य की समस्याओं से बचने का प्रयास करता है। इसके अलावा आवश्यकता पड़ने पर मुख्यमन्त्री मन्त्रियों के विभागों में भी परिवर्तन कर सकता है। मुख्यमन्त्री के ऐसे निर्णय को सामान्यतया किसी के भी द्वारा चुनौती नहीं दी जा सकती।

19.3.3 मन्त्रिमण्डल का कार्य संचालन–मुख्यमन्त्री मन्त्रिमण्डल की बैठकें बुलाता तथा उनकी अध्यक्षता करता है। बैठक के लिए कार्य सूची का निर्माण भी मुख्यमन्त्री करता है। यदि मुख्यमन्त्री पर्याप्त प्रभावशाली है, तो मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही मुख्यमन्त्री की इच्छानुसार ही सम्पादित होती है।

19.3.4 विभिन्न विभागों में समन्वय–मुख्यमन्त्री इस बात का प्रयास करता है कि षासन के सभी विभाग एक इकाई के रूप में कार्य करें। यदि मन्त्रिपरिषद के दो या अधिक सदस्यों में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं, तो मुख्यमन्त्री ही उसे दूर कर सामंजस्य स्थापित करता है, क्योंकि आपसी समन्वय के अभाव में प्रषासन को अनेक दुविधाओं का सामना करना पड़ता है जिससे जनहित के कार्यों में अनावश्यक देरी होती है। अन्ततोगत्वा प्रशासन को जन–आक्रोश का सामना करना पड़ता है।

19.3.5 मन्त्रियों को पद से हटाना–यदि मन्त्रियों की गलत नीतियों के कारण सरकार की बदनामी हो रही है, मन्त्री का व्यवहार असंवैधानिक है अथवा मन्त्री व मुख्यमन्त्री के बीच विवाद उत्पन्न हो गया है जिससे मन्त्री मुख्यमन्त्री का विश्वास खो चुका है तो मुख्यमन्त्री मन्त्री का इस्तीफा मांग सकता है। इस्तीफा न देने पर राज्यपाल को कहकर मन्त्री को पद से बर्खास्त करवा सकता है।

विशेष :– 17 मई, 2003 को युवा कवयित्री मधुमिता की हत्या के मामले में चर्चा में आये उत्तरप्रदेश के मुद्रण एवं लेखन राज्यमन्त्री अमरमणि त्रिपाठी को मुख्यमन्त्री मायावती ने बर्खास्त कर दिया।

19.3.6 प्रशासन की धुरी–मुख्यमन्त्री राज्य कार्यपालिका का वास्तविक प्रधान होने के कारण प्रशासन की धुरी है। राज्य प्रशासन द्वारा लिए गये प्रत्येक फैसले में मुख्यमन्त्री की अहम् भूमिका होती है। जनता को उच्च कोटि का प्रशासन उपलब्ध करवाने के लिए वह प्रशासनिक अधिकारियों को समय–समय पर उचित दिशा–निर्देश देता है। इसके अलावा राज्य की प्रशासन व्यवस्था पर सर्वोच्च एवं अन्तिम नियन्त्रण मुख्यमन्त्री का ही होता है। चाहे षान्ति और व्यवस्था का प्रश्न हो, कृषि, सिंचाई, स्वास्थ्य और शिक्षा के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निर्णय लेना हो और चाहे कोई विकास सम्बन्धी प्रश्न हो। अन्तिम निर्णय मुख्यमन्त्री पर ही निर्भर करता है।

19.3.7 नीति निर्धारक–राज्य स्तर पर बनने वाली प्रत्येक नीति एवं कानून में मुख्यमन्त्री की निर्णायक भूमिका होती है। किसी प्रकार का कानून बनाना या नहीं बनाना? या क्या नीति बनाये, जिससे अधिक से अधिक जन समर्थन प्राप्त कर सके? आदि के बारे में फैसला मुख्यमन्त्री ही लेता है।

19.3.8 विधानसभा में बहुमत दल का नेता–मुख्यमन्त्री विधानसभा में बहुमत दल का नेता होता है। क्योंकि इसी के आधार पर वह अपने पद पर बना रहता है। इस कारण मुख्यमन्त्री विधानसभा की कार्यवाही संचालन करवाने में स्पीकर का सहयोग करता है। सदन में उसके द्वारा दिया गया प्रत्येक वक्तव्य आधिकारिक माना जाता है। सदन द्वारा पूछे गये प्रश्न का यदि कोई मन्त्री सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे पाता है तो मुख्यमन्त्री उचित हस्तक्षेप कर उत्तर को स्पष्ट करने की कोशिश करता है।

19.3.9 पार्टी का प्रमुख नेता–मुख्यमन्त्री अपने राजनीतिक दल का प्रमुख नेता होता है। प्रायः मुख्यमन्त्री स्वयं पार्टी की राज्य इकाई का अध्यक्ष होता है। पार्टी द्वारा लिये जाने वाले नीतिगत फैसलों में मुख्यमन्त्री की मुख्य भूमिका होती है। वह सत्ता एवं संगठन के बीच तालमेल बनाये रखने का प्रयास करता है। पिछले कुछ समय से राजनीति में जो बदलाव आये हैं, उन्होंने इस पद की गरिमा को और अधिक बढ़ा दिया है। आज विधानसभा चुनाव से पूर्व प्रमुख राजनीतिक दल अपने सम्भावित मुख्यमन्त्री पद के उम्मीदवार की घोषणा कर देते हैं और चुनाव भी उसी के नेतृत्त्व में लड़ा जाता है। मतदाता अपने मताधिकार का प्रयोग भी इसी आधार पर करता है। इस प्रकार पार्टी की चुनावी नैय्या पार लगाने वाला मुख्यमन्त्री ही होता है। सत्तारूढ़ मुख्यमन्त्री चुनावों से पूर्व लोक लुभावने फैसले लेता है, ताकि आगामी चुनाव में उसकी पार्टी सत्ता में आये। चुनावों में पार्टी के टिकटों के बंटवारे में मुख्यमन्त्री की अहम् भूमिका होती है तथा पार्टी के चुनाव प्रचार की कमान उसी के हाथों में होती है।

19.3.10 राज्य का प्रतिनिधित्व करना–मुख्यमन्त्री राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले विभिन्न सम्मेलनों एवं बैठकों में राज्य का प्रतिनिधित्व करता है और राज्य के पक्ष को केन्द्र सरकार के सम्मुख प्रबलता के साथ रखता है। समय–समय पर केन्द्र द्वारा बुलाये गये मुख्यमन्त्रियों के सम्मेलन, राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठकें आदि इसके उदाहरण हैं। प्रतिवर्ष योजना आयोग के साथ होने वाली बैठकों में मुख्यमन्त्री राज्य की वार्षिक योजना एवं वित्तीय सहायता की स्वीकृति करवाता है।

19.3.11 राज्यपाल और मन्त्रिमण्डल के बीच कड़ी के रूप में–मुख्यमन्त्री समय–समय पर राज्यपाल से मिलकर मन्त्रिमण्डल द्वारा लिए गये महत्त्वपूर्ण फैसलों से राज्यपाल की इच्छा से मन्त्रिमण्डल को अवगत करवाता है। इसके अलावा कोई भी मन्त्री मुख्यमन्त्री की सलाह के बिना राज्यपाल से नहीं मिल सकता। राज्यपाल की नियुक्ति से पूर्व मुख्यमन्त्री की राय ली जाती है।

Jan Nayak Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

19.3.12 विधानसभा को भंग करना–यद्यपि विधानसभा का कार्यकाल संविधान के द्वारा 5 वर्ष तय किया गया है परन्तु यह एक अस्थाई सदन है जिसे राज्यपाल मुख्यमन्त्री की सलाह पर समय से पूर्व भी भंग कर सकता है। इस प्रकार की सलाह देने के लिए मुख्यमन्त्री के पास विधानसभा में बहुमत होना जरूरी है।

19.4 राज्य मन्त्रिपरिषद् का संगठन

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 163 के अनुसार राज्य में राज्यपाल को परामर्ष देने के लिए एक मन्त्रिपरिषद होगी राज्यपाल के स्वविवेक से किये गये कार्यों के अतिरिक्त अन्य शासन सम्बन्धी कार्यों को मन्त्रिपरिषद उसे मन्त्रणा देती है। भारत में संसदीय व्यवस्था होने के कारण राज्य की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रिपरिषद् ही होती है जो मुख्यमन्त्री के नेतृत्व में कार्य करती है तथा राज्य विधानसभा के प्रति सामूहिक उत्तरदायी होती है।

19.4.1 मुख्यमन्त्री की नियुक्ति–मन्त्रिपरिषद् निर्माण की प्रथम सीढ़ी मुख्यमन्त्री की नियुक्ति हैं। संविधान के अनुच्छेद 164 के अनुसार राज्यपाल मुख्यमन्त्री की नियुक्ति करेगा और फिर मुख्यमन्त्री की सलाह से अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति करेगा। सामान्यतया परम्परा के अनुसार राज्यपाल विधानसभा में बहुमतदल के नेता को मुख्यमन्त्री पद पर नियुक्त करता है। विधानसभा में बहुमत न मिलने की स्थिति में राज्यपाल अपने स्वविवेक की शक्ति का प्रयोग करते हुए किसी भी दल के नेता को मुख्यमन्त्री नियुक्त कर निश्चित समय के भीतर विधानसभा में बहुमत सिद्ध करने के निर्देश दे देता है।

19.4.2 मन्त्रियों का चयन–अन्य मन्त्रियों के चयन का विवेकाधिकार मुख्यमन्त्री का ही होता है। वह मन्त्रियों के नाम तथा उनके विभागों की सूची राज्यपाल को सौंप देता है। मन्त्रिपरिषद में कितने सदस्य लिये जायें, यह मुख्यमन्त्री पर निर्भर करता है। आजकल यह देखने में आ रहा है कि मुख्यमन्त्री अपनी सरकार को मजबूत करने और असन्तुष्टों को षान्त करने के लिए विशाल मन्त्रिपरिषद् बनाने पर जोर देते हैं। मन्त्रियों का चयन करते समय मुख्यमन्त्री कुछ मुख्य बातों का ध्यान रखता है। जैसे राज्य के सभी वर्गों, जातियों तथा धर्मों को उचित प्रतिनिधित्व मिले, दल के प्रभावशाली लोगों को शामिल करता है तथा ऐसे व्यक्तियों को भी मन्त्री बनाता है, जो प्रशासनिक योग्यता रखते हैं।

19.4.3 मन्त्रियों की संख्या–मन्त्रिपरिषद् में मन्त्रियों की कितनी संख्या हो यह एक विवादास्पद प्रश्न है। आजकल जिस तेजी से राजनीतिक स्तर पर गिरावट आयी है और विधायक पद–लोलुपता के लिए पार्टी सिद्धान्तों को ताक में रख कर बगावत पर उतर आते हैं जिससे मुख्यमन्त्री को खतरा उत्पन्न हो जाता है तब मुख्यमन्त्री अपने पद को मजबूत करने तथा सम्भावित खतरों से बचने के लिए विशालकाय मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करते हैं। जिससे राजकीय कोष पर अनावश्यक भार बढ़ता है।

विशेष :– अप्रैल 2003 को प्रशासनिक सुधार आयोग ने अपनी रिपोर्ट में मन्त्रिपरिषद् की सदस्यता संख्या निश्चित करने की सलाह दी है और कहा है जहाँ विधानमण्डल के दो सदन हैं तो कुल संख्या के 15 प्रतिशत तथा जहाँ एक सदन है तो कुल सदस्य संख्या के 10 प्रतिशत ही मन्त्री बनने चाहिये।

19.4.4 मन्त्रियों की योग्यताएँ–मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों के लिए यह आवश्यक है कि वे विधानमण्डल के दोनों में से किसी एक सदन (विधानसभा या विधान परिषद्) का सदस्य हो। यदि कोई व्यक्ति इनका सदस्य न होते हुए भी मन्त्री बन जाता है तो उसे 6 माह के भीतर विधानमण्डल की सदस्यता ग्रहण करनी पड़ती है। अन्यथा उसे अपने पद से इस्तीफा देना पड़ेगा।

बिना निर्वाचन दुबारा मन्त्री बनना गैर कानूनी : सर्वोच्च न्यायालय ने 17 अगस्त, 2001 को एक महत्त्वपूर्ण फैसले में व्यवस्था की है कि किसी ऐसे व्यक्ति को फिर से मन्त्री नियुक्त करना संविधान के खिलाफ होगा, जो विधायिका का सदस्य नहीं है और 6 माह के निर्धारित समय में सदन के लिए निर्वाचित नहीं हो सका है।

19.4.5 मन्त्रियों का कार्य–विभाजन–राज्यपाल मुख्यमन्त्री की सलाह से कार्य विभाजन करता है। किस मन्त्री को कौन–सा विभाग दिया जाय, यह तय करने का विशेषाधिकार मुख्यमन्त्री का ही होता है। प्रायः एक प्रमुख विभाग का कार्यभार एक मन्त्री को दिया जाता है।

19.4.6 मन्त्रियों द्वारा षपथ–ग्रहण–पद ग्रहण करने से पूर्व मन्त्रियों को शपथ राज्य का राज्यपाल दिलाता है। प्रत्येक मन्त्री को दो शपथ लेनी पड़ती है। पहली, पद के कर्त्तव्य पालन की तथा दूसरी, गोपनीयता की, क्योंकि यह शपथ संसदीय प्रणाली की प्रमुख विशेषता भी है।

19.4.7 मन्त्रियों की श्रेणियाँ–केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् की भाँति राज्य मन्त्रिपरिषद् की तीन श्रेणियाँ होती है। प्रथम केबिनेट मन्त्री या मन्त्रिमण्डल के सदस्य द्वितीय राज्यमन्त्री, तृतीय उपमन्त्री। केबिनेट के सदस्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, जो सामूहिक रूप से नीति का निर्माण करते हैं। केबिनेट मन्त्री ही अपने विभाग का प्रमुख होता है तथा सभी महत्त्वपूर्ण विभागीय स्तर के फैसले उसी के द्वारा लिए जाते हैं। दूसरे स्तर पर राज्यमन्त्री होते हैं, जो केबिनेट मन्त्री के निर्देशन में काम करते हैं जो इस स्थिति में अपने विभाग के प्रधान हैं। तृतीय स्तर पर उपमन्त्री होते हैं जो अपने से उच्च मन्त्रियों के काम में हाथ बंटाते हैं।

मन्त्रिपरिषद् और मन्त्रिमण्डल (केबिनेट) में अन्तर–

1. मन्त्रि परिषद् में प्रशासनिक पदों पर कार्यरत् सभी श्रेणी के मन्त्री आते हैं। जबकि मन्त्रिमण्डल में केवल केबिनेट मन्त्री (विभागों के प्रधान) आते हैं।
2. मन्त्रिपरिषद् का आकार मन्त्रिमण्डल की तुलना में विस्तृत होता है, जबकि मन्त्रिमण्डल का आकार छोटा होता है।
3. नीति–निर्धारण में मन्त्रिपरिषद् की प्रमुख भूमिका होती है न कि मन्त्रिमण्डल की रैम्जेम्योर के अनुसार मन्त्रिमण्डल मन्त्रिपरिषद् का हृदय है।
4. मन्त्रिमण्डल की महत्त्वपूर्ण स्थिति के कारण इसकी बैठकें नियमित रूप से होती रहती हैं, जबकि मन्त्रिपरिषद् की बैठकें नहीं के बराबर होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University Act)

19.4.8 मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल–मन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल विधान सभा के विश्वास पर निर्भर करता है। जब तक मन्त्रिपरिषद् को विधान सभा का विश्वास (बहुमत का समर्थन) प्राप्त होता है। तब तक वह अपने पद पर बनी रह सकती है। अविश्वास प्रस्ताव पास होने की स्थिति में मन्त्रिपरिषद् को भंग माना जाता है। सामान्य तौर पर मंन्त्रिपरिषद् का कार्यकाल 5 वर्ष होता हैं। इस प्रकार मंन्त्रिपरिषद् के सदस्य सामूहिक रूप से विधान सभा तथा व्यक्तिगत रूप से मुख्यमन्त्री के प्रति उत्तरदायी होते हैं।

19.4.9 सामूहिक उत्तरदायित्व–मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। यदि किसी एक मन्त्री के विरुद्ध प्रस्ताव पारित कर या किसी मन्त्री द्वारा प्रस्तुत विधेयक सदन द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाय तो सारी मन्त्रिपरिषद् को त्याग पत्र देना पड़ता है। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद् के सदस्य एक साथ डूबते हैं और एक साथ रहते हैं अर्थात् सब एक के लिए , एक सबके लिए सिद्धान्त पर टिके रहते हैं।

19.4.10 वेतन भत्ते–संविधान के अनुच्छेद 164 (5) के अनुसार मन्त्रियों के वेतन तथा भत्ते निश्चित् करने का अधिकार राज्य विधान मण्डल को है। जो समय–समय पर प्रस्ताव पारित कर वेतन भत्ते तथा अन्य सुविधायें बढ़ाती रहती है।

19.5 मन्त्रिपरिषद् की ष्शक्तियाँ

संविधान के अनुच्छेद 163 के अनुसार मन्त्रिपरिषद् का कार्य राज्यपाल को सहायता और परामर्श देना बताया गया है, किन्तु वास्तविक स्थिति तो कुछ और है। संविधान द्वारा राज्य की तमाम कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ राज्यपाल को प्रदान की गई है, जिनका व्यवहार में प्रयोगकर्ता मन्त्रिपरिषद् ही है। प्रशासन से सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण फैसले मन्त्रिमण्डल द्वारा लिए जाते है। मुख्यमन्त्री राज्यपाल से मिलकर लिए गये निर्णयों से अवगत करवाता है। राज्य की तमाम कार्यपालिका शक्तियाँ मन्त्रिपरिषद् में ही निवास करती है। मन्त्रिपरिषद् की प्रमुख शक्तियाँ एवं कार्य इस प्रकार हैं –

19.5.1 नीति का निर्धारण–मन्त्रिपरिषद् का सबसे प्रमुख कार्य शासन की नीति का निर्धारण करना है। मन्त्रिपरिषद् द्वारा कृषि, चिकित्सा, स्वास्थ्य , खनिज, गृह, पर्यटक, परिवहन, आदि क्षेत्र में नीति का निर्धारण और उन्हें कार्य रूप में परिणत किया जाता है। शासन की नीति की सफलता या असफलता पर मन्त्रिपरिषद् का भविष्य निर्भर करता है। इसलिए मन्त्रिपरिषद् अपने द्वारा बनाई गई प्रत्येक नीति को ईमानदारी से लागू करने की कोशिश करती है।

19.5.2 व्यवस्थापन सम्बन्धी षक्तियाँ–जिस गति से विधानमण्डल का ह्रास हो रहा है, उसी गति से कानून निर्माण की शक्ति कार्यपालिका में पास चली जा रही है। इस क्षेत्र में प्रदत्त व्यवस्थापन में भी मन्त्रिपरिषद् को मजबूत बनाया गया है। आज विधान मण्डलों में प्रस्तुत किये जाने वाले 90 प्रतिशत विधेयक सरकारी (मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों द्वारा प्रस्तुत) होते हैं। इस कारण विधानमण्डल केवल स्वीकृति लेने वाली मोहर मात्र रह गई है। क्योंकि मन्त्रिपरिषद् का विधानसभा में बहुमत होता है, जो आसानी से विधेयक पास करवा लेते हैं। मन्त्रिपरिषद् के समर्थक विधायक दलीय अनुशासन के साथ बंधे होने के कारण उसका विरोध नहीं कर सकते।

19.5.3 नियुक्ति सम्बन्धी कार्य–संविधान के अनुसार राज्य स्तर पर सभी महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ राज्यपाल द्वारा की जाती है जैसे राज्य लोकसेवा आयोग, अल्पसंख्यक आयोग के अध्यक्ष तथा सदस्यों की नियुक्ति, महाधिवक्ता, विश्वविद्यालयों के कुलपतियों तथा अन्य अधिकारियों की नियुक्ति आदि। व्यवहार में राज्यपाल मन्त्रिपरिषद् की सलाह से यह नियुक्तियाँ करता है। मन्त्रिपरिषद् ही राष्ट्रपति को उच्च न्यायालय में न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में परामर्श देती है।

19.5.4 विधानमण्डल में षासन का प्रतिनिधित्व–विधानमण्डल की बैठकों में मन्त्रिगण शासन का प्रतिनिधित्व करते हैं। मन्त्रिगण विधान सभा और विधानमण्डल में उपस्थित होकर सदस्यों के प्रश्नों का उत्तर देते हैं और शासन की नीति का समर्थन करते हैं। इसके अलावा विधानमण्डल का अधिवेशन बुलाना, सत्रावसान करना, कार्यवाही संचालन हेतु नियम बनाना, विधेयक रखना और पास करवाना सभी कार्य परिषद् का ही है।

19.5.5 बजट तैयार करवाना–राज्य का वार्षिक बजट वित्तीय वर्ष के आरम्भ होने से पूर्व वित्तमन्त्री द्वारा विधानसभा में प्रस्तुत किया जाता है। लेकिन यह बजट मन्त्रिपरिषद् द्वारा निश्चित् की गई नीति के आधार पर ही तैयार किया जाता है। बजट को पारित करने का उत्तरदायित्व भी मन्त्रिपरिषद् का ही होता है। विधानसभा में बजट पारित न होने का अर्थ यह है कि मन्त्रिपरिषद् विधानसभा में अपने विश्वास का मत खो चुकी है।

19.5.6 अन्य कार्य–उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त राज्य मन्त्रिपरिषद् अन्य अनेक कार्य करती हैं, जैसे –

1. संसद द्वारा पारित संविधान संशोधनों का राज्य विधानमण्डल से अनुमोदन सुनिश्चित करना।
2. उपाधियों का वितरण करना।
3. जन कल्याण के कार्यक्रमों को लागू करना आदि।

19.6 राज्यपाल और मन्त्रिपरिषद्

भारत में संसदीय व्यवस्था होने के कारण राज्यपाल नाममात्र का कार्यपालिका प्रमुख और मन्त्रिपरिषद् वास्तविक कार्यपालिका प्रमुख है। संविधान राज्यपाल को तमाम कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ प्रदान करता है। यदि इसे इसी प्रकार स्वीकार कर लिया जाय तो राज्यपाल वास्तविक प्रधान बन जाता है। मन्त्रिगण राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद पर बने रहेंगे इस उपबन्ध की व्याख्या करते समय डॉ. अम्बेडकर ने कहा मुझे इस बात से तनिक भी सन्देह नहीं कि इसमें संविधान का तात्पर्य यह है कि मन्त्रिमण्डल तब

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तक पदासीन रहेगा, जब तक उसे विधानसभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त है।सामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल मन्त्रियों की सलाह से कार्य करते है। अनुच्छेद 167 के अनुसार मुख्यमन्त्री का यह कर्त्तव्य बनता है कि वह समय–समय पर राज्यपाल से मिलकर मन्त्रिपरिषद् द्वारा लिये गये महत्त्वपूर्ण फैसलों से अवगत करावें। कुछ ऐसी परिस्थितियाँ भी हैं, जहाँ राज्यपाल अपने स्वांविवेक के अनुसार फैसला लेता हैं, जैसे – संवैधानिक तन्त्र विफल होने पर राष्ट्रपति को रिपोर्ट भेजना। ऐसी स्थिति में राज्यपाल मन्त्रिपरिषद् को बर्खास्त कर सकता है। किसी भी दल का विधानसभा में बहुमत न होने पर राज्यपाल अपने स्वविवेक से मुख्यमन्त्री एवं मन्त्रियों का मनोनयन करता है।

19.7 सारांश

इस प्रकार मुख्यमंत्री एवं मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होते हैं। मुख्यमंत्री एवं मन्त्रिपरिषद् अपने पद पर उसी समय तक रह सकते हैं, जब तक उन्हें विधानसभा में बहुमत का विष्वास प्राप्त है। अविष्वास होने पर उन्हें तत्काल त्याग–पत्र देना पड़ता है। विधानसभा में मन्त्रियों से प्रष्न एवं पूरक प्रष्न पूछे जाते हैं, काम रोको प्रस्ताव, निन्दा प्रस्ताव, कटौती प्रस्ताव, स्थगन प्रस्ताव लाये जाते हैं तथा अविष्वास प्रस्ताव पासकर पद से हटाया जा सकता है। व्यवहार में दलीय अनुशासन तथा प्रचण्ड दलीय बहुमत के कारण मन्त्रिपरिषद् का विधान सभा पर नियन्त्रण होता है। क्योंकि विधानसभा में बहुमत दल के समर्थक सदस्य मन्त्रिमण्डल के निर्णय के विरुद्ध कोई भी कदम नहीं उठा सकते, क्योंकि उनके विरुद्ध अनुशासनहीनता की कार्यवाही की जा सकती है। इसके अतिरिक्त मुख्यमन्त्री के साथ मिलकर मन्त्रिमण्डल विधानसभा को समय से पूर्व ही भंग करवा सकती है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रष्न

1. राज्य मन्त्रिपरिषद् के गठन एवं शक्तियों पर प्रकाश डालिये।
2. राज्य प्रशासन में मुख्यमन्त्री की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रष्न

1. राज्य मन्त्रिपरिषद् का गठन किस प्रकार होता है ?
2. राज्यपाल एवं मन्त्रिपरिषद् के सम्बन्ध बताओ।
3. विधानसभा एवं मन्त्रिपरिषद् के बीच क्या सम्बन्ध है ?
4. मन्त्रिपरिषद और मन्त्रिमण्डल में अन्तर स्पष्ट करो।
5. मुख्यमन्त्री चयन की राजनीति को स्पष्ट करो।

अति लघुत्तरात्मक प्रष्न

1. संविधान राज्य की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ किसे प्रदान करता है ?
2. मन्त्रिपरिषद् का प्रावधान संविधान के कौन से अनुच्छेद में है ?
3. मन्त्रिपरिषद् के सदस्य की प्रमुख योग्यता क्या है ?
4. पद ग्रहण करने से पूर्व मुख्यमन्त्री राज्यपाल के समक्ष किस आशय की शपथ लेता है ?
5. मन्त्री सामूहिक रूप से किस के प्रति उत्तरदायी होते हैं ?
6. मन्त्री व्यक्तिगत रूप से किसके प्रति उत्तरदायी होते हैं ?
7. मन्त्रियों को पद और गोपनीयता की षपथ कौन दिलाता है ?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

इकबाल नारायण भारतीय सरकार एवं राजनीति, विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

बी.एल. फड़िया भारतीय शासन एवं राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

बी. भूषण भारतीय शासन एवं राजनीति, कपूर पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

एस.एस. जैन भारतीय संविधान, शासन और राजनीतिक महत्त्वपूर्ण वर्ष चेतना प्रकाशनय जयपुर।

डी.डी. बसु भारत का संविधान, वाधवा प्रकाशन, मेरठ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–20 : भारत में संविधान संशोधन

संरचना

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया

- 20.2.1 संवैधानिक संशोधन केवल संसद के साधारण बहुमत से
- 20.2.2 संवैधानिक संशोधन हेतु विशिष्ट प्रावधान
- 20.2.3 संसद का विशेष बहुमत

20.3 संविधान संशोधन प्रक्रिया की विशेषताएं

- 20.3.1 दोनों सदनों को बराबरी का दर्जा
- 20.3.2 राज्यों की भूमिका
- 20.3.3 राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति
- 20.3.4 राज्य विधानमण्डलों द्वारा प्रस्तावित नहीं
- 20.3.5 राष्ट्रपति को वीटो पॉवर नहीं
- 20.3.6 संघीय व्यवस्था के अनुकूल
- 20.3.7 मध्यमार्ग पर बल
- 20.3.8 जनमत संग्रह का अभाव
- 20.3.9 संसद की संवैधानिक संशोधन की शक्ति असीमित नहीं

20.4 संशोधन प्रणाली के दोष

- 20.4.1 राज्य विधानमण्डलों से पुष्टि के लिए समय सीमा तय नहीं
- 20.4.2 दोनों सदनों में मतभेद दूर करने की व्यवस्था नहीं
- 20.4.3 राज्य विधानमण्डल के पास पहल की शक्ति नहीं
- 20.4.4 जनमत संग्रह का अभाव
- 20.4.5 अन्धाधुन्ध क्रम से संशोधन
- 20.4.6 राष्ट्रपति की स्वीकृति व्यर्थ

20.5 संसद की संविधान में संशोधन की क्षमता पर विवाद और समाधान

20.6 संविधान समीक्षा की बढ़ती मांग

20.7 सारांश

20.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत भारत में संविधान संशोधन प्रक्रिया का उल्लेख किया गाय है। इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप–

- संशोधन प्रक्रिया में दोनों सदन की भूमिका जान सकेंगे,
- संवैधानिक संशोधन के विशिष्ट प्रावधानों को समझ सकेंगे,
- संविधान संशोधन का समीक्षात्मक अध्ययन कर सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

..... इस (संविधान) सभा ने संविधान संशोधन के लोगों के अधिकार को सम्मान करते हुए न केवल इस संविधान को परिपूर्ण और त्रुटिहीन बनाने से परहेज किया है ..... बल्कि इसके लिए सबसे सहज प्रक्रिया भी मुहैया कराई है। – डॉ. भीमराव अम्बेडकर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विश्व के प्रत्येक राष्ट्र का अपना एक संविधान होता है, जो केवल कानूनों का संग्रह ही नहीं है, अपितु उस राष्ट्र एवं समाज को भविष्य के लिए पथ प्रदर्शनकर्ता है जिसे आधार मानकर वह राष्ट्र सफलता के उच्च शिखर पर पहुँच सकता है। लेकिन बदलती हुई सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति के अनुसार संविधान में परिवर्तन करना भी आवश्यक हो जाता है। इस बात का इतिहास साक्षी है कि यदि एक व्यक्ति समय, काल एवं परिस्थितियों के अनुसार अपने आप में परिवर्तन नहीं लाता है तो वह काल के थपेड़े खाकर अपना अस्तित्व ही खो सकता है और यह तो एक संविधान है, जिस पर सम्पूर्ण राष्ट्र का ढाँचा टिका हुआ होता है और परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्तन करना निहायत जरूरी है इसीलिए विश्व के सभी संविधानों में संशोधन प्रक्रिया का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। संविधान स्थायी नहीं होता है, यदि ऐसा मान लिया जाय तो संविधान और धर्मशास्त्र में कोई अन्तर नहीं रहेगा। संविधान संशोधन प्रक्रिया राष्ट्र को क्रान्ति से बचाती है क्योंकि व्यवस्था में उचित परिवर्तन न होने पर जन असन्तोष की ज्वाला उठती है जिसकी परिणति क्रान्ति के रूप में होती है।

एक समयावधि के बाद बड़े–बड़े किले एवं भवनों की मरम्मत करवानी पड़ती है, अन्यथा वे खण्डहर में तब्दील हो जाते हैं, ठीक इसी प्रकार आवश्यकतानुसार संविधान में संशोधन जरूरी है। इसे ध्यान में रखते हुए विश्व के प्रत्येक संविधान में संशोधन करने की व्यवस्था कायम की गई है। विश्व के अधिकांश संविधान में संशोधन के लिए दो प्रकार की व्यवस्था अर्थात् लचीला और कठोर पायी जाती है। लचीले से तात्पर्य संविधान में संशोधन संसद के साधारण बहुमत से हो जाना, जैसे– ब्रिटिश संविधान। कठोर से तात्पर्य संविधान में संशोधन के लिए संसद के दो–तिहाई बहुमत के साथ–साथ राज्य विधानमण्डल की स्वीकशति आवष्यक होती है। जैसे – संयुक्त राज्य अमेरिका का संविधान। लॉर्ड मैकाले के अनुसार यदि किसी आदर्श संविधान में संशोधन प्रक्रिया का अभाव हो तो वह संविधान जड़ बन जायेगा। उस राष्ट्र की जनता आगे बढ़ जायेगी, किन्तु संविधान पिछड़ जायेगा। यदि संविधान में सरलता से परिवर्तन नहीं किया जा सका तो क्रान्ति ही प्रगति का अन्तिम उपाय होगी।

हरमन फाइनर के अनुसार अपने निर्माण के दस वर्ष बाद प्रत्येक संविधान पुराना पड़ जाता है। आवश्यकतानुसार यदाकदा परिवर्तन उसे आद्योपान्त (अप–टू–डेट) रखा जा सकता है।

मुनरो का कहना है कि ऐसे संविधान का अनुमान नहीं लगाया जा सकता जिसमें संशोधन विधि का अभाव हो।

20.2 भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 में संशोधन प्रक्रिया का स्पष्ट उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार भारतीय संविधान लचीला और कठोर दोनों ही के लक्षणों से परिपूर्ण है। क्योंकि संविधान निर्माता दोनों में से किसी एक को अपनाकर अति से बचना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने बीच का रास्ता अपनाया। डॉ. अम्बेडकर ने संविधान सभा में आशा व्यक्त की थी कि इस संविधान में नम्यता (लचीला) और अनम्यता (कठोर) की बुराईयाँ नहीं रहेंगी और लचीलापन से संविधान की एक विशेषता जायेगी। प्रो. के.सी. हीयर ने अपनी पुस्तक ‘मॉडर्न कॉन्स्टीट्यूशन में लिखा है कि भारत का संविधान अनम्यता और नम्यता के बीच का सन्तुलित मार्ग ग्रहण करता है।

हमारे संविधान निर्माता कठोर संविधान के दोषों से परिचित थे। वे जानते थे कि यदि संविधान स्थायित्व, स्थिरता एवं दृढ़ता पर आधारित सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था समाज के लिए घातककारी सिद्ध हो सकती है और यदि अधिक लचीला भी बना दिया गया तो संविधान का अपना बुनियादी स्वरूप खो जायेगा। डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में मै अनुभव करता हूँ कि यह संविधान व्यावहारिक है, लचीला है और इसमें षान्तिकाल व युद्धकाल में देश की एकता बनाये रखने की सामर्थ्य है इस प्रकार भारतीय संविधान संशोधन के क्षेत्र में भी निराली विशेषतायें लिये हुए है। संवैधानिक संशोधन की प्रक्रिया का वर्णन संविधान के भाग 20ए अनुच्छेद 368 में किया गया है। इसके अनुसार संशोधन के लिए तीन प्रकार की व्यवस्था अपनायी गई है।

20.2.1 संवैधानिक संशोधन केवल संसद के साधारण बहुमत से–भारतीय संविधान के अधिकांश भाग में संशोधन करने के लिए केवल संसद के साधारण बहुमत की ही आवष्यकता होती है। ऐसे उपबन्ध निम्नलिखित हैं :

1. अनुच्छेद 2, 3 व 4 जो संसद को यह अधिकार दिलाते हैं कि वह नये राज्य बना सकती है और पुराने की सीमा परिवर्तन कर सकती है और तदनुसार प्रथम व चतुर्थ अनुसूची में परिवर्तन कर सके।
2. अनुच्छेद 73 (2) जो संसद की किसी अन्य व्यवस्था होने तक राज्य में शक्तियाँ निहित करता है।
3. अनुच्छेद 100 (3) जिसमें संसद की किसी अन्य व्यवस्था होने तक संसदीय गणपूर्ति का प्रावधान।
4. अनुच्छेद 75, 97, 125, 148, 165 (5) तथा 291 (2) को परिवर्तन करने की अनुमति।
5. अनुच्छेद 105 (3) संसद द्वारा परिभाशित किये जाने वाले विशेषाधिकार की व्यवस्था करता है।
6. अनुच्छेद 106 जो सांसदों के वेतन व भत्तों से सम्बन्धित है।
7. अनुच्छेद 118 (2) संसद के दोनों सदनों द्वारा स्वीकृति किए जाने पर प्रक्रिया से सम्बंधित विधि की व्यवस्था करता है।

उपर्युक्त अनुच्छेद ऐसे हैं जिन में संसद अपने साधारण बहुमत से संशोधन कर सकती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

20.2.2 संवैधानिक संशोधन हेतु विशिष्ट प्रावधान–इस श्रेणी में संविधान के वे उपबन्ध आते हैं, जिनका सम्बन्ध केन्द्र व राज्य दोनों से है। इनके संशोधन के लिए विधेयक को दो चरणों को पार करना होता है। सर्वप्रथम विधेयक संसद के दोनों में से किसी एक सदन में प्रस्तुत किया जाता है। संसद के प्रत्येक सदन द्वारा कुल सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित व मतदान करने वालों के दो तिहाई बहुमत से पारित करना आवश्यक होता है। द्वितीय चरण में जब संसद प्रक्रिया अनुसार पास कर देती है, तब संवैधानिक संशोधन विधेयक को संघ के राज्यों के विधानमण्डल में पेश किया जाता है। जब कम से कम आधे राज्यों के द्वारा स्वीकृति मिल जाती है तब राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के पश्चात् संशोधन प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। संवैधानिक संशोधन की यह प्रक्रिया निम्न उपबन्धों पर लागू होती है।

1. अनुच्छेद 54 – राष्ट्रपति का निर्वाचन।
2. अनुच्छेद 55 – राष्ट्रपति की निर्वाचन प्रणाली।
3. अनुच्छेद 75 – संघ की कार्यपालिका शक्ति की सीमा।
4. अनुच्छेद 162 – संघ के राज्यों की कार्यपालिका शक्ति की सीमा।
5. अनुच्छेद 291 – केन्द्रशासित क्षेत्रों के लिए उच्च न्यायालय।
6. भाग 5 का अध्याय 4 – संघ की न्यायापालिका।
7. भाग 6 का अध्याय 5 – राज्यों के उच्च न्यायालय।
8. भाग 11 का अध्याय 1 – संघ और राज्यों के विधायी सम्बन्ध।
9. अनुच्छेद 368 – संवैधानिक संशोधन की प्रक्रिया।

20.2.3 संसद का विशेष बहुमत–संविधान का कुछ भाग ऐसा भी है, जिनमें संशोधन करने के लिए संसद के प्रत्येक सदन के कुल सदस्यों का बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान करने वालों के दो–तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है।

20.3 संविधान संशोधन प्रक्रिया की विशेषताएँ

भारत में संवैधानिक संशोधन प्रक्रिया की कतिपय निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

20.3.1 दोनों सदनों को बराबरी का दर्जा–भारतीय संविधान द्वारा संशोधन प्रक्रिया के लिए दोनों सदनों को बराबरी का दर्जा दिया गया है। जिसके अनुसार संवैधानिक संशोधन विधेयक दोनों में से किसी एक सदन में पहले प्रस्तुत किया जा सकता है। जब तक दोनों सदन अपने बहुमत से पास नहीं कर देते हैं तब तक संशोधन प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो सकती। यदि किसी संशोधन को लेकर मतभेद उत्पन्न हो जाय तो उस विधेयक को वहीं निरस्त कर दिया जाता है।

20.3.2 राज्यों की भूमिका–जिन उपबन्धों का सम्बन्ध संघ और राज्य दोनों से हों, ऐसे उपबन्धों में संशोधन करने के लिए संसद के दो सदनों के कुल सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित और मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत के साथ–साथ आधे राज्यों के विधानमण्डल के अनुसमर्थन की आवश्यकता होती है। इसके बिना संशोधन प्रक्रिया पूर्ण नहीं हो सकती है।

20.3.3 राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति–भारतीय संविधान में कुछ ऐसे भाग हैं, जिनमें संवैधानिक संशोधन करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति लेना आवश्यक होता है। जैसे राज्य पुनर्गठन से सम्बद्ध संवैधानिक संशोधन विधेयक आदि।

20.3.4 राज्य विधानमण्डल द्वारा प्रस्तावित नहीं–भारतीय संवैधानिक संशोधन प्रक्रिया के अनुसार इसकी पहल करने का अधिकार केवल संसद को प्राप्त है राज्य विधानमण्डल को नहीं। अर्थात् संवैधानिक संशोधन विधेयक पहले संसद में ही पेश किये जाते हैं और राज्य विधानमण्डल चाहते हुए भी पहले प्रस्तावित नहीं कर सकता।

20.3.5 राष्ट्रपति को वीटो पॉवर नहीं–भारत का राष्ट्रपति केवल संसद या संसद तथा राज्य विधानमण्डल द्वारा स्वीकृत संवैधानिक संशोधन विधेयक पर विशेषाधिकार का प्रयोग कर रद्द नहीं कर सकता। जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति करता है। ऐसा 24वें संवैधानिक संशोधन द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है।

20.3.6 संघीय व्यवस्था के अनुकूल–संशोधन प्रक्रिया का निर्धारण करते समय संघात्मक व्यवस्था की सुदृढ़ता को ध्यान में रखा गया है, संशोधन प्रक्रिया ऐसी रखी गई है जिसमें संघीय इकाईयों को असन्तोष न हो। संघात्मक व्यवस्था से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण अनुच्छेदों में संशोधन करने के लिए राज्य विधानमण्डल की स्वीकृति का प्रावधान रख कर संविधान निर्माताओं ने राष्ट्रीय एकता और अखण्डता बनाये रखने के भरसक प्रयास किये हैं।

20.3.7 मध्य मार्ग पर बल–भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया में अत्यधिक लचीला और अत्यधिक कठोर की अतियों से दूर मध्य मार्ग को अपनाया गया है इसी कारण संविधान संशोधन में संशोधन के लिए दोनों प्रक्रिया विद्यमान है। एम.वी. पायली का मानना है कि ऐसा कोई संविधान नहीं है जो इस प्रकार का नम्य तथा अनम्य , दोनों प्रकार की संशोधन प्रक्रिया का प्रयोग करें। यह विशेषता केवल भारतीय संविधान में ही है।

20.3.8 जनमत संग्रह का अभाव–भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया में जनमत संग्रह का अभाव है। ऐसा कोई भी उपबन्धन विद्यमान नहीं है, जिसमें संशोधन करने के लिए जनमत संग्रह की आवश्कता पड़े।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

20.3.9 संसद की संवैधानिक संशोधन की शक्ति असीमित नहीं–भारत में यद्यपि संविधान संशोधन करने में संसद को महत्त्वपूर्ण षक्तियाँ प्राप्त है लेकिन उसकी शक्तियाँ असीमित नहीं है।

केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य के विवाद में उच्चतम न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि संसद संविधान में संशोधन तो कर सकती है परन्तु संविधान की मूल धारणा या स्वरूप के साथ छेड़छाड़ नहीं कर सकती। उच्चतम न्यायालय का यह निर्णय संसद की असीमित शक्तियों को नियन्त्रित करता है।

20.4 संशोधन प्रक्रिया के दोष

भारत के संविधान निर्माता संशोधन के लिए एक आदर्श पद्धति अपनाना चाहते थे, लेकिन जो प्रक्रिया अपनायी गई, वह अस्पष्ट तथा त्रुटियों से युक्त है। जो इस प्रकार है–

20.4.1 राज्य विधानमण्डलों से पुष्टि के लिए समय सीमा तय नहीं–यद्यपि संशोधन पद्धति की कुछ अस्पष्टताएँ 24वें संवैधानिक संशोधन द्वारा दूर कर दी गई हैं, लेकिन अब भी कुछ अस्पष्टताएँ षेश हैं। संविधान यह निर्धारित नहीं करता कि द्वितीय वर्ग से सम्बन्धित संशोधन विधेयक संसद की स्वीकृति के बाद राज्य विधानमण्डल कितने समय में स्वीकृत या अस्वीकृत करेगा। इससे विधेयक में अनावश्यक देरी होती है।

20.4.2 दोनों सदनों में मतभेद दूर करने की व्यवस्था नहीं–यदि साधारण विधेयक पर दोनों सदनों के बीच मतभेद उत्पन्न हो जाय तो राष्ट्रपति दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुला सकता है। लेकिन जब संवैधानिक संशोधन विधयेक पर मतभेद उत्पन्न होने की स्थिति में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। इसके कारण राज्य सभा अनेक बार बेवजह देरी कर देती है। राज्यसभा ने अनेक बार संशोधन विधेयकों को अस्वीकश्त कर लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल व्यवहार किया है। जैसे 1970 में राजाओं के प्रिवीपर्स उन्मूलन विधेयक, 1978 में 44वें संवैधानिक संशोधन की पाँच धाराओं को रद्द करना तथा 1989 में पंचायत से सम्बंधित 64वां संवैधानिक संशोधन विधेयक अस्वीकृत करना, आदि।

20.4.3 राज्य विधानमण्डल के पास पहल की शक्ति नहीं–संघात्मक शासन व्यवस्था में सामान्यतया राज्य विधानमण्डलों को भी संविधान में संशोधन पहल करने का अधिकार होता है। लेकिन भारत में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। इसके अलावा सभी संविधान संशोधन विधेयक पर राज्य विधान मण्डल की स्वीकृति लेना आवश्यक नहीं होता। इस तरह यह व्यवस्था भी भारतीय संविधान को एकात्मकता की ओर ले जाती है।

20.4.4 जनमत संग्रह का अभाव–लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था में शासन की अन्तिम शक्ति जनता में ही निहित होती है। अतः संविधान के किसी भी भाग में संशोधन करने के लिए जनमत संग्रह की व्यवस्था होनी चाहिये, ताकि सत्तारूढ़ दल अपनी मनमर्जी न कर सके। लेकिन भारतीय संविधान में संशोधन के सम्बन्ध में जनमत संग्रह का कोई प्रावधान नहीं है।

20.4.5 अन्धाधुन्ध क्रम से संशोधन–आलोचकों का तर्क है कि संविधान द्वारा जो संशोधन की प्रक्रिया अपनायी गई है उससे अन्धाधुन्ध क्रम से संशोधनों को प्रोत्साहन मिला है और केवल 53 वर्षीय संवैधानिक इतिहास में 89 बार संशोधन किये जा चुके हैं। इससे भारतीय संविधान का मूल स्वरूप काफी प्रभावित हो रहा है।

20.4.6 राष्ट्रपति की स्वीकृति व्यर्थ–आलोचकों की यह मान्यता है कि जब जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली संसद और विधान मण्डल संविधान संशोधन विधेयक को पास कर देते हैं तो फिर राष्ट्रपति की स्वीकृति की अनिवार्यता का प्रावधान व्यर्थ ही है।

20.5 संसद की संविधान में संशोधन की क्षमता पर विवाद और समाधान

जब भारतीय संविधान को लागू किया गया था, तब यही समझा जाता था कि संसद मौलिक अधिकार सहित संविधान के किसी भाग में संशोधन कर सकती है। 1967 को उच्चतम न्यायालय द्वारा गोकलनाथ विवाद पर जो निर्णय दिया, वह इस व्यवस्था को परिवर्तित करने वाला था। जिसमें स्पष्ट रूप से कहा गया कि संसद मौलिक अधिकारों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकती। अतः परिस्थितियों के अनुसार 24वां संविधान संशोधन कर संसद को यह अधिकार दिया गया कि वह संविधान के किसी भी भाग में संशोधन कर सकती है। इसी बीच 1973 में केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य तथा 1980 में मिनर्वा मिल्स विवाद ने सर्वोच्च न्यायालय में एक महत्त्वपूर्ण फैसला देते हुए कहा कि संसद संविधान के किसी भी भाग में परिवर्तन कर सकती है लेकिन संविधान के मूल ढांचे के साथ छेड़छाड़ नहीं कर सकती। भारतीय संविधान में अब तक 89 संविधान संशोधन हो चुके हैं। पहला संविधान संशोधन 1951 में हुआ था।

20.6 संविधान समीक्षा की बढ़ती मांग

पिछले कुछ समय से विभिन्न मंचों से यह मांग उठ रही है कि भारतीय संविधान की पुनः समीक्षा की जाय। क्योंकि हमें 53 वर्षों में 89 संशोधन कर लिए है। अतः जिससे संविधान का मूल स्वरूप भी प्रभावित हुआ है। इसके अलावा संविधान निर्माताओं ने व्यवहार की अपेक्षा सिद्धान्तों पर अधिक बल दिया। देश का वातावरण एवं परिस्थितियां भी तेजी से बदलती है और इनसे संविधान की अनेक धारायें मेल नहीं खाती। अतः बदलते हुए सामाजिक एवं आर्थिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार संविधान में परिवर्तन करना बहुत ही जरूरी है। 13वीं लोक सभा चुनाव में संविधान समीक्षा का मुद्दा छाया और भारतीय जनता पार्टी ने भारतीय संविधान की भली–भांति समीक्षा करवाने के लिए एक समीक्षा आयोग गठित करने का अपने चुनावी घोषणा पत्र में वादा किया। अतः घोषणा के अनुरूप जब भाजपा और उसका गठबन्धन राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक गठबन्धन सत्ता में आया तब उसने

Jan Vishwa BRAI Institute (Deemed University) Ladnun

13 फरवरी, 2000 को उच्चतम न्यायालय के पूर्व मुख्य न्यायाधीश एम.एन. वेंकटचलैय की अध्यक्षता में एक आयोग का गठन किया, जिसमें 10 अन्य सदस्य हैं। जिसने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह संविधान के मूलभूत ढांचे में छेड़छाड़ किये बिना समीक्षा करेंगे।

20.7 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों के अनुसार संशोधन की पूर्ण सम्भावनाएँ हैं। संसद संविधान में सभी प्रकार के संशोधन करने का अधिकार रखती है, परन्तु उसने भी नियन्त्रण कर संविधान के मूलभूत ढांचे को सुरक्षित रखने का भी प्रयास किया है। समयानुसार संशोधन भी होने चाहिये, ताकि संविधान समाज एवं राष्ट्र की समस्याओं का समाधान करने में सहायक सिद्ध हो सकें। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने ठीक ही कहा था कि जो चीजें अचल और अनमनीय होती हैं वे बहुधा दबाव पड़ने पर टूट जाया करती है। किसी भी जीवन्त और सामाजिक प्रणाली का सार है – नमनीयता और परिस्थिति अनुकूलता।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान की संशोधन प्रणाली का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान की संशोधन प्रक्रिया बताओ।
2. क्या भारतीय संसद संशोधन करने की व्यापक शक्ति रखती है? स्पष्ट कीजिए।
3. संविधान संशोधन का महत्त्व क्या है?

अतिलघुत्तरात्मक

1. भारतीय संविधान में अब तक कितने संशोधन हो चुके हैं?
2. भारतीय संविधान में प्रथम संशोधन कब हुआ?
3. गोकलनाथ विवाद में उच्चतम न्यायालय ने क्या फैसला दिया?
4. केशवानन्द भारती बनाम केरल राज्य के फैसले का क्या महत्त्व है?
5. संविधान समीक्षा आयोग के अध्यक्ष कौन हैं?
6. संविधान संशोधन प्रक्रिया का उल्लेख संविधान के कौन–से अनुच्छेद में है?
7. संविधान संशोधन विधेयक पर दोनों सदनों के बीच मतभेद उत्पन्न होने पर क्या प्रावधान है?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

इकबाल नारायण भारतीय सरकार एवं राजनीति, विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

डी.डी. बसु भारत का संविधान, वाधवा प्रकाशन, मेरठ।

बी.एल. फड़िया भारतीय शासन एवं राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

जे.सी. जौहरी, भारतीय शासन एवं राजनीति, विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

बी.पी. पाण्डेय , भारतीय शासन एवं राजनीति, सरस्वती सदन, दिल्ली।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–21 : चुनाव आयोग

संरचना

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 चुनाव आयोग का संगठन

- 21.2.1 पदाधिकारी
- 21.2.2 कार्यकाल
- 21.2.3 पदच्युति (महाभियोग)
- 21.2.4 वेतन–भत्ते एवं सेवा शर्तें
- 21.2.5 चुनाव आयोग : अब बहुसदस्यीय

21.3 चुनाव आयोग के कार्य

- 21.3.1 चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन करना
- 21.3.2 मतदान सूचियाँ बनाना
- 21.3.3 राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना
- 21.3.4 चुनाव चिह्न आवंटित करना
- 21.3.5 चुनावों का संचालन
- 21.3.6 चुनाव कार्यों में तैनात कर्मचारियों के विरुद्ध कार्यवाही
- 21.3.7 चुनाव आचार संहिता लागू करना
- 21.3.8 रेडियो एवं दूरदर्शन पर चुनाव प्रचार का समय आवंटित करना
- 21.3.9 फोटो पहचान पत्र जारी करना
- 21.3.10 प्रशिक्षण देना
- 21.3.11 चुनावी धांधलियों का निपटारा
- 21.3.12 अर्द्ध न्यायिक कार्य
- 21.3.13 चुनाव खर्च की सीमा तय करना
- 21.3.14 आरक्षित चुनाव क्षेत्रों का निर्धारण
- 21.3.15 मुख्य चुनाव अधिकारी की नियुक्ति करना
- 21.3.16 चुनाव लड़ने या मतदान करने से वंचित करना
- 21.3.17 चुनाव सुधारों की पहल
- 21.3.18 राजनीतिक दलों को निर्देश देना

21.4 सारांश

21.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत लोकतांत्रिक व्यवस्था में चुनाव आयोग का गठन एवं कार्यों का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप–

- चुनाव आयोग की लोकतांत्रिक व्यवस्था में स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष भूमिका समझ सकेंगे।
- चुनाव आयोग के कार्यों की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- क्या चुनाव आयोग लोकतन्त्र की सुरक्षा के पहरेदार रूप में कार्य कर रहा है? मूल्यांकन कर सकेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

21.1 प्रस्तावना

लोकतान्त्रिक व्यवस्था की सफलता की प्रथम शर्त स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव आयोग है। लोकतन्त्र के लिए यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि चुनाव होते हैं, अपितु महत्त्वपूर्ण यह है कि चुनाव किस प्रक्रिया के अनुसार होते हैं, चुनाव कितने निष्पक्ष होते हैं और आम जनता का चुनाव संचालन करने वाले अभिकरणों में कितना विश्वास है? यदि चुनाव व्यवस्था स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष नहीं होगी, तो लोकतन्त्र तथा राजतन्त्र या तानाशाही का भेद समाप्त हो जायेगा और चुनाव एक मखौल (मजाक) बन कर रह जाएंगे। क्योंकि जन–प्रतिनिधियों का चुनाव जन इच्छा की बजाय धन इच्छा या बल इच्छा से होगा। अनातोगत्वा जनता का व्यवस्था से विश्वास उठ जायेगा, जिससे अव्यवस्था एवं अराजकता का दौर शुरु हो जायेगा।

भारतीय संविधान लोकतान्त्रिक व्यवस्था का श्री गणेश करता है जिससे षासन की अन्तिम शक्ति जनता में निहित होती है। जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनकर संसद, विधानमण्डल तथा स्थानीय निकायों में भेजती है, जो जनहित के अनुसार नीति का निर्धारण करते हैं। इस तरह भारत में चुनाव होते रहते हैं।

भारत के संविधान निर्माता चुनावों के महत्त्व से भली–भांति परिचित थे। इसीलिए भारतीय संविधान में एक ऐसे संवैधानिक आयोग की स्थापना की है, जिसका प्रमुख कार्य राष्ट्रपति, उप राष्ट्रपति, लोकसभा, राज्यसभा, विधान सभाओं, विधान परिषदों के सदस्यों तथा स्थानीय निकायों के प्रतिनिधियों का चुनाव करवाना है। संविधान द्वारा ऐसी व्यवस्था की गई है, जिसके अनुसार चुनाव आयोग सरकार के नियन्त्रण से मुक्त रह कर बिना दबाव के अपने दायित्व का निर्वहन कर सकें। चुनाव तन्त्र के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए संविधान निर्मात्री सभा में पं. हृदयनाथ कुंजरू ने कहा था अगर निर्वाचन तन्त्र दोषपूर्ण है या निष्पक्ष नहीं है या गैर ईमानदार लोगों द्वारा संचालित होता है तो लोकतन्त्र अपने उद्‌भव काल में ही डगमगा जायेगा। स्वतन्त्र निर्वाचन तन्त्र के महत्त्व को स्वीकार करते हुए चुनाव आयोग का विवेचन स्पष्ट रूप से किया गया।

भारत में चुनाव आयोग के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि यह विश्व के सबसे बड़े लोकतान्त्रिक राष्ट्र की चुनाव व्यवस्था का संचालन करता है और यह दुनिया का 16वां गरीब राष्ट्र है और अन्य 15 राष्ट्रों में तो लोकतन्त्र ही नहीं। इस चुनाव आयोग ने अब तक 13 आम चुनावों तथा अनेकों अन्य चुनावों का संचालन सफलतापूर्वक कर विश्व में अपनी पहचान कायम की है। पंजाब एवं जम्मू–कश्मीर आतंकवाद से ग्रस्त प्रान्तों में विधानसभा चुनाव सफलता पूर्वक सम्पन्न करवाकर यह सिद्ध किया है कि वह अपने उद्देश्य से पीछे नहीं हटता है।

पिछले दिनों गुजरात में विधानसभा चुनाव करवाने को लेकर चुनाव आयोग एवं गुजरात सरकार के बीच विवाद उत्पन्न हो गया, क्योंकि गुजरात सरकार अक्टूबर 2002 में चुनाव करवाना चाहती थी, जबकि आयोग का मत था कि गुजरात में हुए व्यापक साम्प्रदायिक दंगों के कारण यहाँ चुनाव करवाने जैसी परिस्थितियां नहीं है। अतः अक्टूबर 2002 में चुनाव नहीं हो सकते। अतः सर्वोच्च न्यायालय ने अपने महत्त्वपूर्ण फैसले में अनुच्छेद 324 का हवाला देते हुए कहा कि चुनाव करवाने या न करवाने का दायित्त्व चुनाव आयोग का है। इस तरह आयोग के महत्त्व को स्वीकार किया गया।

21.2 चुनाव आयोग का संगठन

21.2.1 पदाधिकारी–चुनाव आयोग में एक मुख्य चुनाव आयुक्त तथा दो अन्य चुनाव आयुक्त होते हैं। जिन्हें राष्ट्रपति समय–समय पर मनोनीत करता है। इसके लिए राष्ट्रपति संसद द्वारा निर्मित कानूनों का पूरा ध्यान रखता है।

लोकसभा, विधानसभा तथा विधान परिषद् के चुनाव से पहले राष्ट्रपति चुनाव आयोग से परामर्ष के आधार पर आयोग की सहायता के लिए उतने प्रादेशिक आयुक्तों की नियुक्ति कर सकता है जितने वह आवश्यक समझे।

21.2.2 कार्यकाल–पहले निर्वाचन आयोग के सदस्य एक निश्चित् अवधि के लिए नियुक्त किये जाते थे तथा उसके पूरा होते ही सदस्यों का कार्यकाल स्वतः समाप्त हो जाता था, किन्तु वर्तमान् में मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों का कार्यकाल 6 वर्ष या 65 वर्ष तक आयु जो भी पहले हो तय किया गया है। मुख्य चुनाव आयुक्त चाहे तो समय से पूर्व ही त्यागपत्र दे सकता है।

21.2.3 पदच्युति (महाभियोग)–चुनाव आयोग को कार्यपालिका के नियन्त्रण से मुक्त रखा गया है ताकि वह बिना किसी दबाव के कार्य कर सके यद्यपि मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति प्रधानमन्त्री की सलाह से राष्ट्रपति करता है परन्तु वह अपनी इच्छ नुसार हटा नहीं सकता है। अनुच्छेद 324 (5) के अनुसार केवल कदाचार या असमर्थता के आधार पर महाभियोग द्वारा हटाया जा सकता है। जो संसद को दोनों सदनों द्वारा पृथक–पृथक कुल सदस्यों के बहुमत तथा उपस्थित एवं मतदान में भाग लेने वाले सदस्यों के दो–तिहाई बहुमत से पास हो जाय और राष्ट्रपति की स्वीकृति प्रदान कर दे।

21.2.4 वेतन–भत्ते एवं सेवा शर्तें–संसद द्वारा बनाये गये कानूनों के तहत चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों को उच्चतम न्यायालयों के बराबर 30,000 रुपये मासिक वेतन मिलता है। पद पर रहते हुए इनके वेतन में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

21.2.5 चुनाव आयोग : बहु–सदस्यीय–चुनाव आयोग को एक सदस्यीय बनाया जाय या बहु–सदस्यीय; यह एक विवादास्पद मुद्दा है। चुनाव आयोग 1951 से लेकर 1989 (अक्टूबर 1989 से दिसम्बर 1989 को छोड़कर एक सदस्यीय रहा, केवल तीन माह की अवधि में तीन सदस्यीय रहा। इसके अतिरिक्त आयोग एक सदस्यीय रूप में देखा गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अक्टूबर 1993 को राष्ट्रपति द्वारा एक अध्यादेश जारी कर चुनाव आयोग को तीन सदस्यीय आयोगश बनाया गया। इसी के आधार पर जी.वी.जी. कृष्णमूर्ति और एम.एस. गिल को नया सदस्य नियुक्त किया गया, जिन्हें मुख्य चुनाव आयुक्त टी.एन. शेषन के समान ही शक्तियाँ एवं स्थिति प्रदान की गई और यह भी स्पष्ट किया गया कि यदि किसी मामले को लेकर आयोग में मतभेद उत्पन्न हो जाते हैं तो उसका फैसला बहुमत के आधार पर लिया जायेगा और दिसम्बर 1993 को संसद में पास कर दिया। जिससे तीन सदस्यीय आयोग को कानूनी दर्जा मिल सका।

श्री शेषन ने इसके विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में याचिका दायर कर दी। उच्चतन न्यायालय ने 1995 को दिये अपने फैसले में बहु–सदस्यीय आयोग को वैध माना और इस बात पर बल दिया कि बहु–सदस्यीय आयोग को सामूहिक बुद्धिमता के आधार पर कार्य करना होगा। वर्तमान् में भी तीन सदस्यीय आयोग कार्यरत् है तथा मुख्य चुनाव आयुक्त श्री एल.एम. लिंगदोह है।

21.3 चुनाव आयोग के कार्य

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 324 में चुनाव आयोग की शक्तियों एवं कार्यों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। जिसके अनुसार सभी महत्त्वपूर्ण चुनावों का आयोजन, निरीक्षण, निर्देश तथा नियन्त्रण क्षेत्र में चुनाव करवाने योग्य परिस्थितियाँ है या नहीं है, इसका अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार चुनाव आयोग को ही है। आयोग द्वारा प्रमाण पत्र जारी किये जाने पर ही आगे की कार्यवाही सम्पन्न हो सकती है। चुनाव कार्यक्रम की घोषणा के बावजूद भी चुनाव आयोग आवष्यकता पड़ने पर चुनाव रद्द कर सकता है। इस तरह चुनाव क्षेत्रों के परिसीमन से लेकर परिणामों की घोषणा तक का दायित्व आयोग का है।

21.3.1 चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन करना–चुनाव आयोग का सर्वप्रथम कार्य चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन करना होता है। चुनाव क्षेत्रों के परिसीमन की व्यवस्था संसद द्वारा पारित परिसीमन आयोग अधिनियम 1952 के अनुसार है। इसमें यह प्रावधान है कि प्रति 10 वर्ष बाद होने वाली जनगणना के बाद परिसीमन आयोग चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन करेगा। परिसीमन आयोग का अध्यक्ष मुख्य चुनाव आयुक्त होता है तथा इसके अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय के दो अवकाष प्राप्त न्यायाधीश होते हैं। आयोग की सहायता के लिए प्रत्येक राज्य से 5 से 7 तक सदस्य भी होते हैं। जिन्हें सम्बद्ध राज्य के लोकसभा या राज्य विधानसभा के निर्वाचित सदस्यों में से चुना जाता है। आयोग आम जनता से विचार विमर्श करने के बाद अन्तिम रूप से आदेष जारी करता है, जिन्हें न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती।

21.3.2 मतदान सूचियाँ बनाना–चुनाव आयोग द्वारा लोकसभा व राज्य विधानसभा चुनाव से पूर्व मतदान सूचियाँ तैयार की जाती है। जिसका प्रमुख उद्देश्य योग्य मतदाताओं के नाम मतदान सूचियों में जोड़ना है।

21.3.3 राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना–चुनाव आयोग का एक महत्त्वपूर्ण कार्य विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना है। इसके सम्बन्ध में समय–समय पर मापदण्ड तय किये जाते रहे हैं। 2000 ई. में संशोधित प्रावधान के अनुसार किसी भी राजनीतिक दल को राष्ट्रीय दल के रूप में तभी मान्यता प्रदान करता है, जब व लोकसभा के आम चुनाव या राज्य विधान सभा चुनाव में किन्ही चार अथवा अधिक राज्यों में कुल प्रयुक्त वैध मतों का कम से कम 6 प्रतिशत मत प्राप्त कर लें बशर्ते है कि ये लोकसभा स्थान कम से कम तीन राज्यों से प्राप्त किये गये हों।

विषेष :– 1998 में चुनाव आयोग ने राष्ट्रीय दल के रूप में समता पार्टी की मान्यता रद्द की है और बहुजन समाजवादी पार्टी को नये राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता प्रदान की है। इसी तरह चुनाव आयोग द्वारा की गई व्यवस्था के अनुसार क्षेत्रीय दल के रूप में मान्यता के लिए निम्न तीन में से एक बात आवश्यक है –

1. वह दल राज्य में कम से कम 6 प्रतिशत मत प्राप्त करे या
2. राज्य में लोकसभा के लिए निर्धारित स्थानों में से कम से कम 4 प्रतिशत स्थान प्राप्त करे (कम से कम एक स्थान प्राप्त होना आवश्यक है)
3. राज्य विधान सभा के लिए निर्धारित स्थानों में प्रति 30 पर कम से कम एक स्थान प्राप्त किया जाय।

21.3.4 चुनाव चिह्न आवंटित करना–भारत में मतदाताओं के अधिक संख्या में अशिक्षित होने के कारण मतदान के समय दिये जाने वाले मत पत्र पर उम्मीदवारों के नाम के साथ–साथ पार्टी का चुनाव चिन्ह भी दिया होता है। यह चुनाव चिन्ह राजनीतिक दलों को चुनाव आयोग द्वारा आवंटित किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक चुनाव चिन्ह को लेकर राजनीतिक दलों में मतभेद उत्पन्न हो जाय तो उसका फैसला चुनाव आयोग ही करता है। इस सम्बन्ध में आयोग के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील की जा सकती है।

21.3.5 चुनावों का संचालन–चुनाव आयोग का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य चुनावें की समस्त व्यवस्थाओं का संचालन करना है। चुनाव आयोग राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, लोकसभा, राज्यसभा, राज्य विधानसभा व राज्य विधान परिषद् के चुनाव से सम्बद्ध सभी व्यवस्था करता है। इसके लिए आयोग चुनावों की अधिसूचना जारी करना, चुनाव कार्यक्रम की घोषणा करना और निर्वाचन से सम्बंधित सभी कार्य सम्पन्न करवाता है। यदि चुनाव के दौरान अनियमितताओं की शिकायतें मिलती है तो आयोग उनकी जाँच कर शीघ्रतिशीघ्र कुछ न कुछ कार्यवाही करता है। मतों की गणना के पश्चात् विजयी उम्मीदवार की घोषणा भी आयोग द्वारा की जाती है।

21.3.6 चुनाव कार्यों में तैनात कर्मचारियों के विरुद्ध कार्यवाही–चुनाव कार्यों के लिए तैनात किये जाने वाले कर्मचारी आयोग के न होकर बल्कि केन्द्र व राज्य के द्वारा उललब्ध करवाये जाते हैं। यदि वे अपने दायित्त्व निर्वाह में किसी भी तरह की लापरवाही करते हैं तो आयोग उनके विरुद्ध आवश्यकतानुसार कार्यवाही कर सकता है। पहले आयोग को यह शक्ति प्रदान नहीं थी। हाल ही में केन्द्र सरकार द्वारा प्रदान की गई है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

21.3.7 चुनाव आचार संहिता लागू करना–लोकतन्त्र के लिए केवल चुनाव होना ही कोई महत्त्व नहीं रखता, अपितु महत्त्व इस बात से है कि चुनाव स्वतन्त्र व निष्पक्ष तरीके से सम्पन्न हो। चुनावों से पूर्व एवं चुनावों के दौरान सत्तारूढ़ दल या अन्य राजनीतिक दल अपने व्यवहार को नियन्त्रित रखे। सत्तारूढ़ दल अधिसूचना जारी होने के बाद कल्याण की घोषणा करने से बचे तथा चुनाव कार्यों से जुड़े अधिकारियों के तबादले न करें। यदि ऐसा पाया जाता है तो आयोग उन्हें रद्द कर सकता है। इसके अलावा राजनीतिक दल सीमा में रहते हुए चुनाव प्रचार करे। भड़काऊ भाषण या समाज में उन्माद फैलाने की कोशिष न करें। आयोग द्वारा निर्धारित आचार संहिता का उल्लंघन किया जाता है तो वह तत्काल कार्यवाही करता है। इसके लिए वह अपने चुनावी पर्यवेक्षकों की नियुक्ति करता है।

21.3.8 रेडियो व दूरदर्षन पर चुनाव प्रचार का समय आवंटित करना–चुनाव आयोग आकाशवाणी व दूरदर्षन पर चुनाव प्रचार के लिए राजनीतिक दलों को सुविधा उपलब्ध करवाता है। इसके साथ–साथ एक राजनीतिक दल कितने समय तक अपनी पार्टी का प्रचार करे, इसे भी वही तय करता है। इसके लिए आयोग पिछले चुनाव में प्राप्त मत या सीटों को आधार मान कर समय आवंटित करता है।

21.3.9 फोटो पहचान पत्र जारी करना–चुनाव आयोग ने चुनावी व्यवस्था में व्याप्त फर्जी मतदान को रोकने के लिए फोटो पहचान पत्रों का निर्माण किया है। इसे शुरु करने का श्रेय भूतपूर्व चुनाव आयुक्त टी.एन. शेषन को जाता है, जिन्होंने इस विशाल कार्यक्रम को अंजाम दिया। आयोग अब इनको अनिवार्य रूप से लागू करने जा रहा है। इसके बिना कोई मतदाता मत नही दे सकता। आयोग प्रत्येक लोकसभा चुनाव तथा विधान सभा चुनाव से पूर्व फोटो पहचान पत्र बनाने के कार्यक्रम शुरु करता है, ताकि कोई मतदाता वंचित न रह जाय।

21.3.10 प्रशिक्षण देना–आयोग को निर्वाचन कार्य के अपने दायित्व को पूरा करने के लिए बड़ी संख्या में कर्मचारियों व अधिकारियों की आवश्यकता होती है। हर चुनाव से पूर्व आयोग इन्हें प्रशिक्षण देता है। इसके अलावा आयोग मतदाताओं को भी प्रशिक्षण देता है।

21.3.11 चुनावी धांधलियों का निपटारा–भारत जैसे विशाल लोकतान्त्रिक राष्ट्र में चुनावी धांधलियाँ होना आम बात है। पिछले कुछ समय से इनमें व्यापक वृद्धि हुई है। फर्जी मतदान, मतदान केन्द्रों पर कब्जा, मतदाताओं को डराना व धमकाना, स्तपेटियों को समाप्त करने का प्रयास, चुनाव के दौरान हिंसा फैलाकर मतदाताओं को मतदान केन्द्र पर आने से रोकना आदि रूप में देखी जा सकती है। यदि आयोग को ऐसी शिकायतें मिलती है तो आयोग तत्काल उचित कार्यवाही कर प्रभावित मतदान केन्द्र पर पुनः मतदान के आदेश दे सकता है या सम्पूर्ण निर्वाचन क्षेत्र का चुनाव भी रद्द कर सकता है।

21.3.12 अर्द्ध न्यायिक कार्य–संविधान के द्वारा आयोग को कुछ अर्द्ध–न्यायिक कार्य भी सौंपे गये हैं जिनमें दो उल्लेखनीय हैं। अनुच्छेद 103 के अन्तर्गत राष्ट्रपति संसद के सदस्यों की अयोग्यताओं के सम्बन्ध में परामर्ष कर सकता है तथा अनुच्छेद 199 के तहत राज्यपाल राज्य विधानमण्डल के सदस्यों की अयोग्यताओं के सम्बन्ध में परामर्ष कर सकता है। लेकिन संविधान या जन–प्रतिनिधित्व अधिनियम में इस कार्य को करने की कोई प्रक्रिया तय नहीं की गई है और इसीलिए आयोग को यह कार्य करने में कठिनाईयां आती है।

21.3.13 चुनाव खर्च की सीमा तय करना–चुनाव आयोग ने चुनाव सुधार के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय प्रयास किये हैं। चुनावों में धन के बढ़ते महत्त्व एवं काले धन के प्रयोग को रोकने के लिए उम्मीदवारों की खर्च की सीमा तय कर दी गई है। नवीनतम दिशा निर्देशों के अनुसार लोकसभा चुनाव में उम्मीदवार की अधिकतम खर्च सीमा 15 लाख रुपये, विधानसभा उम्मीदवार की 6 लाख रुपये खर्च की सीमा तय की गई है। इसके अलावा चुनाव समाप्त होने के निश्चित् समय के बाद प्रत्येक उम्मीदवारों को अपने चुनाव खर्च का विवरण आयोग के समक्ष पेश करना अनिवार्य है।

21.3.14 आरक्षित चुनाव क्षेत्रों का निर्धारण–निर्वाचन आयोग लोकसभा तथा राज्यों की विधानसभाओं में अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जनजाति के लिए संविधान के तहत् आरक्षित निर्वाचन क्षेत्रों का निर्धारण करता है।

21.3.15 मुख्य चुनाव अधिकारी की नियुक्ति करना–चुनाव आयोग राज्यों में भी चुनाव अधिकारियों की नियुक्ति राज्य सरकार की सिफारिश पर करता है। राज्य सरकार कुछ वरिष्ठ अधिकारियों की सूची चुनाव आयोग को सौंपती है। उनमें से किसी एक को वह इस पद पर नियुक्त करती है। पंचायती राज संस्थाओं से सम्बद्ध 73वां संविधान संशोधन भी इस पद का प्रावधान करता है।

21.3.16 चुनाव लड़ने या मतदान करने से वंचित करना–यदि कोई भारत का नागरिक चुनाव आयोग के निर्देशों की अवहेलना करते हुए उन्माद फैलाने का प्रयास करता है और भड़काऊ भाषण देकर सामाजिक सौहार्दपूर्ण वातावरण को धूमिल करने का प्रयास करता है तो आयोग उस नागरिक को चुनाव लड़ने या मतदान के अधिकार से वंचित कर सकती है।

विषेष :– 11 दिसम्बर, 1999 को ऐसे ही आरोपों के आधार पर शिवसेना प्रमुख बाला साहिब ठाकरे को 6 वर्ष तक चुनाव लड़ने एवं मताधिकार से वंचित कर दिया था।

21.3.17 चुनाव सुधारों की पहल–भारतीय चुनाव अनेक दोषों से ग्रस्त है, जिन्के कारण हमारी लोकतान्त्रिक व्यवस्था पर सवालिया निशान लग गया है। अतः चुनाव आयोग अपनी ओर से सुधार की व्यापक पहल कर रहा है। जैसे – राजनीति में बढ़ते अपराध को रोकने के लिए चुनाव आयोग ने संसद से यह अपील की है कि वह ऐसे कानून बनाये, जिसमें प्रत्येक उम्मीदवार अपने नामांकन पत्र के साथ शैक्षणिक, आय तथा अपराध से सम्बन्धित प्रमाण पत्र पेष करे और तभी उसका नामांकन पत्र स्वीकार किया जाय।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

21.3.18 राजनीतिक दलों को निर्देश देना–चुनाव आयोग राजनीतिक दलों को निश्चित समय में अपने संगठनात्मक चुनाव सम्पन्न करवाने के निर्देश दे सकती है और न मानने पर उन दलों की मान्यता समाप्त करने की कार्यवाही भी कर सकती है।

21.4 सारांश

चुनाव आयोग ने अब तक के 53 वर्षीय इतिहास में 13 लोकसभा चुनावों तथा अनेक राज्य विधानसभा के सफलता के साथ चुनाव संचालित करवाये हैं। इस दौरान आयोग को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा लेकिन आयोग ने न केवल मुकाबला किया अपितु लोकतन्त्र की सुरक्षा का पहरेदार सिद्ध हुआ। यदि आयोग को आभास हो गया कि वहाँ चुनावी धांधलियां हुई तो उसने चुनाव को ही रद्द करवा दिया। जैसे 16 फरवरी, 1998 को पटना लोकसभा सीट का करवाया गया। सत्तारूढ़ दल यदि सरकारी तन्त्र का दुरुपयोग करता है तो आयोग ऐसा रोकने के तत्काल निर्देश देता है। 1999 में सम्पन्न 13वें लोकसभा चुनाव में चुनाव आयोग ने अपने रोज–रोज के निर्देशों और आदर्शों से 13वीं लोकसभा के बेजान चुनावों में जान डाल दी है। पूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त एम.एस. गिल के अनुसार निर्वाचन आयोग को सख्त होना ही पड़ेगा, क्योंकि क्षेत्रीय धार्मिक और जातिगत मुद्दे ज्यादा जटिल और मुखर हो उठे हैं।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. चुनाव आयोग के बारे में आप क्या जानते हो ? उसके संगठन पर प्रकाश डालिये।
2. लोकतान्त्रिक व्यवस्था की प्रथम शर्त स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव आयोग है। इस कथन के आधार पर चुनाव आयोग के कार्यों का वर्णन कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. चुनाव आयोग के किन्हीं दो कार्यों का उल्लेख कीजिए।
2. चुनाव आयोग के अर्द्ध न्यायिक कार्य बताओ।
3. चुनाव सुधार के क्षेत्र में चुनाव आयोग की क्या भूमिका है ?
4. चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन करने सम्बंधी चुनाव आयोग के कार्यों को समझाओ।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. चुनाव आयोग का उल्लेख संविधान के कौन से अनुच्छेद में है ?
2. चुनाव आयोग के सदस्यों की नियुक्ति कौन करते है ?
3. चुनाव आयोग का सबसे प्रमुख कार्य क्या है ?
4. मुख्य चुनाव आयुक्त का कार्यकाल कितना है ?
5. मुख्य चुनाव आयुक्त को पद से हटाने की क्या प्रक्रिया है ?
6. मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों का वेतन कितना है ?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. इकबाल नारायण, भारतीय सरकार और राजनीति, विकास पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
2. बी.एल. फड़िया, भारतीय शासन एवं राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।
3. जयनारायण पाण्डेय , भारत का संविधान, सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहाबाद।
4. बी.पी. पाण्डेय , भारतीय शासन एवं राजनीति, सरस्वती सदन, दिल्ली।
5. सुभाष कश्यप, भारतीय सरकार एवं राजनीति, रिसर्च, नई दिल्ली।

Uttarakhand Open University, Haldwani (Deemed University) Ladnun Rajasthan Vishva Bharati Institute

इकाई–22 : योजना आयोग

संरचना

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 नियोजन की अवधारणा

22.3 योजना आयोग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

22.4 योजना आयोग का संगठन

22.5 योजना आयोग के कार्य

22.6 योजना आयोग के अंग

22.6.1 परामर्शदाता निकाय

22.6.2 राष्ट्रीय विकास परिषद्

22.6.3 सामान्य सचिवालय

22.6.4 मन्त्रणा निकाय

22.6.5 प्राविधिक सम्भाग

22.7 सारांश

22.8 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

22.9 सन्दर्भ ग्रंथ–सूची

22.0 उद्देश्य

इस खण्ड के अन्तर्गत स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत की आर्थिक विषमता को दूर करने एवं राष्ट्रीय विकास में वृद्धि करने के उद्देश्य से योजना आयोग का गठन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय को पढ़ने से आपको निम्न जानकारी प्राप्त होगी–

- नियोजन की अवधारणा समझ सकेंगे,
- योजना आयोग के अंगों की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- योजना आयोग की विकासात्मक भूमिका का मूल्यांकन कर सकेंगे।

22.1 प्रस्तावना

एक लम्बे संघर्ष के पश्चात् भारत को आजादी मिल गई थी, लेकिन आजादी के तोहफे (उपहार) के रूप में गरीबी, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता, भूखमरी, अज्ञानता, आदि मिली। इनका ताण्डव नृत्य सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त था। अंग्रेजों की शोषणकारी, दमनकारी एवं दोषपूर्ण नीतियों के कारण सोने की चिड़िया कहलाने वाला भारत अपनी सम्पन्नता की पहचान खो चुका था। अतः राष्ट्र का समुचित ढांचागत विकास करने के लिए योजना आयोग का गठन 1950 में किया गया जो एक संवैधानिक संस्था न होकर मन्त्रिमण्डल के निर्णय द्वारा निर्मित संस्था है। जिसका प्रमुख उद्देश्य राष्ट्र के सन्तुलित विकास हेतु पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण करना। नियोजन राष्ट्रीय विकास व प्रशासन का महत्त्वपूर्ण पहलू है। यह वह बौद्धिक प्रक्रिया है जो कार्य करने से पूर्व विचार और तथ्यों के प्रकाश में ठोस अनुमानों का निर्धारण करती है। लोकतान्त्रिक सरकार में राष्ट्र की प्रतिनिधि संस्था द्वारा निर्धारित विशेष लक्ष्यों के प्रकाश में उत्पादन उपभोग अनुसंधान व्यापार एवं आय के वितरण में निष्पक्ष विशेषज्ञों द्वारा तकनीकी समन्वय नियोजन है। दूसरे शब्दों में भावी कार्य के सही मार्ग के लिए आधारभूत रूपरेखा तैयार करने की एक बौद्धिक प्रक्रिया है।

22.2 नियोजन की अवधारणा

मिलट के अनुसार योजना प्रशासकीय प्रयासों के उद्देश्यों को निश्चित् करने और उनको प्राप्त करने हेतु उपयुक्त साधनों की परिकल्पना करने वाली प्रक्रिया है।

फिफनर के अनुसार नियोजन एक विवेकपूर्ण गतिशील और पूर्णात्मक प्रक्रिया है क्योंकि इसमें सम्भावित साधनों और उद्देष्यों के क्रमबद्ध विश्लेषण की आवश्यकता होती है। तत्पश्चात् उसमें निर्धारित उद्देश्यों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त साधन का चुनाव किया जाता है। एक स्वस्थ नियोजन प्रक्रिया निरन्तर गतिशील बनी रहती है। अनुभवों व परिस्थितियों के प्रकाश में उनमें लचीलापन व परिवर्तन आवश्यक है। एक अच्छी योजना के लिए मूल्यांकन समीक्षा व आवश्यकतानुसार पूर्व निर्णय अपरिहार्य है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संक्षिप्त में नियोजन विभिन्न कार्यक्रमों और संसाधनों को समन्वित करने का प्रयास है। यह समग्र अथवा सीमित हो सकता है। यह दीर्घकालीन या अल्पकालीन सरकारी अथवा गैर सरकारी भी हो सकता है। सामान्यतया सरकारी नियोजन मूलतः करते हैं और सूत्र संगठन क्रियात्मक पक्ष का संचालन करते हैं।

सम्पूर्ण नियोजन प्रक्रिया तीन भागों में बांटी जा सकती है–

1. नियोजन निरूपण, 2. नियोजन क्रियान्वयन, 3. नियोजन मूल्यांकन करवाकर उनका विश्लेषण करता है तथा इसमें यह देखने का प्रयास करता है कि कौनसे क्षेत्र का विकास नहीं हुआ है और पूर्ववृत्ति योजना का इन पर क्या प्रभाव पड़ा है। इन को मध्यनजर रखते हुए योजना की रूपरेखा तैयार की जाती है।
2. नियोजन का क्रियान्वयन : जब नियोजन का निरूपण कर लिया जाता है, उसकी रूपरेखा तैयार कर ली जाती है तब उसको व्यावहारिकता के धरातल पर उतारा जाता है और विभिन्न पिछड़े हुए क्षेत्रों में उत्थान के लिए प्रयास किये जाते हैं।
3. योजना का मूल्यांकन : मिलट के अनुसार एक अच्छी योजना के लिए सर्वप्रथम उद्देश्य तय करना होता है उसके बाद उद्देश्य प्राप्त हेतु सम्भव सामग्री का अनुमान लगाया जाता है और अन्त में लक्ष्य प्राप्ति हेतु कार्यक्रम व साधनों की व्यापक रूपरेखा तय की जाती है।

नियोजन सभी देशों के लिए आवश्यक हैं चाहे वह लोकतान्त्रिक हो या गैर लोकतान्त्रिक भारत के सन्दर्भ में इसका बहुत अधिक महत्त्व है। इसका मूलभूत कारण इसकी विशालता, विविधता, विकासशील स्वरूप तथा संविधान के तहत् लोक कल्याणकारी राज्य की व्यवस्था स्वतन्त्रता के बाद भारतीय कर्णधारों ने राष्ट्र के क्रमबद्ध व व्यवस्थित विकास की ठानी, ताकि राष्ट्र का सामाजिक, आर्थिक व राजनैतिक विकास समुचित ढंग से हो सके। इस हेतु नियोजन की विस्तृत रूपरेखा तैयार की।

भारतीय नियोजन निर्माण के समय एक बुनियादी आवश्यकता यह देखी गई है कि किस प्रकार से ऐसी राष्ट्रीय नीति बनाई जाय और उसे किस प्रकार क्रियान्वित किया जाय कि वह अन्त तक न केवल राष्ट्रीय योजना का अपना स्वरूप बनाये रख सके

22.3 योजना आयोग की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत में योजना का प्रारम्भ 1933 विश्वेश्वरैया की 10 वर्ष में राष्ट्रीय आय को दुगुना करने की योजना के साथ हुआ। 1938 में एक राष्ट्रीय योजना समिति का गठन किया गया जिसका अध्यक्ष प. जवाहरलाल नेहरू को बनाया गया। 1941 में भारत सरकार ने एक योजना समिति की नियुक्ति की जिसे 1943 में पुनर्निर्माण समिति में बदल दिया। गवर्नर जनरल इसके अध्यक्ष थे। 1944 में एक पृथक नियोजन व विकास नियोजन अस्तित्व में आया, जिसके प्रयासों से केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकारों ने अनेक विकास योजनायें तैयार की। 1946 में एक परामर्शदात्री नियोजन आयोग स्थापित किया गया जिसका उद्देश्य योजना की समस्याओं पर विचार करना था। इसने एक योजना आयोग के गठन का सुझाव दिया, ताकि राष्ट्र का क्रमबद्ध व व्यवस्थित ढंग से विकास किया जा सके।

तदनुसार 1950 में एक सरकारी आदेश अस्तित्व में आया। यह कानूनी दृष्टि से केन्द्र सरकार के प्रति उत्तरदायी है। यह प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में कार्य करने वाला एक प्रभावी अभिकरण है।

22.4 योजना आयोग का संगठन

योजना आयोग का एक अध्यक्ष होता है जो प्रधानमन्त्री होता है तथा एक उपाध्यक्ष होता है जो आयोग का प्रमुख कार्यकारी व्यक्ति होता है तथा आयोग के अन्य सदस्य भी होते हैं जिनकी नियुक्ति प्रधानमन्त्री की सलाह पर राष्ट्रपति करता है। वर्तमान् में के.सी. पन्त इसके उपाध्यक्ष हैं। इनके अलावा वित्त, योजना, गृह, रक्षा, आदि केन्द्रीय मन्त्री होते हैं, एक सांख्यिकी सलाहकार तथा एक सचिव व एक उपसचिव होता है। राष्ट्रीय विकास परिषद् व योजना आयोग दोनों का सचिव एक ही होता है। पूर्व में इसके सदस्य अंशकालीन होते थे। सचिव मन्त्री के समान भत्ते व सुविधायें प्राप्त करते हैं। उनकी स्थिति कैबिनेट मन्त्री की भांति है। सभी सदस्य एक टीम के रूप में कार्य करते हैं। लेकिन सुविधा की दृष्टि से एक या अधिक सदस्यों पर एक प्रभारी बना दिया जाता है। जो उन विषयों या क्षेत्रों में समस्याओं के अध्ययन का निरीक्षण करते हैं।

कैबिनेट मन्त्रियों व आयोग में निकट का सम्पर्क रहता है। कैबिनेट के चार सदस्य आयोग के नियमित सदस्य होते हैं जिनकी अहम् व महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है जो आयोग को प्रभावित भी कर सकते हैं। इसमें वित्त, रक्षा, गृह व योजना मन्त्री होते हैं, जो आयोग को समय–समय पर महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं।

22.5 योजना आयोग के कार्य

योजना आयोग द्वारा निम्नलिखित कार्य सम्पन्न किये जाते हैं –

1. देष के भौतिक, पूंजीगत, मानवीय , तकनीकी तथा कर्मचारी वर्ग सम्बन्धी साधनों का अनुमान लगाना और जो साधन राष्ट्रीय आवश्यकता की तुलना में कम दिख पड़े, उनकी वृद्धि की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में अनुसंधान करना।
2. देष के साधनों के अधिकतम प्रभावशाली तथा सन्तुलित उपयोग के लिए योजना बनाना।
3. नियोजन में स्वीकृत कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं के बारे में प्राथमिकतायें निश्चित करना।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. आर्थिक विकास की गति को रोकने वाले तत्वों को इंगित करना और योजना की सफलता के लिए स्थापित की जाने वाली अवस्थाओं को तय करना।
5. योजना का सफल कार्यान्वयन करने के लिए तन्त्र की प्रकृति निश्चित करना।
6. समय–समय पर योजना की प्रगति का मूल्यांकन करना तथा नीति व उपायों में आवश्यक तालमेल की सिफारिश करना।
7. विद्यमान आर्थिक अवस्था, प्रचलित नीतियों, उपायों तथा विकास कार्यक्रमों के विचार–विमर्ष के लिए इसके कर्त्तव्यों के पालन को सुगम बनाने के लिए आवश्यक सिफारिश करना या केन्द्रीय अथवा राज्य सरकारों द्वारा सुझाव हेतु भेजी गई समस्याओं की जांच की सिफारिश करना।

22.6 योजना आयोग के अंग

योजना आयोग मूलत: पांच अंगों द्वारा कार्य करता है, जो इस प्रकार है –

22.6.1 परामर्षदाता निकाय–परामर्षदाताओं के रूप में चार वरिष्ठ पदाधिकारी होते हैं, जो भारत सरकार के पदेन अतिरिक्त सचिवों के स्तर के होते हैं। वे क्षेत्रीय अध्ययन तथा विभिन्न योजनाओं व परियोजनाओं के अवलोकन एवं उनके परिपालन की प्रगति के विषय में आयोग के सदस्यों को सहायता देते हैं। ये परामर्शदाता वित्तीय समस्याओं, लोक सहयोग तथा योजनाओं के परिपालन से सम्बन्धित प्रषासन पर भी विशिष्ट ध्यान देते हैं।

22.6.2 राष्ट्रीय विकास परिषद्–योजना आयोग का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग राष्ट्रीय विकास परिषद् है जो योजना आयोग को महत्त्वपूर्ण व प्रभावी सलाह देती है। इसमें प्रधानमन्त्री, राज्यों के मुख्यमन्त्री सहित अनेक कैबिनेट मन्त्री इसके सदस्य होते हैं। मूलत: यह एक गैर स्टेटूटरी संघीय निकाय है। यह योजना क्षेत्र में सर्वोच्च पूर्व विचार व परामर्शदात्री निकाय है। इसकी स्थापना 1952 में की गई थी। इसका प्रमुख लक्ष्य योजना आयोग को सहायता करना, एक रूप नीति को प्रोत्साहन, वृत्त व सन्तुलित विकास हेतु प्रयास करना सिद्धान्त में यह एकमात्र परामर्शदात्री निकाय है, लेकिन व्यवहार में आज बहुत शक्तिशाली हो गई है और योजना आयोग कि स्थिति गौण। इसके प्रमुख कार्य इस प्रकार हैं –

1. राष्ट्रीय योजनाओं की संचालन की समय–समय पर समालोचना करना,
2. योजना की सफलता के लिए साधन उपलब्ध करवाना,
3. योजना के सन्दर्भ में सामान्य नीति निर्देश सुझाना,
4. राष्ट्रीय नियोजन के कार्यों का सामयिक निरीक्षण,
5. राष्ट्रीय विकास के सन्दर्भ में आर्थिक व सामाजिक नीति का अवलोकन कर उचित सुझाव देना है,
6. जनता का सक्रिय सहयोग व साझेदारी प्राप्त करना,
7. प्रशासनिक कार्यकुशलता में सुधार लाना,
8. अल्प विकसित क्षेत्रों का विकास करना।

यह निकाय राष्ट्रीय नियोजन निर्माण में राज्यों की अधिकाधिक भागीदारी व प्रतिनिधित्व तय करता है। यह राष्ट्रीय व राज्य योजनाओं में समन्वय व सन्तुलन बनाये रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य करता है।

22.6.3 सामान्य सचिवालय–इसकी प्रमुख चार शाखायें हैं – प्रशासकीय शखा, योजना समन्वय शाखा, सामान्य समन्वय शाखा एवं राष्ट्रीय सूचना व प्रकाशन शाखा।

22.6.4 मंत्रणा निकाय–योजना आयोग में काम करने वाले कुछ महत्त्वपूर्ण मंत्रणा निकाय होते हैं – सिंचाई तथा शक्ति परियोजनाओं की समिति, समन्वय समिति तथा शोध कार्यक्रम सम्बन्धी समिति।

22.6.5 प्राविधिक सम्भाग–आयोग में 20 प्राविधिक सम्भाग तथा अनुभाग है जो मोटे तौर पर दो समूहों के अन्तर्गत आते हैं – सामान्य सम्भाग तथा शाखा या विषय सम्बन्धी सम्भाग सामान्य सम्भागों का सम्बन्ध आर्थिक तथा सामाजिक नियोजन की सर्वव्यापक समस्याओं से होता है। इन सम्भागों में से प्रत्येक सम्भाग इन समस्याओं के कुछ विषिष्ट पहलुओं का परीक्षण करता है। विषय सम्बन्धी सम्भाग अर्थात् – व्यवस्था के विशिष्ट खण्डों, जैसे – सिंचाई तथा शक्ति, भोजन तथा कृषि, शिक्षा, आवास, इत्यादि से सम्बन्ध रखता है। प्राविधिक सम्भाग योजना में सम्मिलित किये जाने वाली विभिन्न योजनाओं तथा परियोजनाओं तथा कार्यक्रमों से सम्बंधित योजनाओं तथा कार्यक्रमों से सम्बंधित अनुसंधान एवं प्राविधिक अध्ययनों को चलाने, योजना पर अध्ययन सामग्री तथा प्रतिवेदन तैयार करने, योजनाओं की परियोजनाओं आदि का अनुवर्तन करने के लिए उत्तरदायी होती है। इन सम्भागों के प्रधान सामान्य तथा अपने विषय के विशेषज्ञ होते हैं। उन्हें संचालन या मुख्याधिकारी कहा जाता है, और उनकी सहायता के लिए उप तथा सहायक मुख्याधिकारी तथा कुछ अनुसन्धानकर्ता होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

योजना आयोग

संगठन	सम्भाग	विशिष्ट कार्य
1. अध्यक्ष (प्रधानमन्त्री)	1. कृषि व ग्रामीण विकास	1. स्रोतों का निर्धारण करना
2. उपाध्यक्ष	2. अर्थ, वित्त व स्रोत	2. क्षेत्रों के आवंटन की प्राथमिकता तय करना
3. अंशकालिक सदस्य	3. शिक्षा	3. योजना की समस्याओं को देखना
(अ) केन्द्रीय गृहमन्त्री	4. रोजगार व मानव शक्ति	4. केन्द्र व राज्य सरकारों की विकास योजनाओं का निरुपण करना।
(ब) केन्द्रीय रक्षामन्त्री	5. स्वास्थ्य व परिवार कल्याण	5. योजना व औद्योगिक विकास
(स) केन्द्रीय वित्तमन्त्री	6. आवास, शहर विकास व जलपूर्ति	6. योजना के क्रियान्वयन के लिये आवश्यक यन्त्र
4. पूर्णकालिक सदस्य (3)	7. उद्योग व खनिज	7. योजना के प्रत्येक स्तर पर क्रियान्वयन की प्रगति
	8. सिंचाई व आदेश क्षेत्र	8. परिपेक्ष्य योजना
	9. भूमि सुधार	9. राष्ट्रीय विकास में जन सहयोग
	10. प्रसार व सूचना	10. योजना पत्रिका का प्रकाशन
	11. परिपेक्ष्य योजना	
	12. योजना सूचना व लोक सहयोग	
	13. योजना समन्वय	
	14. कार्यक्रम प्रशासन	
	15. षक्ति व ऊर्जा	
	16. वैज्ञानिक शोध	
	17. समाज कल्याण	
	18. सांख्यिकी व सर्वेक्षण	
	19. परिवहन व संचार	

22.7 सारांश

योजना आयोग मूल रूप में एक परामर्शदाता संस्था है अर्थात् इसकी सिफारिशों को मानना जरूरी नहीं होता, किन्तु सरकार इसकी अधिकांश अनुशंसाओं को व्यावहारिक रूप देने का प्रयास अवश्य करती है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. योजना आयोग पर एक लेख लिखिये।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. नियोजन से आप क्या समझते हैं?
2. योजना आयोग के मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिये।
3. योजना आयोग के संगठन पर संक्षिप्त में प्रकाश डालिये।
4. राष्ट्रीय विकास परिषद् के मुख्य कार्य लिखिये।

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. योजना आयोग की स्थापना कब की गई?
2. योजना आयोग का अध्यक्ष कौन होता है?
3. योजना आयोग की स्थापना कैसे की गई?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

बी.एल. फड़िया, भारतीय लोकप्रशासन, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा।

जे.सी. जौहरी, भारतीय शासन और राजनीति, विकास पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

रमेशचन्द्र अरोड़ा, भारत में लोकप्रशासन।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–23 : दलबदल की राजनीति

संरचना

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 दल बदल के कारण

- 23.2.1 प्रभावशाली राजनीतिक नेतृत्त्व का अभाव
- 23.2.2 कांग्रेस पार्टी का दम्भ
- 23.2.3 पद लोलुपता
- 23.2.4 राजनीति का व्यावसायीकरण
- 23.2.5 प्रत्येक विधायक की निर्णायक स्थिति
- 23.2.6 सैद्धान्तिक मतभेद
- 23.2.7 व्यक्तिगत संघर्ष
- 23.2.8 जनता की उदासीनता
- 23.2.9 राजनीतिक परम्पराओं का अभाव
- 23.2.10 गैर–कांग्रेसी दलों की स्थिति में सुधार
- 23.2.11 कांग्रेस की दल बदल नीति में बदलाव
- 23.2.12 वरिष्ठ सदस्यों की उपेक्षा
- 23.2.13 धन का प्रलोभन
- 23.2.14 विचारात्मक ध्रुवीकरण का अभाव

23.3 दल बदल और उसके राजनीतिक परिणाम

- 23.3.1 अस्थिरता को बढ़ावा
- 23.3.2 दुर्बल मिली–जुली सरकारों का निर्माण
- 23.3.3 मुख्यमन्त्री संस्था का ह्रास
- 23.3.4 प्रधानमन्त्री संस्था का ह्रास
- 23.3.5 नौकरशाही की षक्ति में वृद्धि
- 23.3.6 मन्त्रिमण्डलों का अनावश्यक विस्तार
- 23.3.7 अल्पमत सरकारों का निर्माण
- 23.3.8 राजनीतिक दलों का विघटन
- 23.3.9 राजनीतिक एकाधिकार को चुनौती
- 23.3.10 सिद्धान्तहीन च नैतिकता शून्य राजनीति का सूत्रपात
- 23.3.11 राष्ट्रीय विकास के लिए घातक
- 23.3.12 भ्रष्टाचार को बढ़ावा

23.4 भारत में दल बदल रोकने के सरकारी प्रयास

- 23.4.1 चव्हाण समिति
- 23.4.2 जनता पार्टी सरकार के प्रयत्न
- 23.4.3 दल बदल रोकने हेतु संविधान संशोधन अधिनियम
- 23.4.4 52वां संविधान संशोधन

23.5 दल बदल रोकने के सुझाव

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

23.5.1 प्रबल लोकमत का निर्माण
23.5.2 दल बदलुओं को कोई पद नहीं दिया जाय
23.5.3 5 वर्ष तक चुनाव लड़ने के अयोग्य किया जाय
23.5.4 जन–प्रतिनिधि अपनी व अपने रिश्तेदारों की सम्पत्ति घोषणा करें
23.5.5 प्रजातान्त्रिक परम्पराओं का विकास
23.5.6 राजनीतिक दलों को चाहिये कि वे दल बदलुओं को स्वीकार नहीं करें
23.5.7 प्रत्यावर्तन की व्यवस्था
23.5.8 कानूनों को ईमानदारी से लागू किया जाय
23.5.9 दल बदलू पहले त्याग पत्र दे
23.5.10 निर्दलीयों पर प्रतिबन्ध
23.5.11 पार्टी एकता को प्रोत्साहन
23.5.12 दल बदल से सम्बद्ध मुकदमों का निपटारा शीघ्र हो
23.5.13 मन्त्रिमण्डल का आकार सीमित रखा जाय
23.5.14 स्पीकर को चाहिये कि दल बदल सम्बन्धी निर्णय दलीय हितों से ऊपर उठकर लें
23.6 सारांश

23.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत संसदीय प्रजातंत्र में दल–बदल की बढ़ती प्रवशत्ति का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप–

- दल बदल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि समझ सकेंगे,
- दल बदल के कारण जान सकेंगे,
- भारतीय राजनीति पर दल–बदल का क्या प्रभाव पड़ा? समीक्षा कर सकेंगे,
- दल–बदल रोकने के लिये समय–समय पर सरकारी प्रयासों की जानकारी प्राप्त करेंगे।

23.1 प्रस्तावना

दल–बदल की बढ़ती हुई प्रवृत्ति देश के संसदीय प्रजातन्त्र के सम्मुख एक प्रमुख समस्या एवं चुनौती के रूप में उभरकर आ रही है। यह भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के लिए कैंसर के रोग के समान है। जो उत्तरोत्तर बढ़ रही है। पिछले कुछ समय से इसने विकराल रूप धारण कर लिया है। जिसके कारण राजनीति का व्यावसायीकरण हो गया है। अधिकांश व्यक्ति संसद या विधानसभा में पहुँचकर दल–बदल की बैसाखियें का सहारा लेकर अधिक से अधिक धन प्राप्त करना चाहते हैं। इस प्रकार दल–बदल के कारण संसदीय प्रजातन्त्र के मूल्यों का ह्रास हुआ है और संसदीय प्रजातन्त्र की सफलता पर प्रश्नचिन्ह लग गया है। मतदाता व राजनीतिक दल तमाशाबीन की तरह मुँह देख रहे हैं। दल–बदल के कारण बहुमत से चुनी गई कई राज्य सरकारों का रातोंरात पतन हो गया है। सम्पूर्ण संसद ने बनिये की दुकान का रूप धारण कर लिया है।

1998 में दल–बदल के द्वारा उत्तरप्रदेश में कल्याणसिंह मुख्यमन्त्री बने। उन्होंने कांग्रेस (एस), जनता दल व बहुजन समाजवादी पार्टी को तोड़कर सरकार बनाई और इन दलों से निकलने वाले सभी विधायकों को मन्त्री पद से सुशोभित किया।

विशेष :– 1998 को उत्तरप्रदेश में दल–बदल के घटनाचक्र में कल्याणसिंह सरकार को बर्खास्त कर जगदम्बिका पाल को मुख्यमन्त्री बनाया गया, लेकिन वे कुछ घण्टों तक ही इस पद पर रहे।

जहाँ तक केन्द्र का प्रश्न है, यहाँ पर भी दो बार दल बदलू प्रधानमन्त्री बने हैं। सर्वप्रथम 1979 को चौधरी चरणसिंह और 1990 को चन्द्रशेखर। चरणसिंह ने जनता पार्टी से अलग होकर कांग्रेस के समर्थन से सरकार बनाई और इसी तरह चन्द्रशेखर जनता दल छोड़कर समाजवादी पार्टी के नेता के रूप में कांग्रेस के समर्थन से प्रधानमन्त्री बने। लेकिन दोनों ही अधिक समय तक सत्ता का सुख प्राप्त नहीं कर सके। पिछले 20 वर्षों का सर्वेक्षण करने से पता चलता है कि विभिन्न राज्यों के कुल विधायकों में से 20 प्रतिशत् विधायकों ने दल–बदल किया। 1967 से 1972 के बीच कुल 4000 विधायकों में से 1400 विधायकों ने दल–बदल किया। अकेले 1967 में 450 दल–बदल की घटनायें हुई। लगभग 500 से ज्यादा दल बदलू या तो मुख्यमन्त्री या कैबिनेट मन्त्री, स्पीकर, उप–स्पीकर या बोर्डों के अध्यक्ष जैसे महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त करने में सफल हुए हैं। इससे राजनीति में नैतिक स्तर में गिरावट आ रही है। भाई–भतीजावाद, भ्रष्टाचार, अपराध व अनुशासनहीनता को बढ़ावा मिला है। बार–बार चुनाव के कारण जनता पर आर्थिक भार बढ़ गया है।

23.2 दल–बदल के कारण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रो. रजनी कोठारी के अनुसार दल–बदल में दो बातों का मुख्य हाथ रहा है – चुनाव के पहले टिकट का बंटवारा और चुनाव के बाद मन्त्रिमण्डल का गठन। ये कोई नये कारण नहीं थे। नई बात तो सिर्फ यह थी कि 1967 में और बाद में जितनी आसानी से लोग कांग्रेस छोड़ देते थे, उतनी पहले कभी नहीं देखी गई थी। कांग्रेस में उनको बांधकर रखने की शक्ति कमजोर हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त आजकल भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में यह देखने में आ रहा है कि अनेक नेता यह देखकर पार्टी बदल लेते हैं कि वे जिस पार्टी में है वह सत्ता में नहीं आ सकती। वस्तुतः दल–बदल के निम्न कारण बताये जा सकते हैं –

23.2.1 प्रभावशाली दलीय नेतृत्त्व का अभाव–स्वतन्त्रता के पश्चात् कुछ वर्षों तक कांग्रेस के महानतम् नेताओं जैसे – नेहरू , पटेल व राजेन्द्र प्रसाद आदि की छत्रछाया में कांग्रेस कार्य करती रही। लेकिन चौथे आम चुनाव के बाद ये नेता इस संसार से विदा हो चुके थे या इन्होंने सक्रिय राजनीति से सन्यास ले लिया था और इस क्षेत्र में कोई ऐसा शिखर का व्यक्तित्व नहीं था जो पार्टीजनों पर अपना प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित कर सके। कांग्रेस और गैर–कांग्रेसी नेता एक ही स्तर के थे। अतः सुदृढ़ व प्रभावषाली नेतृत्त्व के अभाव के कारण दलीय विघटन की प्रक्रिया को बढावा मिला और मिलता है।

23.2.2 कांग्रेस पार्टी का दम्भ–दल–बदल समस्या 1967 के बाद इतनी जटिल नहीं होती, यदि कांग्रेस अपने राजनीतिक दम, गिरे हुए मनोबल व सूझबूझ की कमी के कारण एक जैसे विचारधारा वाले प्रजातान्त्रिक दलों के साथ मिल–जुलकर सरकार बनाने के विरुद्ध नहीं रही होती। उदाहरण के लिए 1967 के आम चुनाव में उत्तर भारत के अनेक प्रान्तों में से किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। यदि कांग्रेस स्वतन्त्र दल, प्रजा समाजवादी दल, भारतीय क्रान्ति दल आदि जैसे समान विचारधारा वाले दलों की सहायता से मिलीजुली सरकार बनाना स्वीकार कर लिया होता तो कई राज्यों में स्थिर सरकारें बन जाती। जब विधायकों को वांछित स्थिरता प्राप्त होती तो छोटे–छोटे गुटों व पीछे बैठने वाले सदस्यों को कितने ही अनैतिक प्रलोभनों द्वारा दल–बदल को प्रोत्साहन नहीं मिलता। परन्तु कांग्रेस स्वतन्त्रता के बाद से ही सत्ता पर एकाधिकार के लिए अभ्यस्त हो चुकी थी। वह अन्य दलों के साथ मिलीजुली सरकार बनाने को तैयार नहीं थी। अतः इससे दल–बदल को प्रोत्साहन मिला।

23.2.3 पदलोलुपता–सत्ता का प्रभुत्व की मोह एवं पदलोलुपता ने देश के राजनीतिक वातावरण को इतना खराब और दूषित बना दिया कि विधायकों की दृष्टि में सिद्धान्त, आदर्ष और नैतिकता का ह्रास हुआ। अवसरवादी राजनीतिकों को प्रोत्साहन मिला। विधायक खरीद–फरोख्त की वस्तु न रहे। विधायक यह समझने लगे कि दल–बदल करके अपनी आर्थिक, राजनीतिक व सामाजिक स्थिति श्रेष्ठ कर सकते हैं, उनका प्रभाव बढ़ सकता है। होड़ में विधायक मुख्यमन्त्री बनने के लिए उप मन्त्री से राज्य मन्त्री तथा राज्यमन्त्री से कैबिनेट मन्त्री दल–बदल का सहारा लेते हैं। 1967 के आम चुनाव के बाद राजस्थान, हरियाणा, पंजाब, पश्चिमी बंगाल, मध्यप्रदेश आदि कई राज्यों में दल–बदल की घटनायें इसी कारण हुई। 1967–68 के दो वर्षों में 8 दल–बदल मुख्यमन्त्री बने, 93 कैबिनेट मन्त्री, 1 स्पीकर, 33 राज्यमन्त्री, 21 उपमन्त्री बने। दल–बदलुओं के आधार पर बने मुख्यमन्त्रियों में हरियाणा में राव विरेन्द्रसिंह (उत्तरप्रदेश), चौधरी चरणसिंह (पंजाब), लक्ष्मणसिंह गिल (प. बंगाल), पी.सी. घोष (मध्यप्रदेश), जे.एन. सिंह (बिहार), सतीष प्रसादसिंह और बिहार में बी.पी. मण्डल व भोला पासवान मुख्यमन्त्री बने। इन राज्यों में दल–बदलुओं का प्रतिशत इस प्रकार है–

चतुर्थ आम चुनाव के बाद विभिन्न प्रान्तों में दल–बदलुओं के आंकडे

क्र.सं.	राज्य का नाम	दल–बदलुओं की संख्या	मन्त्रियों की कुल संख्या	दल–बदल मन्त्री संख्या	पद–बदलुओं का प्रतिशत	मुख्यमन्त्री दल –बदलू है या नहीं
1.	राजस्थान (सुखाड़िया मन्त्रिमण्डल)	18	35	5	14	नहीं
2.	हरियाणा (राव विरेन्द्रसिंह)	29	23	22	95	हाँ
3.	पंजाब (गुरूनामसिंह)	7	17	6	35	नहीं
4.	बिहार (एस.पी. सिंहा का संयुक्त मन्त्रि मण्डल) बिहार (बी.पी. मण्डल)भोला पासवान	123851	343813	5387	1710053	नहींहाँहाँ
5.	मध्यप्रदेश (गोविन्द नारायण सिंह)	36	34	21	62	हाँ
6.	उत्तरप्रदेश (चरणसिंह)	17	28	7	25	हाँ
7.	प. बंगाल (अजय घोष कांग्रेस समर्थित)	17	11	11	100	हाँ

23.2.4 राजनीति का व्यावसायिकरण–अन्य व्यवसायों की तरह जन–प्रतिनिधियों ने राजनीति को भी व्यवसाय का रूप प्रदान कर दिया है। इस व्यवसाय के मार्फत स्वयं अपने लिए अपने बन्धु–बान्धव के लिए तथा अपने राजनीतिक, सामाजिक व्यवसाय समूह विषेष के लिए विभिन्न प्रकार के लाभप्रद एवं सुख साधन प्राप्त करने के लिए राजनीतिक व्यवसाय में उतरते हैं। कई विधायक दल–बदल करने के लिए काफी धन प्राप्त करते हैं। सुभाष कबिहार (बी.पी. मण्डल)भोला पासवान कश्यप ने अपनी पुस्तक में दल–बदल और राज्य की राजनीति में (1969 में हरियाणा के सन्दर्भ में दल–बदल के भाव इस प्रकार निर्धारित किये गये थे)।

विशेष :– केन्द्र में पी.वी. नरसिंहराव सरकार ने अपनी सरकार को बचाने के लिए झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के चार सांसद सदस्यों को कई लाख रुपये दल–बदल के लिए दिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

23.2.5 प्रत्येक विधायक की निर्णायक स्थिति–चौथे आम चुनाव के बाद कई राज्यों में कांग्रेस सदस्यों की संख्या कुल मिलाकर बराबर थी। जिसके कारण प्रत्येक विधायक की स्थिति इतनी महत्त्वपूर्ण हो गई कि वह अपने आप को मन्त्रिमण्डल की कुंजी समझने लगा। 1969 के उत्तरप्रदेश की विधानसभा चुनाव के बाद भी यही स्थिति थी। 1993 की राजस्थान विधानसभा चुनाव में भैरोंसिंह सरकार निर्दलीय विधायकों के समर्थन के बावजूद उसके पास मात्र बहुमत था। अतः ऐसी स्थिति में विधायकों की महत्ता, इच्छा व आकांक्षायें बढ़ जाती है और वे अपने राजनीतिक व आर्थिक स्वार्थों के लिए दल–बदल के कीचड़ में जा फंसते हैं।

23.2.6 सैद्धान्तिक मतभेद–जब पार्टी संगठन व किसी व्यक्ति विशेष के मध्य सिद्धान्तों को लेकर टकराव उत्पन्न हो जाता है, तब वह पार्टी में बगावत का बिगुल बजा देता है। वह चाहता है कि पार्टी उसके सिद्धान्तों पर चले या पार्टी विचारधारा में कुछ बदलाव लाये।

विशेष :– 1998 को कांग्रेस (इ) से ममता बनर्जी का अलग होने का प्रमुख कारण यह था कि वह प. बंगाल में वाममोर्चा को पछाड़ देने के लिए प. बंगाल में भाजपा के साथ चुनावी गठजोड़ करना चाहती थी। परन्तु कांग्रेस हाईकमान ने उनकी इस नीति को किसी भी कीमत पर स्वीकार नहीं किया। अतः उन्होंने कांग्रेस छोड़ कर तृणमूल कांग्रेस का गठन किया।

23.2.7 व्यक्तिगत संघर्ष–यदि भारतीय राजनीति में दल–बदल की व्यवस्था का बारीकी से अध्ययन किया जाय तो यह तथ्य काँच की भांति स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि इसका मूल कारण व्यक्तिगत संघर्ष है। जब कोई दल का वरिष्ठ नेता यह सोचने लगता है कि पार्टी में उसके हितों पर प्रहार हो रहा है, तब वह दल बदल की ओर अग्रसर होता है।

विशेष :– लालूप्रसाद यादव द्वारा जनता दल से अलग होकर राष्ट्रीय जनता दल का निर्माण करने का मूलभूत कारण व्यक्तिगत संघर्ष था। क्योंकि शरद यादव जद अध्यक्ष बन गये थे तथा पार्टी के भीतर उनकी उपेक्षा की जा रही थी।

विशेष :– इसी प्रकार नारायण दत्त तिवारी व अर्जुनसिंह द्वारा कांग्रेस छोड़कर कांग्रेस (तिवारी) का निर्माण करने का प्रमुख कारण राव व इन दोनों के बीच व्यक्तिगत टकराव ही उत्तरदायी था।

विशेष :– 13वीं लोकसभा चुनाव के समय शरद पँवार, पी.ए. संगमा तथा तारीक अनवर का कांग्रेस से अलग होकर राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी का गठन का प्रमुख कारण सोनिया गाँधी से व्यक्तिगत मतभेद था।

23.2.8 जनता की उदासीनता–भारतीय मतदाता दल–बदल की घटना से उदासीन ही रहा। दल–बदल से न तो साधारण मतदाता को कोई धक्का लगा और न ही कोई चोट पहुँची। ऐसे कितने ही उदाहरण सामने आये जब दल–बदल करने वाले विधायकों का सार्वजनिक रूप से स्वागत किया गया, फूल मालायें पहनायी गई और जुलूस निकाला गया। हरियाणा में तो जनता ने लगभग 32 प्रतिशत दल–बदलुओं को पुनः विधानसभा में पहुँचाया।

विशेष :– 1998 के राजस्थान विधानसभा चुनाव से पूर्व शेखावत सरकार के कुछ मन्त्री व समर्थित विधायक जब कांग्रेस में शामिल हुए, तब उनका व्यापक स्तर पर स्वागत किया गया।

23.2.9 राजनीतिक परम्पराओं का अभाव–प्रायः विश्व के सभी संसदीय प्रजातन्त्र वाले देशों में दल–बदल की घटनायें होती हैं। लेकिन उन देशों में स्वस्थ प्रजातान्त्रिक व्यवस्था है। वहाँ दल बदलने के बाद जन–प्रतिनिधि स्वतः ही व्यवस्थापिका से त्याग पत्र दे देता है और अपनी नवीन पार्टी के टिकट से पुनः जनता के सम्मुख आ जाते हैं। उन देशों में लोकमत इतना प्रबल है कि जन–प्रतिनिधि जनहितों की अवहेलना नहीं कर सकते। वे जनहितों पर खरा उतरने की पूरी–पूरी कोशिश करते हैं। यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो जनता उसको मत द्वारा सबक सिखाती है। इसके विपरीत भारत में स्वतन्त्र राजनीतिक परम्पराओं का नितान्त अभाव पाया जाता है। यहाँ दल–बदल करते समय जन–प्रतिनिधि नैतिकता को ताक में रख देते हैं। भारत के संसदीय इतिहास में सम्भवतया ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलता है कि जन–प्रतिनिधियों ने व्यवस्थापिका से त्याग–पत्र के साथ दल बदल किया हो। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारतीय मतदाता में राजनीतिक चेतना का अभाव होना तथा उसके द्वारा मतदान जाति, धर्म, क्षेत्र, आदि आधारों पर करना।

23.2.10 गैर–कांग्रेसी दलों की स्थिति में सुधार–चतुर्थ आम चुनाव से पूर्व भारतीय राजनीति में कांग्रेस का एकछत्र राज था, जिसको रजनी कोठारी ने एकदलीय प्रभुत्व व्यवस्था कहा है। लेकिन चौथे आम चुनाव के बाद 9 राज्यों में गैर–कांग्रेसी दलों की सरकार बनती है। इसका प्रभाव उन कांग्रेस विधायकों पर पड़ा, जो मन्त्री बनने के लिए आतुर थे। अतः उन्होंने इसको स्वर्णिम अवसर मानकर कांग्रेस छोड़ना प्रारम्भ कर दिया।

23.2.11 कांग्रेस की दल–बदल नीति में बदलाव–कांग्रेस के संसदीय बोर्ड ने दल–बदलुओं को कांग्रेस में षामिल करने के प्रष्न पर अपनी नीतियों में औपचारिक परिवर्तन किया। इसने निर्णय लिया कि गैर–कांग्रेसी विधायकों को पार्टी में शामिल करने के लिए सभी प्रतिबन्ध हटा दिये जायें। इस नीति के फलस्वरूप अनेक विधायकों को कांग्रेस में शामिल कर लिया गया। कांग्रेस कार्यसमिति के हैदराबाद अधिवेशन में राज्यों के कांग्रेसी विधायकों को अन्य विधायकों के साथ मिलकर सरकार बनाने के लिए अधिकृत किया गया।

विशेष :– 2002 में छत्तीसगढ़ के कांग्रेसी मुख्यमन्त्री अजीत जोगी ने अपनी राजनीतिक स्थिति को मजबूत करने के लिए भाजपा के अनेक विधायकों को इसमें शामिल किया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

23.2.12 वरिष्ठ सदस्यों की उपेक्षा–प्राय: यह देखा गया है कि अनेकों पार्टियों में टिकटों का बंटवारा न्यायोचित नहीं होता। लगभग सभी प्रमुख दलों में दादागिरी की स्थिति है और जब दल के किन्हीं वरिष्ठ सदस्यों को दल के सर्वोच्च नेताओं के साथ अच्छे सम्बन्ध नहीं होते तब टिकटों के बंटवारे तथा अन्य अवसरों पर उपेक्षा सहन करनी होती है और वह स्थिति उन्हें दल–बदल की ओर अग्रसर करती है।

विशेष :– 20 मई 2003 को समता पार्टी के महासचिव शम्भु श्रीवास्तव पार्टी प्रमुख जॉर्ज फर्नांडीस तथा नितिषकुमार के अपेक्षापूर्ण रवैये के कारण समता पार्टी को छोड़कर कांग्रेस में शामिल हुए।

23.2.13 धन का प्रलोभन–धन के प्रलोभन के आधार पर विधायकों को दल–बदल के लिए प्रेरित किया जाता है। सांसदों और विधायकों को लाखों रुपये का लालच देकर अनेक प्रधानमन्त्री व मुख्यमन्त्री अपनी राजनीतिक स्थिति को मजबूत करते हैं। हरियाणा के सन्दर्भ में राष्ट्रपति को जो रिपोर्ट राज्यपाल ने भेजी। जिसमें कहा गया कि दोनों पक्षों की ओर से यह आरोप लगाये जा रहे हैं कि दल–बदल करने के लिए रुपया पानी की तरह बहाया जा रहा है।

विशेष :– 1993 के चुनाव के बाद राजस्थान में भी विधायकों की व्यापक खरीद फरोख्त हुई और प्रत्येक निर्दलीय विधायक को मन्त्री पद के अलावा लाखों रुपया दिया गया। यह आरोप कांग्रेस ने लगाये थे।

23.2.14 विचारात्मक ध्रुवीकरण का अभाव–भारत में विभिन्न राजनीतिक दलों में विचारात्मक ध्रुवीकरण का नितान्त अभाव रहा है। कोई भी विधायक किसी भी दल में मिल जाय , उनकी विचारधारा व सिद्धान्तों में कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। इस प्रकार भारतीय राजनीतिक दलों की तुलना शराब की दो बोतलों से कर सकते हैं जिन पर केवल नाम दो अलग–अलग कम्पनियों का लगा है, पर शराब एक है। अत: राजनीतिक दलों की यह स्थिति उन दलों के विधायकों को पासा पलटने के लिए प्रेरित करती है।

23.3 दल–बदल और उसके राजनीतिक परिणाम

दल–बदल के भयंकर राजनीतिक परिणाम हुए और कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा कि इससे भारतीय लोकतन्त्र का भविष्य ही अधर में लटक गया है और राज्यों में संसदात्मक शासन प्रणाली असफल हो चुकी है। दल–बदल से परेशान होकर अनेक राजनीतिशास्त्री संसदात्मक पद्धति का विकल्प ढूंढने में लग गये। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था जिस प्रकार दल–बदल के दलदल में फंस रही है वह न केवल घातक है अपितु विनाशकारी है। आज भारत की राजनीति में नैतिकता नाम की कोई चीज नहीं रही है। राजनीति का अपराधीकरण तीव्र गति से हो रहा है, राजनीति के व्यावसायिकरण को बढ़ावा मिला है। दल–बदल की इन घटनाओं ने भारतीय राजनीति में इस कदर अस्थिरता कायम कर दी है जिसके कारण 3/4 बहुमत वाली सरकारों का रातों रात पतन हो गया है। अधिकांश विधायक इस ताक में रहते हैं कि किस प्रकार एवं शीघ्रतिशीघ्र दल–बदल हो और वे आर्थिक व राजनीतिक फायदा उठाये।

विशेष :– गुजरात में सुरेश मेहता के नेतृत्त्व में भाजपा सरकार सत्तारूढ़ थी और उसके पास 3/4 के करीब बहुमत था लेकिन एक ही रात में इस प्रकार घटनाक्रम बदले कि शंकरसिंह बघेला विधायकों को लेकर पार्टी से अलग हो गये और स्वयं मुख्यमन्त्री बन गये।

मेरे विचारों में दल–बदल शब्द लोकतन्त्र के लिए काली घोत के समान हैं जिसने आम आदमी का उसके प्रति विश्वास समाप्त हो चुका है। जहाँ अधिकांशतया दल–बदल की तीव्र आलोचना की जाती है, लेकिन यह दल–बदल राजस्थान की राजनीति के लिए लाभकारी साबित हुए हैं।

विशेष :– 1993 के चुनाव में किसी भी दल को बहुमत नहीं मिला लेकिन इसके बावजूद भैरोसिंह शेखावत ने 20 निर्दलीय तथा जनता दल छोड़ भाजपा में शामिल विधायकों से अपनी सरकार को पूरे 5 वर्ष तक चलाया है। इसके बावजूद हम दल–बदल को उचित करार नहीं दे सकते, बल्कि यह तो विष के समान है, जिसने भारत के सम्पूर्ण राजनीतिक तन्त्र को विषमय बना दिया है। इसके दुष्परिणामों को हम निम्न शीर्षकों द्वारा प्रस्तुत कर सकता हूँ।

23.3.1 अस्थिरता को बढ़ावा–दल–बदल से शासन में अस्थिरता पैदा हुई और हो रही है, क्योंकि अनेक राज्यों में इस प्रकार सरकारों का तख्ता पलटा है कि उनका आभास भी जनता को बाद में हुआ। जहाँ देश में सुदृढ़ शासन की आवश्यकता है ताकि विकास योजनाओं को तत्परता के साथ लागू किया जा सके तथा समाज व प्रशासन में सुधार की ओर ध्यान दिया जा सके, वहाँ दल–बदल के कारण उत्पन्न होने वाली अस्थिरता और अनिश्चितता अवश्य ही चिन्तनीय कही जायेगी। फरवरी 1967 के बाद अनेक राज्यों में तख्ता पलटा। अनेक विधायकों ने एक बार नहीं बारम्बार दल–बदले। एक के बाद एक सरकार के पतन में तथा उनके स्थान पर नई सरकारों की स्थापना में अपना सक्रिय योगदान दिया। दल–बदल की घटनाओं से राज्यों के अलावा केन्द्र भी प्रभावित हुआ है। 1977 में मोरारजी देसाई सरकार के पतन का मूल कारण ही चौधरी चरण सिंह द्वारा दल–बदल कर स्वयं प्रधानमन्त्री बनना था। इसी तरह 1990 में चन्दशेखर द्वारा दल–बदल कर प्रधानमन्त्री बने। आज देष के राजनीतिक वातावरण में जो अस्थिरता की हवा बह रही है, उसके लिए काफी हद तक यही दल–बदल जिम्मेवार है।

23.3.2 दुर्बल मिली–जुली सरकारों का निर्माण–एक कहावत है कि जैसी करनी वैसी भरनी। जिस तरह दल–बदलकर सरकार बनाई जाती है वह निश्चित् रूप से कमजोर व समर्थकों के हाथों की कठपुतली होती है। दल–बदल के कारण उत्पन्न विभिन्न राज्यों में संयुक्त दलीय संयुक्त मोर्चा अथवा संविदा में बार–बार मतभेद होते हैं। उनमें नीति सम्बन्धी एकता नहीं होती है। फलत: नित नये विवाद दिनों–दिन उत्पन्न होते रहते हैं और उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है ऐसी सरकारों में आपसी तालमेल व मन्त्रिमण्डलीय एकता का अभाव देखा जा सकता है।

Jan Nirnaya Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

23.3.3 मुख्यमन्त्री संस्था का ह्रास–संविदा सरकारों के इस दौर में आपसी सौदेबाजी के परिणामस्वरूप बने कठपुतली मुख्यमन्त्री जैसे चरणसिंह, गोविन्दनारायण सिंह, टी.एन. सिंह, अजय मुखर्जी, शंकरसिंह बाघेला, दिलीप पारीक इत्यादि ने मुख्यनन्त्री की संवैधानिक संस्था का ह्रास ही किया है। ये मुख्यमन्त्री एकदम अशक्त ही बन गये थे। मुख्यमन्त्रियों का अधिकांश समय विधायकों को राजी करने में ही जाता है। ऐसी सरकारों में विधायक मुख्यमन्त्री पर हावी रहते हैं। मुख्यमन्त्री इनकी अनदेखी नहीं कर सकता है, बल्कि हर समय उनसे दबे हुए रहना पड़ता है

23.3.4 प्रधानमन्त्री संस्था का ह्रास–केन्द्र में जब दल–बदलू प्रधानमन्त्री बनते हैं तो सर्वत्र यह चर्चा होती है कि वे अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए राष्ट्र व दल को भी दांव पर लगा सकते हैं। देश की जनता में उनकी गरिमा व सम्मान नहीं रहा, जो नेहरू और श्रीमती इन्दिरा गाँधी का था। भारत में अब तक दो दल बदलू चौधरी चरणसिंह और चन्द्रशेखर प्रधानमन्त्री बने। उनके कार्यकाल में इस पद का ह्रास हुआ और राष्ट्र की प्रतिष्ठा को भी गहरा आघात लगा।

23.3.5 नौकरशाही की शक्ति में वृद्धि–दल–बदल के कारण राज्यों में शीघ्र निर्णय नहीं लिए जा सके और अनिश्चितता एवं प्रशासनिक रिक्तता का वातावरण फैला। दल–बदलू मुख्यमन्त्री के काल में नौकरशाही के प्रभाव व दबाव में अप्रतिम रूप से वृद्धि हुई है क्योंकि सरकार क ध्यान हमेशा अपने सहयोगियों को खुश करने में लगा रहता है या फिर आपसी विवादों को निपटाने में बिताया जाता है। अतः ऐसी स्थिति में समस्त प्रशासनिक दायित्वों का निर्वाह नौकरशाही द्वारा किया जाता है।

विशेष :– यद्यपि राजस्थान में भैरोसिंह शेखावत ने दल–बदलुओं के सहारे अपना कार्यकाल तो पूरा कर लिया परन्तु इस दौरान नौकरशाही बहुत प्रभावशाली हो गई थी। जिसके चलते अनेक बार नौकरशाह व मन्त्रियों के बीच में टकराव उत्पन्न हुआ। अन्ततोगतवा इसका खामियाजा नवम्बर 1998 के चुनाव में भुगतना पड़ा।

23.3.6 मन्त्रिमण्डलों का अनावश्यक विस्तार–दल–बदल की बढ़ती प्रवृत्ति का असर मन्त्रिमण्डलों के स्वरूप पर भी पड़ रहा है। इसके कारण मन्त्रिमण्डल बहुत बड़े बनाये जाते हैं। जिसका अनावश्यक भार राज्य के कोष पर पड़ता है। मुख्यमन्त्री को अपने सभी समर्थक दल–बदलुओं को मन्त्री बनाना पड़ता है। ताकि सरकार को स्थायित्व दिया जा सके। इसके अलावा दल–बदलुओं को पुरस्कृत करने के लिए भी ऐसा करना पड़ता है।

विशेष :– उत्तरप्रदेश में कल्याणसिह के नेतृत्व में भाजपा की सरकार सत्तारूढ़ है। उसको कांग्रेस, जनता दल व बहुजन समाजवादी पार्टी के दल बदलू विधायक का समर्थन प्राप्त था। अतः इन सबको खुश रखने के लिए इन सभी को मन्त्री बनाया गया है। जिसके कारण उनके मन्त्रिमण्डल की सदस्य संख्या (94) थी जो उत्तरप्रदेश की राजनीति में ऐतिहासिक है।

विशेष :– इसी प्रकार हरियाणा के राव विरेन्द्र ने करीब 70 प्रतिशत विधायकों (23) को मन्त्री बनाया था।

23.3.7 अल्पमत सरकारों का निर्माण–दल–बदल के कारण पंजाब, प. बंगात, आदि राज्यों में अल्पमत सरकारों का निर्माण हुआ। अल्पमत सरकारों में दल–बदलू विधायक ही मन्त्री पदों को सुशोभित करने लगे। इन अल्पमत सरकारों को विधानसभा में दूसरे दलों के समर्थन पर निर्भर रहना पड़ता है। अतः ये सरकारें एकदम कठपुतली सरकारें सिद्ध होती हैं। उदाहरणार्थ, पंजाब की गिल सरकार प. बंगाल की घोश सरकार अधिक दिनों तक नहीं चली।

23.3.8 राजनीतिक दलों का विघटन–दल–बदल रूपी नाग ने अनेक दलों को डस लिया है, जिसके कारण आज उन दलों का अस्तित्व तक समाप्त हो गया है। इसके कारण राजनीतिक दलों के बिखराव एवं विघटन की प्रक्रिया का सूत्रपात हुआ है। आज सभी दलों में फूट की प्रवृत्ति दिखाई देने लगी है। छोटे–छोटे दलों और गुटों का निर्माण हुआ और सभी दलों की स्थिति बालू से बने रेत के घरौंदों की–सी हो गई है। यदि भारतीय राजनीति में दल–बदल को देखें, तो इसका सर्वाधिक शिकार कांग्रेस व जनता दल हुआ है। इन दोनों दलों से टूटकर बने दलों का विवरण इस प्रकार है –

(अ) कांग्रेस : तृणमूल कांग्रेस, बिहारजन कांग्रेस, कांग्रेस (एस), कांग्रेस (मणि), मणिपुर कांग्रेस, अरुणाचल कांग्रेस, लोकतान्त्रिक कांग्रेस, हरियाणा विकास पार्टी, राजस्थान विकास पार्टी, तमिल राजीव कांग्रेस, गोवा राजीव कांग्रेस, हिमाचल विकास कांग्रेस, राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी, पिपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (मुफ्ती मोहम्मद शहीद), आदि।

(ब) जनता दल : दल बदल का सबसे घातक प्रभाव जनता दल पर पड़ा जो दल 9वीं लोकसभा चुनाव (1989) के समय एक प्रभावषाली दल के रूप में उभरा था और ,ऐसा दावा किया जा रहा था कि यह दल कांग्रेस का विकल्प प्रस्तुत कर सकता है लेकिन दल बदल के चलते यह पार्टी अपना अस्तित्व खो चुकी है और इससे अलग होकर अनेक छोटे–छोटे दल अस्तित्व में आये हैं जैसे – समाजवादी पार्टी, समता पार्टी, राष्ट्रीय जनता दल, जनता दल (राजाराम), चन्द्रशेखर की समाजवादी पार्टी, लोकदल राष्ट्रीय (अजीतसिंह), इण्डियन नेशनल लोकदल (ओमप्रकाश चौटाला), जनता दल धर्मनिरपेक्ष (एच.डी. देवगौड़ा), जनता दल एकीकृत (शरद यादव), लोकशक्ति (रामविलास पासवान), आदि प्रमुख हैं।

23.3.9 राजनीतिक एकाधिकार को चुनौति–भारतीय राजनीति में एक लम्बे समय तक कांग्रेस पार्टी का एकछत्र राज रहा है, लेकिन दल–बदल ने कांग्रेस पार्टी के दीर्घकाल से चले आ रहे राजनीतिक एकाधिकार का सम्मोहन भंग कर दिया। कांग्रेस के असन्तुष्ट लोग दूसरे दलों में शामिल होकर उनके जरिए सत्तारूढ़ गुट से संघर्ष करने लगे। कांग्रेस नेताओं की स्थिति कमजोर हुई और उनके लिए कांग्रेस संगठन में एकता व अनुषासन को बनाये रखना कठिन हो गया। फलस्वरूप कांग्रेस त्यागने वालों की संख्या बढ़ी और कांग्रेस से निकलकर अनेक क्षेत्रीय दलों का उदय हुआ। इसी प्रकार जनता दल भी 9वीं लोकसभा चुनाव के बाद एक शक्ति के रूप में उभरकर सामने आया था परन्तु उसको भी दल बदल रूपी नाग डस गया।

23.3.10 सिद्धान्तहीन व नैतिकताशून्य राजनीति का सूत्रपात–दल–बदल की बढ़ती हुई घटनाओं ने सिद्धान्तहीन, नैतिकताशून्य व अवसरवादी राजनीति का सूत्रपात किया है। आज जन–प्रतिनिधि कुछ सवालों के लिए राष्ट्र व पार्टी के हितों को तिलांजलि देते हुए अवसरवादिता की राजनीति कर रहे हैं। वे ऐसे अवसर की तलाश

Jai Vishwa Bharati Institute (Deemed University)

में रहते हैं जिससे उनको आर्थिक व राजनीतिक लाभ प्राप्त हो सके। पिछले कुछ वर्षों से यह देखने में आ रहा है कि विभिन्न पार्टियों के नेता सत्ता प्राप्त व पद–लोलुपता के लिए पार्टियों को छोड़ देते हैं। इससे भारतीय जनता में असन्तोष बढ़ा है और लोकतन्त्र की बुनियाद कमजोर हुई है।

23.3.11 राष्ट्रीय विकास के लिए घातक–दल–बदल के कारण ही आज राष्ट्रीय विकास पर प्रतिकूल असर पड़ रहा है, क्योंकि दल बदल की भावना के कारण सरकारों पर हमेशा खतरा मण्डराता रहता है। अतः सरकार का ध्यान विकास की अपेक्षा सरकार को मजबूती प्रदान करने के लिए ज्यादा जाता है। इसके दल–बदलू अपनी औकात से बाज नहीं आते हैं। अतः वे हमेशा सरकारों का तख्ता बदलने में मशगूल रहते हैं। इस तरह विकास पूर्णतया अवरुद्ध हो जाता है। योजनाओं की कागजी कार्यवाही कर उसे ठण्डे बस्ते में डाल दिया जाता है।

23.3.12 भ्रष्टाचार को बढ़ावा–दल–बदल के इस विश ने भ्रष्टाचार का पौधा भी भारतीय समाज के लिए तैयार कर दिया है क्योंकि दल–बदल बिना किसी रोक–टोक के अनैतिक रूप से कार्य करते हैं। दल–बदलू मन्त्री व विधायक यह सोचकर भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते हैं कि मुख्यमन्त्री या सरकार की नब्ज उनके हाथ में है। अतः वे बिना किसी अवरोध से भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते हैं। इसके लिए सरकार द्वारा इन दल–बदलुओं को अपने पक्ष में लाने के लिए मोटी रकम दी जाती है।

विशेष :– पी.वी. नरसिंहाराव सरकार पर यह आरोप है कि उन्होंने अपनी सरकार बचाने के लिए अनेक दल बदलुओं को मन्त्री बनाया और धन दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रशासन के प्रत्येक स्तर पर भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया और उनका कार्यकाल सर्वाधिक भ्रष्टाचारी प्रधानमन्त्री के रूप में जाना जाता है क्योंकि उनके काल में अनेक घोटाले हुए थे।

23.4 भारत में दल–बदल रोकने के लिए किये गये सरकारी प्रयास

23.4.1 चव्हाण समिति–दल–बदल की इस महामारी से देश को बचाने में आम आदमी के साथ साथ सरकार भी बहुत चिन्तित रही है। इस महामारी ने 1967 के चौथे आमचुनाव के पश्चात् जब अपना विकराल रूप धारण कर लिया। तब सरकार को विवश होकर दल–बदल की समस्या से निजात पाने के उद्देश्य से तात्कालिक गृहमन्त्री वाई.पी. चव्हाण की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इस समिति ने 18 फरवरी, 1969 को संसद के सामने दल–बदल को रोकने हेतु एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। इस समिति की प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार हैं–

1. सभी राजनीतिक दल, ऐसी आचारसंहिता स्वीकार करे जिसमें लोकतान्त्रिक संस्थाओं का मूल औचित्य शामिल हो।
2. कोई भी जन–प्रतिनिधि उसी दल का माना जाय जिस दल से वह चुनाव जीतकर आया है।
3. किसी भी दल–बदलू व्यक्ति को मुख्यमन्त्री या प्रधानमन्त्री बिलकुल नहीं बनाया जाय।
4. ऐसे किसी भी व्यक्ति को जो निम्न सदन का सदस्य न हो, प्रधानमन्त्री या मुख्यमन्त्री नियुक्त नहीं किया जाना चाहिये।
5. किसी भी दल–बदलू को एक वर्ष तक मन्त्री, स्पीकर, डिप्टी स्पीकर, संसदीय सचिव आदि किसी भी पद पर नियुक्ति नहीं किया जाना चाहिए। जब तक कि वहाँ से चुनाव लड़कर फिर से निर्वाचित होकर न आ जाय।
6. जो राजनीतिक दल दल–बदलुओं को स्वीकार करता है, उस राजनीतिक दल की मान्यता व चुनाव चिन्ह दो वर्ष तक के लिए समाप्त कर दिया जाय।
7. मन्त्रिमण्डल का आकार सीमित रखा जाय। मन्त्रिमण्डल में सदन की कुल संख्या के 10 प्रतिशत सदस्य ही होने चाहिये।
8. अगर कोई जन–प्रतिनिधि जिस दल से चुनकर आया है, उस दल को छोड़ता है या फिर उसके प्रति निष्ठा का परित्याग करता है तो वह सदन के सदस्य रहने के अयोग्य होगा।

चव्हाण समिति के समक्ष रखे गये अन्य प्रस्तावों पर सदस्यों में तीव्र मतभेद रहा। फिर भी 16 मई, 1973 को तात्कालिक गृहमन्त्री उमाशंकर दीक्षित ने लोकसभा में दल–बदल रोकने के लिए 32वां संविधान संशोधन विधेयक पेश किया। परन्तु यह विधेयक पारित नहीं हो सका।

डॉ. राम सुभगसिंह का मत था कि दल बदल को रोकने का एकमात्र उपाय यही है कि सभी राजनीतिक दल यह आचार संहिता लागू कर लें कि वे दल बदलुओं को स्वीकार नहीं करेंगे। अटलबिहारी बाजपेयी के अनुसार दल बदल करने वाले विधायक को सदस्यता से त्यागपत्र देकर नया चुनाव लड़ना चाहिये। सुरेन्द्रनाथ द्विवेदी का मत था कि जनता को यह अधिकार होना चाहिये कि वह दलबदलू विधायक का प्रत्यावर्तन कर सके।

23.4.2 जनता पार्टी सरकार के प्रयत्न–जब मार्च 1977 में जनता पार्टी सत्तारूढ़ हुई, तब उसके अनेक सदस्यों ने पूरे जोश के साथ दल–बदल निशेद्ध कानून बनाने पर बल दिया ताकि दल बदल रूपी महामारी से भारतीय राजनीति को मुक्त करवाया जा सके। अतः इसके लिए 38वां संविधान संशोधन विधेयक संसद में पेश किया गया। जिसके अनुसार संसद में किसी भी विधेयक पर पार्टी सचेतक व्हिप के विरुद्ध मतदान करने वाले सदस्य की सदस्यता समाप्त करने का प्रावधान था। इसके अलावा यदि कोई संसद या विधानसभा सदस्य को यदि अपने दल से निष्कासित कर दिया जाय तो उसकी सदस्यता भी समाप्त कर दी जायेगी। लेकिन इस विधेयक की भी वही स्थिति हुई जो चव्हाण समिति की हुई अर्थात् यह भी पास नहीं हो सका, क्योंकि सरकार के कई घटकों ने इसका तीव्र विरोध किया। कांग्रेस ने यह आरोप लगाया कि विधेयक के सन्दर्भ में सरकार की नियत साफ नहीं थी।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

23.4.3 दल–बदल रोकने हेतु संविधान संशोधन अधिनियम–जब केन्द्र में रजीव गाँधी की सरकार बनी थी, तब इस दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयास किया गया। कांग्रेस ने 1985 के अपने चुनावी घोषणा पत्र की तर्ज पर दल–बदल रोकने के लिए कानून बनाने का फैसला लिया। अतः तत्कालीन विधिमन्त्री श्री ए.के. सेन द्वारा 30 जनवरी, 1985 को यह विधेयक लोकसभा में पेश किया गया। दोनों सदनों द्वारा इसको पारित करने के बाद 15 फरवरी, 1985 को राष्ट्रपति ने भी हस्ताक्षर कर दिये और यह लागू हो गया। परन्तु इस संशोधन विधेयक पर आधे से अधिक राज्यों का अनुसमर्थन नहीं लिया गया। अतः यह प्रश्न अभी न्यायालय में विचाराधीन है कि इसको राज्यों में लागू किया जाय अथवा नहीं।

23.4.4 52वें संविधान संशोधन अधिनियम–52वें संविधान संशोधन एक्ट के निम्नलिखित लक्षण थे –

1. संसद तथा विधानमण्डलों का कोई सदस्य स्वेच्छा से उस दल या गुट की सदस्यता से त्यागपत्र देता हो, जिसके टिकट व चुनाव चिन्ह पर वह चुनाव जीतकर आया है। उसकी सदस्यता स्वतः ही समाप्त हो जायेगी।
2. कोई भी निर्वाचित सदस्य अपने दल को छोड़कर दूसरे दल में शामिल हो जाता है तो उसकी सदस्यता समाप्त हो जायेगी।
3. कोई एम.एल.ए. या एम.पी. पार्टी सचेतक के व्हिप के खिलाफ मतदान करता है या उसकी अवहेलना करता है या उसकी अनुमति लिए बिना ही मतदान में अनुपस्थित रहता है तो उसकी सदस्यता समाप्त हो जाएगी। लेकिन यदि राजनैतिक दल चाहें तो 15 दिन के भीतर वह उस सदस्य को क्षमा प्रदान कर सकता है।
4. यदि निर्दलीय सदस्य किसी राजनीतिक दल में शामिल हो जाता है तो उसकी सदस्यता समाप्त हो जायेगी।
5. यदि कोई मनोनीत सदस्य छः माह के बाद किसी राजनीतिक दल में शामिल होता है तो उसकी सदस्यता समाप्त हो जायेगी।
6. किसी राजनीतिक दल के विघटन पर सदस्यता समाप्त नहीं होगी, यदि कुल दल के 1/3 सदस्य दल छोड़ दें।
7. यदि किसी दल के कम से कम 2/3 सदस्य विलय को स्वीकृति देते हैं, तो वह दल बदल नहीं कहलायेगा।
8. दल–बदल पर उठे किसी प्रश्न पर अन्तिम निर्णय सदन के अध्यक्ष का होगा और इसमें किसी भी न्यायालय को हस्तक्षेप का अधिकार नहीं होगा।
9. सदन के अध्यक्ष को इस विधेयक पर नियम बनाने का अधिकार होगा।

23.5 दल–बदल रोकने के सुझाव

दल बदल भारतीय राजनीति में कैंसर के समान फैल रहा है, जिसके कारण भारत का सम्पूर्ण राजनीतिक वातावरण दूषित एवं बदनाम हो गया है। यद्यपि भारत की विभिन्न केन्द्र सरकारों द्वारा दल बदल पर अंकुश लगाने के प्रयास भी किए गये तथा 52वां संविधान संशोधन कर कानून भी बनाये गये, लेकिन इसके बावजूद दल बदल की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। जिसके कारण भारतीय संसदीय लोकतन्त्र की जड़ें कमजोर हो रही है। यदि इस पर अंकुश नहीं लगाया गया तो वो दिन दूर नहीं कि भारतीय संसदीय लोकतन्त्र समाप्त हो जायेगा और जिसके पीछे रोने वाला कोई भी नहीं बचेगा। अतः हम दल बदल रोकने के लिए निम्न सुझाव प्रस्तुत कर सकते हैं।

23.5.1 प्रबल लोकमत का निर्माण–लोकमत ही लोकतन्त्र का आधार होता है। जो किसी भी सरकार या शासक को हमेशा इस बात के लिए प्रेरित करता रहता है कि वह देश में स्वस्थ राजनीतिक वातावरण कायम करे। अतः यदि दल–बदल रूपी पौधे को उखाड़ फैंकना है तो सर्वप्रथम प्रबल लोकमत का निर्माण करना होगा। जनमत में इस भावना को खींचना होगा कि वह जाति, धर्म, क्षेत्र आदि से ऊपर उठकर किसी भी दल बदलू नेता को किसी कीमत पर स्वीकार न करे और दल–बदलुओं को इस बात के लिए नसीहत दे दें कि दल बदल करना राजनीतिक आत्महत्या के बराबर है।

23.5.2 दल–बदलुओं को कोई पद नहीं दिया जाय–प्रायः विधायक या सांसद लाभकारी पद प्राप्त करने हेतु दल बदल करते हैं या प्रोत्साहन देते हैं। अतः यह कानून बना दिया जाय कि दल बदलू को 5 वर्ष तक किसी प्रकार का मन्त्री पद, स्पीकर, डिप्टी स्पीकर, संसदीय सचिव या किसी बोर्ड के अध्यक्ष या कोई महत्त्वपूर्ण पद नहीं मिलेगा। तब इस बुराई पर स्वतः ही रोक लग जायेगी।

23.5.3 5 वर्ष तक चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित किया जाय–यदि कोई विधायक दल–बदल करता है तो उसको 5 वर्ष तक किसी भी प्रकार का चुनाव लड़ने से रोक लगा दी जाय। क्योंकि पिछले कुछ समय से देखने में आ रहा है कि नेता किसी पार्टी विशेष की मजबूत स्थिति देख उसमें शामिल हो जाते हैं और सत्तारूढ़ होने पर महत्त्वपूर्ण पद भी प्राप्त कर लेते हैं।

23.5.4 जन–प्रतिनिधि अपनी व अपने रिश्तेदारों की सम्पत्ति की घोषणा करें–दल बदल को रोकने के लिए मेरा यह भी सुझाव है कि विधायक या संसद षपथ ग्रहण से पूर्व अपनी व अपने रिश्तेदारों की चल एवं अचल सम्पत्ति की घोषणा करें, ताकि धन के आधार पर किये जाने वाले दल–बदल की घटनाओं को रोका जा सके। दल–बदलुओं को लाखों रुपया दिया जाता है।यदि सम्पत्ति घोषणा करने के सन्दर्भ नें कानून बना दिया जाय तो इस पर काफी हद तक अंकुश लगाया जा सकता है।

23.5.5 प्रजातान्त्रिक परम्पराओं का विकास–इंग्लैण्ड, आस्ट्रेलिया, कनाडा इटली, अमरीका में अपनी–अपनी स्वस्थ परम्परायें हैं, जिन पर सम्पूर्ण प्रजातान्त्रिक ढांचा टिका हुआ है। जैसे इंग्लैण्ड में दल बदल करना राजनीतिक आत्महत्या के समान है आदि। इस तरह भारत में भी स्वस्थ परम्पराओं का विकास किया जाय।

23.5.6 राजनीतिक दलों को चाहिये कि वे दल बदलुओं को स्वीकार नहीं करें–इस कहावत के मुताबिक न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी की तर्ज पर यदि पार्टियाँ इस प्रकार की संहिता कायम करे कि वे किसी भी कीमत पर दल बदलुओं को स्वीकार नहीं करेंगे तो ऐसी स्थिति में दल बदल पर स्वतः ही विराम लग जायेगा। क्योंकि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

दल बदलुओं को और कहीं ठिकाना नहीं मिलेगा। अतः वे उसी दल में अनुशासनप्रिय सिपाही की भांति रहेंगे।

23.5.7 प्रत्यावर्तन की व्यवस्था–मतदाता को यह अधिकार दिया जाय कि यदि उनका प्रतिनिधि उनके हितों की अनदेखी कर रहा है, देश के राजनीतिक वातावरण को दल बदल, भ्रष्टाचार या किसी अन्य आधार द्वारा प्रदूषित कर रहा है तो वे बहुमत द्वारा प्रस्ताव पास कर अपने प्रतिनिधि को पुनः बुला सकती है। अतः जब कोई विधायक दल बदल करता है तो उसके मतदाता उसको ऐसा करने से रोक सकते हैं और उसे इस बात के लिए विवश कर सकते हैं कि यदि वह दल बदल करेगा तो उसको प्रत्यर्पण द्वारा पुनः बुला लिया जायेगा।

23.5.8 कानूनों को ईमानदारी से लागू किया जाय–यद्यपि दल बदल को रोकने के लिए अनेक कानून बनाये गये हैं जैसे 52वां संविधान संशोधन एक्ट प्रमुख है। परन्तु आज आवश्यकता इस बात की है कि इन कानूनों को ईमानदारी व निष्ठा के साथ क्रियान्वित किया जाय , ताकि दल बदल को रोका जा सके। जैसे – यह प्रावधान किया गया है कि 1/3 सदस्यों के पार्टी छोड़ने पर दल बदल कानून लागू नहीं होगा परन्तु इसके बावजूद ऐसी अनेक घटनायें दृष्टिगोचर होती है।

विशेष :– उत्तरप्रदेश विधानसभा में कल्याण सिंह सरकार को समर्थन न देने के मुद्दे को लेकर बहुजन समाजवादी पार्टी में विभाजन हो गया। उसके 12 विधायकों ने कल्याण सिंह सरकार का न केवल समर्थन किया, अपितु अधिकांश मन्त्री भी बन गये थे। लेकिन बी.एस.पी. की कुल सदस्य संख्या के आधार पर इन 12 जनतान्त्रिक बहुजन समाजवादी के विधायकों पर दल बदल कानून लागू होता था परन्तु इन पर कोई कार्यवाही नहीं हुई है।

23.5.9 दल बदलू पहले त्याग पत्र दे–यदि कोई सदस्य दल बदल करना चाहता है तो सबसे पहले वह त्याग पत्र दे क्योंकि नैतिकता का भी यही तकाजा है। आप त्यागपत्र देकर पुनः निर्वाचित होकर आये ताकि आप (जनप्रतिनिधि) दूध से धोये हुए के समान पवित्र रह सके। यदि इस तरह का कानून बना दिया जायेगा तो निश्चित तौर पर दल बदल की घटनाओं पर अंकुश लगेगा, क्योंकि कोई भी पुनः निर्वाचन का खतरा मोल लेना नहीं चाहेगा।

23.5.10 निर्दलीयों पर प्रतिबन्ध–यद्यपि मेरे इस विचार की यह कहकर आलोचना की जायेगी कि यह व्यक्ति की राजनीतिक स्वतन्त्रता के हनन का प्रतीक है लेकिन समय के तकाजे को ध्यान में रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि निर्दलीय व्यक्ति को चुनाव लड़ने पर प्रतिबन्धित किया जाय। मेरे विचारों में निर्दलीय ही दल–बदल रूपी वृक्ष को सींच रहे हैं, क्योंकि यह नित नये स्वार्थों की पूर्ति के लिए सरकारों का तख्ता पलटते रहते हैं।

23.5.11 पार्टी एकता को प्रोत्साहन–संगठन व सरकार दोनों को चाहिये कि वे इस प्रकार के ठोस कदम उठाये, जिनसे पार्टी में अनुशासन पनपे तथा पार्टी एकता के सूत्र में बंधी रहे। पिछले कुछ समय से यह देखने में आ रहा है कि सत्ता व संगठन के बीच टकराव ने दल–बदल को बढ़ाया है। इसके अलावा सरकार द्वारा जब पार्टी जनों के हितों को अनदेखा किया जाता है, तब यह परिस्थितियाँ दल बदल को प्रोत्साहन देती है।

23.5.12 दल–बदल से सम्बद्ध मुकदमों का निपटारा षीघ्र हो–भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के लिए सबसे दुर्भाग्य की बात यह है कि हमारी न्याय व्यवस्था अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह सही ढंग से नहीं कर पा रही है। दल–बदल से सम्बन्धी अनेक मुकदमे काफी लम्बे समय से विचाराधीन हैं। अतः हम दल–बदल रोकने के लिए यह सुझाव देते हैं कि दल–बदल सम्बन्धी मुकदमों का निपटारा षीघ्र हो ताकि भारतीय राजनीतिक वातावरण को प्रदूषित होने से बचाया जा सके तथा दल–बदल पर अंकुश लगाया जा सके।

23.5.13 मन्त्रिमण्डल का आकार सीमित रखा जाय–दल–बदल को यदि रोकना है तो इसके लिए मन्त्रिमण्डल का आकार लघु किया जाय अर्थात् यह कानून बना दिया जाय कि सदन की कुल सदस्य संख्या के 10 प्रतिशत से ज्यादा संख्या का मन्त्रिमण्डल नहीं बनना चाहिये। यदि ऐसा होता है तो विधायकों को मन्त्री पद का प्रलोभन देकर दल बदल नहीं करवाया जा सके।

विशेष :– उत्तरप्रदेश में कल्याणसिंह द्वारा उन सभी विधायकों को मन्त्री बनाया गया था, जिन्होंने कांग्रेस, जनतादल, बी.एस.पी. तथा निर्दलीय छोड़ सरकार का समर्थन किया है। जिसके कारण कुल मन्त्रियों की संख्या 94 थी।

विशेष :– इस तरह 1993 के बाद राजस्थान में अल्पमत वाली शेखावत सरकार द्वारा बहुमत प्राप्त करने के लिए बहुत से निर्दलीय व जनता दल के दल बदलुओं को मन्त्री बनाया गया।

23.5.14 स्पीकर को चाहिये कि दल बदल सम्बन्धी निर्णय दलीय हितों से ऊपर उठकर ले–यदि भारतीय संसदीय इतिहास को देखें तो ऐसी घटनायें अनेक बार दिखाई पड़ती हैं, जब दल बदल के निर्णय लेने में स्पीकर ने दलगत राजनीति का सहारा लिया।

विशेष :– जब 12 बी.एस.पी. विधायकों के आधार पर इन पर दल–बदल कानून लागू होता है परन्तु विधानसभा स्पीकर श्री केशरी नाथ त्रिपाठी ने ऐसा नहीं किया, क्योंकि यदि उन्हें अयोग्य करार दिया जाता तो कल्याण सिंह सरकार अल्पमत में आ जाती।

अतः स्पीकर को चाहिये कि वह दलगत राजनीति से ऊपर उठकर निर्णय लें ताकि भारत में स्वस्थ लोकतन्त्र का विकास किया जा सके।

23.6 सारांश

अतः आज दल बदल के कारण लोकतन्त्र खोखला होता जा रहा है और दल–बदल के कारण ही भारतीय लोकतन्त्र का भविष्य अधर में लटक गया है। परिणामतः

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

राजनीतिशास्त्री संसदात्मक पद्धति का विकल्प ढूंढने में लग गए।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. दल–बदल के कारणों को स्पष्ट कीजिये।
2. दल–बदल भारतीय संसदीय लोकतन्त्र के लिए कैंसर के समान है। इस कथन के आधार पर इसके दुष्परिणामों की समीक्षा कीजिये।
3. दल–बदल रोकने के सरकारी स्तर पर क्या प्रबन्ध किये गये हैं?
4. दल–बदल रोकने के लिए ठोस सुझाव दीजिये।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. दल–बदल से राजनीतिक दलों में विखण्डन की प्रवृत्ति बढ़ी है। स्पष्ट कीजिये।
2. दल–बदल से राजनीतिक अस्थिरता को कैसे प्रोत्साहन मिला है?
3. वे कौन–सी परिस्थितियाँ हैं, जो दल–बदल को बढ़ावा दे रही हैं? कोई पाँच।
4. 12वें संविधान संशोधन में दल–बदल रोकने के क्या प्रावधान किये गये हैं?

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. रजनी कोठारी दल–बदल को क्या मानते हैं?
2. उस दल का नाम बताओ जिसका अस्तित्त्व दल–बदल के कारण समाप्त हो गया।
3. दल–बदल रोकने के लिए कौनसा संविधान संशोधन किया गया है?

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

सुभाष कश्यप, दल–बदल और राज्यों की राजनीति, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ।

रजनी कोठारी, भारत में दल–बदल, एशिया पब्लिकेशन्स हाऊस, बम्बई।

रामाअवतार शर्मा, सुषमा यादव, भारतीय राजनीति ज्वलन्त प्रश्न, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निर्देशालय, दिल्ली विश्व विद्यालय, दिल्ली।

एस.एन. जैन, भारतीय संविधान शासन और राजनीति, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–24 : भारत में संयुक्त सरकारें

संरचना

24.0 उद्देश्य

24.1 प्रस्तावना

24.2 भारतीय राजनीति और मिलीजुली सरकारें

24.2.1 राज्य स्तर पर मिलीजुली सरकारें

24.2.2 केन्द्रीय स्तर पर मिलीजुली सरकारें

24.3 मिलीजुली सरकारों की विशेषताएँ

24.3.1 नकारात्मक सोच पर आधारित

24.3.2 वैचारिक एकता का अभाव

24.3.3 प्रधानमन्त्री और मुख्यमन्त्री जैसे पदों का ह्रास

24.3.4 संसदीय सिद्धान्तों के प्रतिकुल आचरण

24.3.5 दल–बदल को बढ़ावा

24.3.6 भागीदार दलों के बीच मतभेद और तनाव

24.3.7 राजनीतिक अस्थिरता को बढावा

24.4 संयुक्त सरकारों की संस्कृति विकसित करने की आवश्यकता

24.5 सारांश

24.0 उद्देश्य

इस खण्ड में आप पढ़ेंगे कि किस तरह राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय राजनैतिक दल समान विचारधारा के आधार पर संयुक्त सरकारों का गठन करते हैं। प्रस्तुत अध्याय में निम्न जानकारी प्राप्त करेंगे–

- संयुक्त सरकारों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि जान पाएँगे।
- संयक्त सरकारों के बदलते आयामों की समीक्षा कर सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

भारतीय संविधान द्वारा केन्द्रीय और राज्य स्तर पर संसदीय व्यवस्था को अपनाया गया है, जिसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता हैं, कार्यपालिका का गठन व्यवस्थापिका में से ही होता है और कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) व्यवस्थापिका (संसद) के प्रति सामुहिक रूप से उत्तरदायी होती हैं।

संसदीय शासन प्रणाली में सर्वप्रथम केन्द्रीय और राज्यीय स्तर पर व्यवस्थापिका लोकप्रिय सदन लोकसभा / विधानसभा का चुनाव होता हैं इनमें जिस पार्टी को स्पष्ट बहुमत मिल जाता हैं तब राष्ट्रपति / राज्यपाल सदन में बहुमत दल के नेता को प्रधानमन्त्री / मुख्यमन्त्री पद पर मनोनीत करता हैं तथा मन्त्रिमण्डल के गठन के साथ ही एकदलीय सरकार का निर्माण हो जाता है, लेकिन यदि लोकप्रिय सदन में किसी भी एक पार्टी को स्पष्ट बहुमत न मिले, लोकसभा तथा विधानसभा में त्रिशंकु की स्थिति बनती हैं, ऐसी परिस्थितियों में कुछ राजनीतिक दल मिलकर सरकार का गठन करते हैं। उसे संयुक्त सरकार कहा जाता हैं। ऑग के अनुसार मिलीजुली सरकार, से सहयोगी प्रबन्ध का नाम हैं, जिसमें विभिन्न राजनीतिक दलों के सदस्य सरकार के गठन या मन्त्रिमण्डल के निर्माण के लिये एक हो जाते हैं।

भारत विविधता वाला राष्ट्र हैं। यहाँ अनेक भाषा, क्षेत्र, धर्म, साम्प्रदाय के लोग निवास करते है। अतः लोकतांत्रिक व्यवस्था के लिए यह आवश्यक बन जाता हैं कि सभी वर्गों के लोगों को उचित प्रतिनिधित्व मिले ताकि उनके हितों की उचित रक्षा सुनिश्चित हो सके। प्रायः ऐसा देखने में आता हैं कि एक दलीय सरकार में यह सम्भव नहीं है कि इसकी परिणीति तो गठबन्धन सरकार में ही हो सकती है क्योंकि इसमें सभी क्षेत्रों एवं वर्गो से जुड़े राजनीतिक दल होते हैं। अतः आज आवश्यकता इस बात की हैं कि गठबन्धन सरकारों और अधिक मजबुत एवं प्रभावी बनाया जाए, गठबन्धन सरकारों की संस्कशति को प्रोत्साहन दिया जाए परन्तु भारत में बनने वाली गठबन्धन सरकारें सभी वर्गों, समुदायों, धर्मो, क्षेत्र भाषा का प्रतिनिधित्व नहीं करती है। यह केवल राजनीतिक गठबन्धन हैं जिसका एक मात्र उद्देश्य सत्ता सुख का उपभोग करना है। इसके लिए वे अपनी नीति सिद्धान्तों, विचारधारा एवं कार्यक्रमों को भी ताक में रख देते हैं। वर्तमान गठबन्धन सरकार पर भी यही बात लागू होती हैं। देश की कुल जनसंख्या का 20 प्रतिशत अल्पसंख्यक समुदाय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

का हैं परन्तु मंत्रिमण्डल में उनका प्रतिनिधित्व नगण्य हैं इस स्थिति का सीधा प्रभाव इस समुदाय के विकास पर पड़ रहा है, क्योंकि यहाँ की राजनीति में जाति एवं साम्प्रदाय जैसे तत्व बहुत हावी हैं, प्रत्येक की यह चाहत होती हैं कि उनके अधिक से अधिक उम्मीदवार जीते ताकि उनकी समस्याओं का शीघ्र समाधान हो सके और समुचित विकास हो अतः हमारे सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कशतिक मूल्यों में गठबन्धन की संस्कशति विकसित करनी होगी।

भारतीय राजनीति से अब एक दल के बहुमत वाली सरकारों के दिन लद चुके हैं। जिसे सभी राजनीतिक दल स्पष्ट रूप से स्वीकार कर रहें हैं परन्तु दुर्भाग्य की बात यह हैं कि इतने लम्बे समय के बावजुद हम हमारी सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में गठबन्धन की संस्कशति विकसित नहीं कर पाए और नहीं उसे जानने व समझने का कोई प्रयास कर रहा हैं। स्थिति यह पनप रही हैं कि जो भी मिली–जुली सरकार प्रयोग में लायी गयी हैं उसे विपक्ष से उतना खतरा नहीं रहता जितना खतरा उसे अपने सहयोगी दलों से रहता हैं जो अपने निहित स्वार्थों के लिए न दबाव डालते हैं अपितु सरकार की नईया को मझधार में डुबों देते हैं। इसका हमारा इतिहास साक्षी हैं । सर्वप्रथम 1967 में बनी इन्दिरा गांधी की गठबन्धन सरकार वामपंथी दबाव के कारण 5 दलों की सरकार बनी परन्तु यह अपनी आपसी फुट का शिकार हो गई और 1977 में चार गैर कांग्रेसी दलों ने मिलकर जनता पार्टी का गठन किया और श्री मोरारजी देसाई को प्रधानमन्त्री बनाया लेकिन यह भी आपसी फूट का शिकार हो गये और सरकार का पतन हो गया। इसके पश्चात् चौधरी चरणसिंह के नेतृत्व में कांग्रेस के बाहरी सहयोग से सरकार बनी लेकिन सदन में बहुमत प्रस्तुत करने से पहले ही त्यागपत्र देना पड़ा क्योंकि कांग्रेस ने समर्थन देने से इन्कार कर दिया था। 1989 को वी0पी0सिंह के नेतश्त्व में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार बनी जिसको मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी व भाजपा बाहर से समर्थन कर रहें थे। यह सरकार भी आपसी फुट का शिकार बन गई। पहले भाजपा ने समर्थन वापस ले लिया और उसके बाद चन्द्रशेखर व देवीलाल ने जनता दल का विभाजन करवा कर 1990 में कांग्रेस के सहयोग से सरकार बनायी परन्तु उसका भी वहीं हश्र हुआ जो अन्य गठबन्धन सरकारों का हुआ। 1996–1997 में देवगौड़ा व गुजराल के नेतृत्व में भी गठबन्धन सरकार कांग्रेस के सहयोग से बनी। एक बार पुनः गठबन्धन सरकार अपना कार्यकाल को पूरा करने में असफल हुई। 1998 में वाजपेयी के नेतृत्व में बनी मिली जुली सरकार बनी परन्तु उनके एक सहयोगी। DMK द्वारा समर्थन वापस ले लेने के कारण सरकार का 13 माह में पतन हो गया। वर्तमान् में भी वाजपेयी के नेतृत्व में 24 दलों के सहयोग से मिली–जुली सरकार कार्यरत् हैं।

24.2 भारतीय राजनीति और मिलीजुली सरकारें

वर्तमान समय में भारतीय राजनीति में गठबन्धन या संयुक्त सरकारों का दौर चल रहा हैं । इनका अध्ययन हम दो स्तरों पर कर सकते हैं –

प्रथम – राज्यों के स्तर पर मिलीजुली सरकारें

द्वितीय – केन्द्र के स्तर पर मिलीजुली सरकारें

24.2.1 राज्य स्तर पर मिलीजुली सरकारें–यदि भारतीय राजनीति में राज्यों के स्तर पर मिलीजुली सरकारों का अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि केवल केरल ऐसा राज्य हैं जहाँ शुरू से अर्थात् 1951–52 से गठबन्धन सरकारों का दौर चल रहा हैं । यहाँ के मतदाता ने कभी भी किसी एक पार्टी विशेष के पक्ष में मत नहीं दिया है । इसके अलावा शेष राज्यों की राजनीति में 1967 तक कांग्रेस का एकछात्र राज रहा । लेकिन इसके बाद नौ राज्यों में पहली बार गैर कांग्रेसी संयुक्त सरकारें बनती हैं । तब से अधिकांश राज्यों में संयुक्त सरकारों के प्रयोग होते रहे हैं । इनके सम्बन्ध में यह कहा जाता हैं कि इनकी सोच पूर्णतः नकारात्मक होती हैं, जिन्हें और विचारधारा से कोई लेना देना नहीं होता । वे तो बस केवल पद लोलुपता एवं सत्ता सुख के चलते आपस में हाथ मिलाते हैं । इसी कारण संयुक्त सरकारों के सामने अनेक प्रकार की चुनौतियां आती है और अन्ततः आपसी फुट का शिकार बन धाराशयी हो जाती हैं । भारतीय राजनीति में अधिकांश गठबन्ध चुनाव के पश्चात् बनते हैं । कुछ राज्यों में तो एक लम्बे अर्से से गठबन्धन सरकारों का दौर सफलतापूर्वक चल रहा हैं लेकिन दुर्भाग्यवश अधिकांश राज्यों में गठबन्धन सरकारें अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर पायी हैं । गठबन्धन सरकारों पर ऐसा आरोप लगाया जाता हैं कि मुख्यमन्त्री अपना ध्यान विकास कार्यों में लगाने के बजाय अपने गठबन्धन के सहयोगियो को खुश करने में लगाते हैं । वर्तमान समय में भी अनेक राज्यों में गठबन्धन सरकारें कार्यरत है जिनमें पश्चिम बंगाल, केरल, उड़ीसा, महाराष्ट्र, उत्तरप्रदेश, बिहार, जम्मु–कश्मीर आदि प्रमुख हैं।

24.2.2 केन्द्र स्तर पर मिली–जुली सरकारें–भारत में मुख्यतः केन्द्र में एकदलीय प्रधानता वाली सरकारें रही हैं, लेकिन अनेक बार मिलीजुली सरकारों की भी स्थापना हुई हैं । भारतीय संसदीय इतिहास मे अब तक एक भी केन्द्रीय स्तर पर मिलीजुली सरकारें अपना कार्यकाल पुरा नहीं कर पायी हैं परन्तु उम्मीद की जाती हैं कि वर्तमान में वाजपेयी सरकार जो 24 दलों के सहयोग से चल रही हैं वह अपना कार्यकाल पूरा कर लेगी । भारत में प्रथम बार 1969 में श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा भारतीय साम्यवादी दल, द्रुमक तथा अन्य छोटे राजनीतिक दलों के साथ मिलकर सरकार बनायी परन्तु वह डेढ़ वर्ष तक चल सकी । 1977 में जनता पार्टी की सरकार छठी लोकसभा चुनाव के बाद बनी । जनता पार्टी का गठन चार प्रमुख दलों ने मिलकर चुनाव पूर्व किया था । तकनीकी आधार पर तो इसे संयुक्त सरकार नहीं कहा जा सकता लेकिन घटक दलों की नीति विचारधारा एवं कार्यक्रम के अनुसार मिली–जुली सरकार थी । इसने मोरारजी देसाई के नेतश्त्व में 27 माह तक अपना कार्यकाल चलाया । 1979 में जनता पार्टी से अलग होकर चौधरी चरणसिंह ने कांग्रेस के बाहरी सहयोग से एक अल्पमतीय मिलीजुली सरकार बनायी लेकिन इसका पतन भी पाँच माह के अन्दर हो गया। 1989 में विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतश्त्व में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार भाजपा और वामपंथी दलों के बाहरी समर्थन से बनी लेकिन भाजपा द्वारा समर्थन वापस लेने के कारण 11 माह में इस सरकार का पतन हो गया । इसके अलावा अन्य घटक दलों मे भी व्यापक खींचतान देखी गयी थी । 1990 में चन्द्रशेखर ने जनता दल से अलग होकर 54 सांसदों के साथ कांग्रेस के बाहरी समर्थन से एक अल्पमतीय संयुक्त सरकार का निर्माण किया । परन्तु कांग्रेस के साथ मतभेद के चलते 6 मार्च 1991 को उन्हें त्यागपत्र देना पड़ा । 1996–1998

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के बीच की कालवधि में तीन मिलीजुली सरकारें बनी । प्रथम वाजपेयी के नेतश्त्व में जो 13 दिन चली, द्वितीय देवगौड़ा एवं तश्तीय गुजराल के नेतश्त्व में मिलीजुली सरकार बनी । परन्तु इनमें से कोई भी अपना कार्यकाल पुरा नहीं कर पाया । मार्च 1998 में वाजपेयी के नेतश्त्व में एक ओर संयुक्त सरकार बनी जिसे 19 दलों का सहयोग प्राप्त था लेकिन दलों में आपसी मतभेद के कारण विशेषत: जयललिता की नीति के चलते इस सरकार का 13 माह में ही पतन हो गया । अक्टूबर 1999 से आज तक वाजपेयी के नेतश्त्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन की मिलीजुली सरकार कार्य कर रही हैं जिसे 24 दलों का समर्थन प्राप्त हैं । यद्यपि इस सरकार के सामने भी अनेक समस्यायें एवं चुनौतियां आती रही हैं लेकिन वाजपेयी अपने कुशल नेतश्त्व के चलते उन्हें दुर कर लेते हैं ।

24.3 मिलीजुली सरकारों की विशेषताएँ

24.3.1 नकारात्मक सोच पर आधारित–भारत में केन्द्रीय और राज्य स्तर पर बनने वाली सभी संयुक्त सरकारें नकारात्मक सोच पर आधारित होती है। जहाँ पहले इस प्रकार की सरकारों का निर्माण कांग्रेस को सत्ता से बाहर करने के लिये किया जाता था तो आज भाजपा को सत्ता से दूर करने के लिये किया जाता हैं ।

24.3.2 वैचारिक एकता का अभाव–संयुक्त सरकारों में शामिल दलों के बीच वैचारिक ,कता का अभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता हैं, क्योंकि जब वे सरकार बनाने के लिये हाथ मिलाते हैं तो केवल उन्हें सत्ता सुख ही दिखायी देता हैं । इस दौरान वे अपनी पार्टी की विचारधाराओं एवम् कार्यक्रमों को तिलांजली दे डालते हैं । इस तरह संयुक्त सरकारों में वैचारिक एकता के स्थान पर अवसरवाद को अधिक महत्व दिया जाता हैं अन्तोगत्वा ऐसी सरकारों का पतन भी अतिशीघ्र हो जाता हैं।

24.3.3 प्रधानमन्त्री और मुख्यमन्त्री जैसे पदों का ह्रास–संयुक्त सरकारों के कारण प्रधानमन्त्री और मुख्यमन्त्री जैसे महत्वपूर्ण प्रभावशाली पदों का ह्रास तीव्र गति से हुआ हैं, क्योंकि ये अपने घटक दलों से विचार–विमर्श किये बिना कोई फैसला नहीं ले सकते तथा इन्हें अपना अधिकांश समय सहयोगी दलों को खुश करने में लगाना पड़ता हैं जिससे विकास कार्यों पर प्रतिकुल असर पड़ता हैं। इस तरह संयुक्त सरकारों का मुख्यमन्त्री / प्रधानमन्त्री बैशाखियों पर चलने वाला होता हैं। जिन्हें हर क्षण पद की असुरक्षा की चिन्ता सताती रहती हैं। इस कारण वे कोई भी कठोर फैसला लेने से परहेज करते हैं।

24.3.4 संसदीय सिद्धान्तों के प्रतिकुल आचरण–संसदीय शासन प्रणाली में कार्यपालिका (मन्त्रिमण्डल) व्यवस्थापिका के प्रति सामुहिक रूप से उत्तरदायी होता हैं। लेकिन संयुक्त सरकारों के मन्त्रिमण्डल में न केवल सामुहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की धज्जियाँ उड़ायी जाती हैं, अपितु मन्त्रियों के या सहयोगी दलों के द्वारा सार्वजनिक स्थलों पर एक–दूसरे की आलोचनाएँ की जाती हैं। कई बार तो मन्त्री स्वयं सरकार के विरूद्ध चलने वाले आन्दोलनों को हवा देते हैं।

24.3.5 दल–बदल को बढ़ावा–संयुक्त सरकारों के कारण दल–बदल जैसी राजनीतिक महामारी को प्रोत्साहन मिला है। सरकार में शामिल दल अधिक लाभ के लिये दल–बदल करते हैं, ऐसा होना आम बात हैं। केन्द्रीय स्तर पर अब तक छ: संयुक्त सरकारें दल–बदल के कारण ताश के पत्तों की तरह धराशयी हो गयी।

विशेष : 17 अप्रेल 1999 को वाजपेयी सरकार का 13 माह के भीतर पतन का कारण जयललिता द्वारा राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन का साथ छोड कांग्रेस के साथ दामन थामना था।

24.3.6 भागीदार दलों के बीच मतभेद और तनाव–इन संयुक्त सरकारों का प्रत्येक दल अपने निहित स्वार्थों की पूर्ति में लगा रहता हैं तथा उनकी नजर आगामी चुनावों पर लगी रहती हैं, अत: जब भी सरकार कोई ऐसा निर्णय ले जो उनके हितों के विरूद्ध हो तो वे आलोचना करने से नहीं चुकते। इस कारण सहयोगी दलों में मतभेद हमेशा बना रहता हैं।

विशेष : 24 मई, 2003 को केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से श्री अजीतसिंह को हटाने के कारण राष्ट्रीय लोकदल ने एन.डी.ए. सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया और उसने उत्तरप्रदेश की मायावती सरकार से भी समर्थन वापस ले लिया हैं।

24.3.7 राजनीतिक अस्थिरता को बढ़ावा–जिस उम्मीद, आशा एवं उत्साह से जनता सत्ता परिवर्तन कर सत्तारूढ़ को सत्ता से बाहर कर छोटे एवं अन्य दलों को अवसर देती हैं जिनके पास पर्याप्त बहुमत नहीं होता हैं। अत: जब इस प्रकार की संयुक्त सरकारे बनेगी तो वे अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर पाती हैं, क्योंकि आपसी मतभेदों ,वं राजनीतिक उठापठक के चलते वे समय से पूर्व ही अपना अस्तित्व खो देती हैं। यही कारण हैं कि केन्द्र में आज तक किसी भी संयुक्त सरकार ने अपना कार्यकाल पूरा नही किया हैं। यहीं स्थिति राज्य स्तर पर देखी जा सकती हैं। केरल और पश्चिमी बंगाल जैसे राज्यों के अपवाद को छोड़कर अन्य राज्यों में संयुक्त सरकारों का प्रयोग प्राय: असफल ही रहा हैं।

24.4 संयुक्त सरकारों की संस्कृति विकसित करने की आवश्यकता

आज जब भारत में केन्द्रीय और राज्यीय दोनों ही स्तरों पर संयुक्त सरकारों का दौर प्रारम्भ हो गया हैं लेकिन हमारे राजनीतिक दल और आम जनता अपने आपको इन संयुक्त सरकारों की संस्कशति की ओर नहीं ढ़ाल पा रही है जिसका नतीजा यह हो रहा हैं कि संयुक्त सरकारों के प्रयोग असफल पर असफल होते जा रहे हैं । अब प्रश्न यह उठता हैं कि भारत में गठबन्धन सरकारें क्यों असफल हो रही है ? यूरोप से लोकतांत्रिक एवं मुक्त समाज में गठबन्धन सरकारों का बोलबाला हैं और यहाँ तीन राष्ट्रों को छोड़कर अन्य सभी जगह मिली–जुली सरकारों की संस्कशति विकसित हुई हैं । यह सरकारें सफलता पूर्वक अपने सौंपान तय कर रही हैं । परन्तु भारत में इसके विपरित स्थिति हैं। इसके सन्दर्भ में मेरी धारणा यह है कि हमारे यहाँ बनने वाली गठबन्धन सरकारों की सोंच एवं उद्देश्य नकारात्मक होती है। प्राय: देखने में यह आता हैं कि भारत में बनने वाली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गठबन्धन सरकारें या तो कांग्रेस को सत्ता से बाहर रखने के लिए बनती है या भाजपा को सत्ता से बाहर रखने के लिए बनायी जाती हैं । भारत में गठबन्धन सरकार के घटक दलों में भी व्यापक नीतिगत मतभेद होता हैं, परन्तु वे केवल राजनीतिक स्वार्थ एवं पदलोलुपता के लिए सरकार में शामिल होती हैं और कुछ समय पश्चात् स्वभाविक रूप से मतभेद उभर कर सामने आते हैं जिसका सीधा असर सरकार पर पड़ता हैं । इसके आंतेरिक्त भारत में संयुक्त सरकारों को जितना खतरा विपक्ष से नहीं होता उतना खतरा अपने सहयोगी दलों से होता हैं । भारत में राजनीतिक दल राष्ट्रीय हितों को महत्व न देकर दलगत हितों को ज्यादा अहमियत देते हैं । इसके अलावा भारत में गठबन्धन सरकार की संस्कशति भी विकसित नहीं हो पायी हैं ।

आज जब गठबन्धन सरकारों का युग आ गया हैं तो हमें गठबन्धन की संस्कशति को विकसित करना होगा । भारत के बड़े हो या छोटे सभी राज्य गठबन्धन सरकारों की ओर अग्रसर हो रहे हैं । यदि गठबन्धन संस्कृति को विकसित नहीं की गयी, तो जो बडा दल नेतृत्व कर रहा हैं, उसकी विश्वसनीयता घट जाएगी और वह आगामी चुनाव में स्वयं एक छोटा दल बन कर रह जाएगा । ऐसी भी स्थिति आ सकती हैं कि कोई भी बड़ा दल गठबन्धन सरकार बनाने से कतराएगा फिर अनिश्चिता का वातावरण और गरमाएगा और देश कमजोर होगा । भारत जैसे विशाल एवं विविधता वाले राष्ट्र के लिए अनिश्चितता ठीक नहीं हैं । इस बात का इतिहास गवाह है कि जब–जब केन्द्र सरकार कमजोर हुई हैं, तब–तब हमें नुकसान उठाना पड़ा हैं । इसलिए हमें गठबन्धन की संस्कृति और मूल्यों की और ढलना पड़ेगा । राजनेताओं को अपनी जिम्मेदारी समझनी होगी । यदि घटक दलों में कोई आपस में विवाद हैं तो उसका सार्वजनिक प्रसार न करें बल्कि आपस में मिलकर दूर कर लें । यदि मंत्रिमण्डल में सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होगा तो संसदीय लोकतंत्र का महल ताश के पत्तों की तरह ढह जाएगा ।

भारत विविधता वाला समाज होने के कारण बहुदलीय राजनीतिक दलों का उदय होना स्वभाविक हैं अतः एक दलीय प्रधानता वाली सरकार या राष्ट्रीय राजनीतिक दलों की सरकारों द्वारा उनके हितों की पूर्ति न कर पाने के कारण छोटे व क्षेत्रीय दलों का उदय हो रहा है । जो राष्ट्रीय राजनीति में निर्णायक भूमिका अदा कर रहें हैं ।

गठबन्धन सरकार की मजबुती के नुस्खे :–

1. गठबन्धन केवल राजनीतिक स्तर पर न करके भारतीय समाज की विविध स्थिति को ध्यान में रखकर बनाया जाए ।
2. जिस प्रकार एक दल की सरकार में सभी सदस्य सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना एवं दलीय अनुशासन के व्हीप का उल्लंघन नहीं करते ठीक इसी प्रकार के नियम गठबन्धन सरकार के लिए बनाए जाए ।
3. गठबन्धन समान राजनीतिक विचारधारा वाली पार्टीयों में होना चाहिए । इसके अलावा गठबन्धन चुनाव पश्चात् न होकर चुनाव पूर्व होना चाहिए ।
4. संविधान संशोधन करके यह कानून बनाया जाएँ किए एक निश्चित समयावधि के बाद ही अविश्वास प्रस्ताव लाया जाए ।
5. घटक दल संकीर्ण सोच से ऊपर उठकर व्यापक एवं राष्ट्रीय सोच विकसित करें ।
6. अविश्वास प्रस्ताव लाने से पूर्व विपक्ष अपने सरकार बनाने के प्रारूप को राष्ट्रपति के सम्मुख स्पष्ट रूप से रखे ताकि राजनीतिक अनिश्चिता न फैले ।
7. गठबन्धन सरकार का आधार एवं सोच नकारात्मक न होकर सकारात्मक होनी चाहिए ।
8. घटक दल अपने आपसी विवादों को मिल बैठकर सुलझाने और आपसी मतभेदों को सार्वजनिक करने से परहेज रखें, क्यों कि ऐसा होने से सरकार की साख गिरती हैं ।
9. जो सहयोगी दल गठबन्धन का साथ छोड़ते हैं उन पर भी दल–बदल निरोधक कानून लागू किया जाए ।

24.5 सारांश

उपर्युक्त विवेचना के तत्पश्चात् हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि भारतीय राजनीति निश्चित तौर पर संयुक्त सरकारों की ओर बढ रही हैं । अतः हमें इसकी ओर ढलना होगा । प्रायः देखने में आ रहा हैं कि संयुक्त सरकारों का प्रयोग असफल सिद्ध हो रहा है, लेकिन वर्तमान केन्द्र में श्री अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व वाली एन.डी.ए. सरकार अपना कार्यकाल पुरा करेगी । यह हमारे राजनीतिक दलों, जनप्रतिनिधियों एवं आम जनता के लिये एक प्रेरणा का स्त्रोत होगी । जिस प्रकार वाजपेयी 24 घोड़ों के रथ को लेकर सरकार को सफलतापूर्वक चला रहे हैं वे अपने आप में तारीफे काबिल हैं । संसदीय लोकतन्त्र की बुनियाद भी यहीं कहती हैं कि सरकार में शामिल सदस्यों को सहयोग की नीति के अनुसार कार्य करने चाहिए ।

कुछ राजनीतिज्ञ और संविधान विशेषज्ञ गठबन्धन सरकारों की असफलता के चलते संसदीय लोकतन्त्र के विकल्प की बात कर रहे हैं परन्तु हमारा यह मत हैं कि यह प्रयोग भारत जैसे समाज के लिये उपयुक्त और तर्कसंगत हैं । बस केवल आवश्यकता इस बात की हैं कि हम हमारे में गठबन्धन की संस्कृति को विकसित करें ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. क्या भारतीय राजनीति मिलीजुली सरकारों की ओर अग्रसर हो रही है ? सिद्ध कीजिये।
2. संयुक्त सरकारों की विशेषताओं पर प्रकाश डालिये

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. गठबन्धन सरकारों को मजबुत करने के लिये सुझाव दीजिये
2. वर्तमान् राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन सरकार पर प्रकाश डालिये

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत के किस राज्य में सर्वप्रथम गठबन्धन सरकार बनी ?
2. केन्द्र में सर्वप्रथम कब और किसके नेतश्त्व में गठबन्धन सरकार अस्तित्व में आयी ?
3. संयुक्त सरकारों की असफलता का प्रमुख कारण क्या है ?
4. वर्तमान् में किन राज्यों में संयुक्त सरकारें कार्यरत हैं ?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

डॉ.बी.एल.फड़िया, भारतीय शासन और राजनीति साहित्य भवन पब्लिकेशन आगरा

सुशीला कौशिक, भारतीय शासन और राजनीति हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

संवर्ग–5 : भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्त्व

इकाई–25 : जाति

संरचना

25.0 उद्देश्य

25.1 प्रस्तावना

25.2 भारत में जाति का राजनीतिकरण

- 25.2.1 जाति व्यक्ति को बांधने की कड़ी
- 25.2.2 एकीकरण की प्रवृत्ति पर बल
- 25.2.3 जातियों का प्रयोग वोट बैंक के रूप में
- 25.2.4 राजनीति में सक्रियता
- 25.2.5 चुनावों में अपनी मांगे रखना
- 25.2.6 स्थानीय स्तर पर व्यापकता
- 25.2.7 जाति और राजनीति के संबंधों में गतिशीलता
- 25.2.8 जातियों में आपसी बिखराव
- 25.2.9 जातिगत संघर्ष

25.3 राजनीति में जाति की भूमिका

- 25.3.1 निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करना
- 25.3.2 राजनीतिक दलों के निर्णय जातिगत आधार पर
- 25.3.3 जाति और मतदान व्यवहार
- 25.3.4 मंत्रिमण्डल में जातिगत प्रतिनिधित्व
- 25.3.5 जातियाँ दबाव समूह के रूप में
- 25.3.6 जाति एवं प्रशासन
- 25.3.7 राज्यों की राजनीति में जाति की भूमिका
- 25.3.8 जातिगत हिंस एवं टकराव
- 25.3.9 जातिगत राजनीतिक दल
- 25.3.10 जाति के आधार पर अभिजनों का उदय

25.4 सारांश

25.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत भारतीय राजनीति में बढ़ती जाति की भूमिका का वर्णन किया गया है। इस पाठ को पढ़कर आप–

- राजनीति में जाति का महत्व समझ सकेंगे
- जातियों की राजनीतिकरण प्रक्रिया को समझ सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

भारतीय समाज में परम्परावादी विचारधारा हमेशा से ही हावी रही है। आजादी के बाद आधुनिक राजनीतिक विचारधारा एवं मूल्यों को अपनाया गया। तब आशा की यह किरण जगी कि भारतीय समाज परम्परावादी मान्यताओं जिनमें जाति प्रमुख है, से मुक्त हो जाएगा। लेकिन ऐसा हुआ नहीं, बल्कि जाति भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की केन्द्र बिन्दु बन गयी और जाति भारतीय संसदीय लोकतंत्र की जड़ों तक पहुंच गयी है। यदि कोई यह कहे कि भारत से जाति लोप हो रही है तो यह अर्थशून्य है। जातीय मंच भारतीय राजनीति में प्रबल एवं सुदृढ़ दबाव समूह का कार्य कर रहे हैं, जिनकी मांग को कोई भी सरकार या पार्टी अस्वीकार नहीं कर सकती। क्योंकि इनका विरोध करने का अर्थ वोट बैंक से हाथ धोना है। इसका ताजा उदाहरण राजस्थान में देखा जा सकता है। यहाँ के प्रमुख जातीय मंच जैसे जाट महासभा, राजपूत महासभा, ब्राह्मण महासभा, कायमखानी महासभा आदि अपनी मांगों के लिए संगठित रूप में दबाव डाल रहे हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जाति व्यवस्था भारत में प्राचीन काल से देखी जाती है। इसका अर्थ काम के आधार पर समाज को कई भागों में बांटना। सामान्यता यह माना जाता है कि उत्तर वैदिक काल में इसकी उत्पत्ति हुई, जब समाज को चार भागों में बांटकर वर्ण व्यवस्था शुरू की गई। ब्राह्मण जो धार्मिक कार्य करते थे, क्षेत्रीय देश की रक्षा और शासन प्रबन्ध, वैश्य कृषि एवं व्यापार तथा शूद्र इन तीनों वर्णों की सेवा करते थे। यह विभाजन कर्म के आधार पर था, न कि जन्म के आधार पर। धीरे–धीरे इसमें दोष आने लगे और समाज स्पष्टतया विभाजित दिखने लगा। व्यक्ति जो भी काम करता था, उसी आधार पर उसकी जाति तय कर दी गयी और उसकी सन्तान एवं वंश की पहचान भी इसी से होने लगी। वास्तविक अर्थों में जातियों का निर्धारण सामाजिक व्यवस्था के सफल संचालन हेतु किया गया था। लेकिन इसमें दोष आना समाज के लिए बड़ी चिन्ता की बात है, क्योंकि इससे एकता भंग होने का खतरा बना रहता है और जातियाँ केवल अपने ही संकीर्ण स्वार्थ की पूर्ति में लग जाती है जिन्हें समाज एवं राष्ट्र से कोई लेना देना नहीं होता।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में जाति का महत्व दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। रजनी कोठारी ने अपनी पुस्तक कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स में लिखा है कि भारत में जातियों का राजनीतिकरण हो गया है। एक तरफ राजनीति दल जाति से ऊपर उठने की बात करते हैं, लेकिन दूसरी तरफ वे स्वयं जातिवाद को प्रोत्साहन दे रहे हैं। आम मतदाता अपने वोट का प्रयोग जाति के आधार पर करता है। राजनैतिक दल भी अपने उम्मीदवारों का चयन, चुनावी घोषणा आदि जातिगत वोट बैंक के आधार पर ही करते हैं।

आज जो लोकतन्त्र पर सवालिया निशान लगा है उसके लिए काफी हद तक दोष जातिवाद का ही है, क्योंकि जातियों से जुड़े अयोग्य लोग जाति कार्ड खेलते हुए संसद और विधानमण्डलों में पहुँच जाते है और योग्य एवं कुशल व्यक्ति वंचित रह जाते है। इस तरह राजनीतिक पद प्राप्त करने के लिए जाति को महत्वपूर्ण सीढ़ी माना जाता है। जब जातीय हित की बात आती है तो राजनेता अपने दलीय एवं वैचारिक मतभेद भुलाकर एक मंच पर आ जाते हैं। वे जानते है कि उनका राजनीति में जो वजूद (स्तर) है वह जाति के कारण है।

भारत के प्रत्येक प्रान्त में जातियों के प्रभाव के साथ–साथ जातियों की आपसी प्रतिस्पर्धा देखी जा सकती है जैसे–राजस्थान में जाट और राजपूत, हरियाणा में अहीर और जाट, महाराष्ट्र में मराठी और ब्राह्मण, आन्ध्रप्रदेश में कामा और रेड्डी आदि।

25.2 भारत में जाति का राजनीतिकरण

25.2.1 जाति व्यक्ति को बांधने की कड़ी–जातीय संघ और जातीय पंचायतों ने जातिगत राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को बढ़ाया है। जाति–पाति को समाप्त करने वाले आन्दोलन अन्ततोगत्वा नई जातियों के रूप में मुखरित हुए जैसे लिंगायत कबीर पंथी और सिक्ख आन्दोलन स्वयं नयी जातियाँ बन गयी।

25.2.2 एकीकरण की प्रवशत्ति पर बल–शिक्षा, शहरीकरण, औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण से जातियाँ समाप्त नहीं हुई अपितु उनमें एकीकरण की प्रवृत्ति को बल मिला है और उनकी राजनीतिक भूमिका में वृद्धि हुई है।

25.2.3 जाति का प्रयोग वोट बैंक के रूप में–भारतीय राजनीति में जातियों को वोट बैंक के रूप में देखा जाता है। इसके तहत मतदाता भी अपने मत का प्रयोग अपने जातिगत उम्मीदवार के आधार पर करता है, राजनीतिक दल भी अपना प्रत्याशी जातिगत समीकरणों को आधार मानकर करते हैं। कुछ जातियाँ तो राजनीतिक दलों के साथ परम्परागत रूप से जुड़ी हुई है। जिन क्षेत्र में जिस जाति का बाहुल्य है उसकी जाति का ही उम्मीदवार चुनाव जीत कर आता है। इसी के चलते राजनीतिक दल जातियों को नाराज करने की कोशिश नहीं कर सकते। चुनावों के समय यह नारा सुनाई देता है ष्जाट की बेटी जाट को जाट का वोट जाट को अर्थात् प्रत्येक जाति अपने जाति के उम्मीदवार के विरूद्ध वोट नहीं देती, चाहे उम्मीदवाद कितना भी अयोग्य क्यों न हो?

25.2.4 राजनीति में सक्रियता–आजादी के बाद से भारतीय राजनीति में जातियों की सक्रियता उत्तरोत्तर रूप से बढ़ने लगी। जातियों से जुड़े शीर्ष नेता अपनी जातियों को संगठित करने लगे और प्रशासन के महत्वपूर्ण पदों पर अपनी जाति के लोगों को पहुँचाने का प्रयास करने लगे। अनेक जातीय संगठनों ने अपना नामकरण करवाकर अपने जातिगत हितों के लिए शासन पर दबाव डालने लगे और शिक्षण संस्थाओं तथा सरकारी नौकरियों में आरक्षण की मांग करने लगे। जातियों के नेताओं ने तो मांगों को मनवाने के लिये सरकार पर दबाव डालते हैं। जैसे राजस्थान में दो प्रमुख जाति जाट और राजपूतों को संगठित एवं सक्रिय बनने में इनके जातिगत नेताओं का बहुत बड़ा योगदान रहा। जिन्होंने अपनी जाति से जुड़े संवेदनशील मुद्दे उठाकर जातियों को भी सक्रिय किया साथ में अपनी भी पकड़ मजबूत की। उदाहरण के लिए 1984 में श्री कल्याणसिंह कालवी ने सती प्रथा जैसी कुरीति का समर्थन कर राजपूतों को सक्रिय किया।

25.2.5 चुनावों में अपनी मांग रखना–जातिगत संगठन या मंच दबाव समूह के रूप में राजनीतिक दलों पर अपनी मांगे मनवाने के लिए दबाव डालते हैं, इसके लिए वे चुनाव के समय को सबसे उपयुक्त मानते हैं। जैसे, उदाहरण के लिए राजस्थान में नवम्बर 2003 में होने वाले विधानसभा चुनाव के आधार पर अनेक जातियाँ जैसे राजपूत, ब्राह्मण, राजपुरोहित आदि आरक्षण की मांग के लिए युद्ध स्तर पर प्रयासरत् है और वे श्आरक्षण दो और वोट लोश का नारा देते हैं।

25.2.6 स्थानीय स्तर पर व्यापकता–जाति की भूमिका राष्ट्रीय स्तर पर उतनी नहीं है, जितनी स्थानीय या राज्य स्तर पर देखी जाती है। राजनीतिक व्यवस्था के जितने निचले स्तर पर जाने पर उतना ही जातिवाद हावी मिलेगा। पंचायती राज की संस्थाओं में भी जाति पूर्णतया हावी है।

25.2.7 जाति और राजनीतिक संबंधों में गतिशीलता–जे.सी. जौहरी अपनी पुस्तक रिपलेक्सन ऑफ इण्डिया पॉलिटिक्स, में लिखते हैं कि भारत में जाति और राजनीतिक संबंध स्थैतिक न होकर गतिशील है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

25.2.8 जातियों में आपसी बिखराव–जातियों में संगठन के साथ–साथ आपसी बिखराव देखने को मिलता है। ऐसा प्राय: तब होता जब जातियों से जुड़े नेताओं में आपसी मनमुटाव बढ़ने लगता है। उदाहरण के लिए नवम्बर 2003 के राजस्थान विधानसभा चुनाव के मध्यनजर जाट समुदाय में बिखराव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जाट कांग्रेस, भाजपा, जाट महासभा, इण्डियन नेशनल लोकदल (ओमप्रकाश चौटाला), लोकदल (अजीत सिंह) आदि के साथ बिखरे हुए हैं।

25.2.9 जातिगत संघर्ष–जातिवाद का सबसे उग्र और घर्षणित रूप जातिगत संघर्ष के रूप में परिणित होता है। भारत के अनेक राज्यों में आये दिन जातिगत संघर्ष होते रहते है, जिनमें हजारों बेगुनाह लोग मारे जा चुके हैं। बिहार में जातिगत संघर्ष की समस्या विकराल रूप धारण कर चुकी है। यहाँ नित नये जातिगत संघर्ष होते रहते हैं।

25.3 राजनीति में जाति की भूमिका

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में जाति की भूमिका महत्वपूर्ण रही हैं, जिसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। जय प्रकाश नारायण ने एक बार कहा था कि जाति भारत में अत्यधिक महत्वपूर्ण दल है।हेरल्ड गोल्ड के शब्दों में राजनीति का आधार होने के बजाय जाति उसको प्रभावित करने वाला एक तत्व है। प्रो. वी.के.एन. मेनन का कहना है कि स्वतन्त्रता के बाद भारत के राजनीतिक क्षेत्र में जाति का प्रभाव पहले की अपेक्षा बढ़ा है। मॉरिस जोन्स भी लिखते हैं कि जाति के लिए राजनीति का महत्व और राजनीति के लिए जाति का महत्व पहले की तुलना में बढ़ गया है। जिसे हम राजनीति में जातिवाद पुकारते हैं, वह वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में जाति की भूमिका को निम्न शीर्षकों द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है –

25.3.1 निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करना–भारत में जातियाँ संगठित स्वरूप में दिखाई देती है। इस कारण वे समय–समय पर प्रशासन द्वारा लिए जाने वाले महत्वपूर्ण निर्णयों को प्रभावित करती है और उन्हें अपने हितों के अनुकूल बनाने की पूरी कोशिश भी करती हैं। उदाहरण के लिए संविधान में आरक्षण का प्रावधान केवल 10 वर्षों के लिए था लेकिन जातियों के प्रभाव एवं वोट बैंक की राजनीति के चलते यह आज तक जारी है, जिसे 2010 तक बढ़ा दिया गया है और सम्भवतया अब समाप्त होने वाला नहीं है। इस तरह राजस्थान में जाट महासभा ने आरक्षण प्राप्त करने का सफल प्रयास किया और आज भी अनेक जातियाँ अपने स्तर पर कर रही है।

25.3.2 राजनीतिक दलों के निर्णय जातिगत आधार पर–भारत में ऐसा कोई भी राजनीतिक दल नहीं है, जो जातिवाद को प्रोत्साहन न देता हो। राजनीतिक दलों द्वारा लिए जाने वाले सभी महत्वपूर्ण निर्णयों में जाति की स्पष्ट छाया नजर आती है। चुनावों के समय राजनीतिक दल अपने उम्मीदवारों का चयन जातीय गणित के आधार पर करते हैं, चुनाव घोषणा कर उस जाति को अपनी ओर खींचने का प्रयास करते हैं, आदि। इस तरह सत्ता तक पहुँचने के लिए दल जाति को ही मुख्य आधार मानकर चलते हैं।

25.3.3 जाति और मतदान व्यवहार–भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में मतदान व्यवहार अर्थात् मतदाता किन तत्वों से प्रभावित होकर मतदान करते है इसके अनेक तत्व है लेकिन जाति सबसे निर्णायक एवं महत्वपूर्ण तत्व है। भारत का मतदाता अपने मत का प्रयोग इस आधार पर करता है कि कौन सा उम्मीदवार उसकी जाति का है चाहे वह योग्य हो या न हो। इसके अलावा उम्मीदवार एवं दल द्वारा अपनी जीत को सुनिश्चित करने के लिए जातिवाद की भावना को उकसाया जाता है। उदाहरण के लिए 9वें दशक के बाद उत्तरप्रदेश में मुलायमसिंह यादव तथा बिहार में लालू प्रसाद यादव ने रामजन्म भूमि एवं बाबरी मस्जिद विवाद के आधार पर भाजपा के विरूद्ध मुसलमानों एवं यादवों को संगठित कर शमाई गठजोड़ तैयार किया। इसी तरह राजस्थान में कांग्रेस द्वारा नवम्बर 2003 में होने वाले राज्य विधानसभा चुनाव के मध्यनजर श्रीमती कमला (जाट) व श्री बनवारीलाल बैरवा (अनुसूचित जाति) को उपमुख्यमंत्री तथा नवलकिशोर शर्मा (ब्राह्मण) को राष्ट्रीय महासचिव बनाया गया है।

25.3.4 मंत्रिमण्डलों में जातिगत प्रतिनिधित्व–केन्द्रीय एवं राज्य स्तर पर बनने वाले मंत्रिमण्डल में जातिगत आधार पर प्रतिनिधित्व देने की हर सम्भव कोशिश की जाती है। ताकि किसी जाति में असंतोष की भावना न फैले। इसके अलावा जब किसी जाति से जुड़े मंत्रियों को महत्वपूर्ण विभाग न दिया जाए तो उसका भी विरोध अनेक बार देखने में आता है। उदाहरण के लिए राजस्थान में जाट मतदाताओं का कांग्रेस से नाराजगी का प्रमुख कारण जाट समुदाय से मुख्यमंत्री न बनाना है।

25.3.5 जातियाँ दबाव समूह के रूप–जिस प्रकार विकसित लोकतांत्रिक राष्ट्रों में विभिन्न हितों से जुड़े दबाव समूह देखे जा सकते हैं, ठीक उसी प्रकार भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में जातियाँ दबाव समूह के रूप में अपनी भूमिका निर्वहन कर रही है। मेयर के अनुसार जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दबाव समूह के रूप में प्रवृत्त है। जो समय–समय पर शासन की नीति को प्रभावित करते हैं।

25.3.6 जाति एवं प्रशासन–लोकसभा एवं विधानसभाओं में जातिगत आरक्षण की व्यवस्था प्रचलित है, केन्द्र व राज्यों की सरकारी नौकरियों एवं पदोन्नति के लिए जातिगत आरक्षण का प्रावधान है। 1990 में मण्डल आयोग की रिपोर्ट के आधार पर अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) को 27 प्रतिशत आरक्षण दिया। भारत में स्थानीय एवं प्रशासनिक स्तर पर जातिवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्रशासनिक स्तर पर लिए जाने वाले महत्वपूर्ण निर्णय इस आधार पर किये जाते हैं कि वोट बैंक वाली जातियाँ उनके साथ मजबूती के साथ जुड़ी रहे।

25.3.7 राज्यों की राजनीति में जाति की भूमिका–भारत में ऐसा एक भी राज्य नहीं है जो जातिवाद के प्रभाव से वंचित रहा हो। राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण राज्यों का अध्ययन हम जाति के गणित के बिना कर ही नहीं सकते। बिहार में राजपूत ब्राह्मण, कायस्थ, यादव तथा जनजातियाँ प्रमुख प्रतिस्पर्धी, आन्ध्रप्रदेश में काम्मा और रेड्डी, राजस्थान में जाट–राजपूत, महाराष्ट्र में मराठों–ब्राह्मण, गुजरात में पाटीदार–क्षेत्रीय, तमिलनाडु में ब्राह्मण और अन्य जातियां, उत्तरप्रदेश में अगड़ा और पिछड़ा। इस प्रकार राज्यों की राजनीति में जाति की भूमिका बढ़ती ही जा रही है। इसलिए टिंकर ने श्राज्यों की राजनीति को श्जातियों की राजनीति कहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

जहां तक राजस्थान की राजनीति का प्रश्न है तो यहां पर भी सम्पूर्ण खेल जातिवाद पर टिका हुआ है। यहां पर मुख्यतया दो प्रमुख जातियों के बीच प्रतिस्पर्धा पायी जाती हैं–जाट और राजपूत। दोनों के बीच इतनी कटुता बढ़ गयी है कि वे एक दूसरे का हर जगह विरोध करते हैं। जाटों को जहाँ परम्परागत रूप से कांग्रेस का वोट बैंक माना जाता हैं, वहीं राजपूतों को भाजपा का। इसके अलावा यहां ब्राह्मण, अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों तथा मुसलमान भी निर्णायक स्थिति में है। ब्राह्मण यहाँ सबसे ज्यादा बार मुख्यमंत्री बने है।

25.3.8 जातिगत हिंसा एवं टकराव–आज जातिवाद उग्ररूप ले चुका है। प्रतिस्पर्धी जातियों के बीच हिंसा, खूनी संघर्ष एवं टकराव होना आम बात हो गयी है। कुछ निहित स्वार्थी तत्व अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए जातियों के बीच आपसी कटुता को बढ़ावा दे रहे है। पिछले दिनों राजस्थान में जाट और राजपूतों की प्रमुख हस्तियों एवं राजाओं की मूर्तियां तोड़ने की घटना के पीछे वास्तविक उद्देश्य यही था। बिहार में नित नये जातिगत नरसंहार देखे जा सकते है।

25.3.9 जातिगत राजनीतिक दल–भारत में अनेक राजनीतिक दलों का आधार जाति ही है। वे अपने आपको किसी जाति विशेष के साथ जोड़कर देखते है ओर उसी का स्वयंभू संरक्षक घोषित करते हैं। जैसे–बहुजन समाजवादी पार्टी का जनाधार अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अल्पसंख्यक समुदाय तक सीमित है। समाजवादी पार्टी भी यादवों और मुसलमानों के गठजोड़ श्माइश से अपना वजूद बनाये हुए है, आदि।

25.3.10 जाति के आधार पर अगिजनों का उदय–जातियों के आधार पर अनेक नेताओं का उदय हुआ है जो सिद्धान्त में धर्मनिरपेक्षता, जातिवाद का विरोध जैसी बातें करते हैं, लेकिन व्यवहार में जाति के साथ सीधे जुड़े हुए हैं क्योंकि जाति के कारण उन्हें यह स्थान मिला है। जैसे–काशीराम, मायावती (अनुसूचित एवं जनजाति) मुलायम सिंह यादव, लालू प्रसाद यादव (यादव) नाथूराम मिर्धा, रामनिवास मिर्धा (जाट) राजनाथ सिंह, भैरोसिंह शेखावत (राजपूत) भजनलाल (विश्नोई) आदि। श्रीनिवासन ने कहा है कि जातिवाद के लिए सभी वे भी जो सबसे ज्यादा खुलकर उसकी भर्त्सना करते है, चुपचाप और पूरी तौर से यह मानते है कि यह सर्वज्ञ ही सामाजिक कार्य की इकाई है।

25.4 सारांश

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जाति भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के रग–रग में समा गयी है। जिसे दूर करना अब असम्भव सा प्रतीत होता है।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जातियों के राजनीतिकरण की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. जातिवाद का भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था पर क्या प्रभाव दिखलाई दे रहा है? स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजस्थान की राजनीति में जाति का महत्व बताओ।
2. चुनावों के समय जाति की भूमिका की विवेचना कीजिए।
3. निर्णय प्रक्रिया को जाति किस प्रकार प्रभावित करती है?
4. राजनीति एवं जाति के संबंधों के दो स्तरों को बताओ।
5. राजस्थान में आरक्षण के सन्दर्भ में जारी तथ्यों को स्पष्ट कीजिए।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. जातिवाद क्या है?
2. जाति से प्रभावित कोई तीन राज्य बताओ।
3. राज्यों की राजनीति, जातियों की राजनीति हो गई है।यह तर्क किसने दिया?
4. जाति आधार पर बने कोई तीन गुट बताओ।
5. जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दबाव समूह के रूप में प्रवृत्त है। यह कथन किस विद्वान का है?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

रजनी कोठारी कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स

एम.पी. राय भारतीय शासन एवं राजनीति कॉलेज बुक डिपो, जयपुर

रामअवतार शर्मा, सुषमा यादव, भारतीय राजनीति : ज्वलंत प्रश्न हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सुभाष कश्यप भारतीय सरकार और राजनीति, रिसर्च, नई दिल्ली ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–26 : धर्म

संरचना

26.0 उद्देश्य

26.1 प्रस्तावना

26.2 धर्म का भारतीय राजनीति पर प्रभाव

- 26.2.1 धर्म और राजनीतिक दल
- 26.2.2 चुनाव और धर्म
- 26.2.3 राजनीति में धार्मिक दबाव गुट
- 26.2.4 धर्म के आधार पर पृथक राज्यों की मांग
- 26.2.5 मंत्रिमण्डल निर्माण एवं धर्म
- 26.2.6 धर्म और राष्ट्रीय एकीकरण
- 26.2.7 राज्यों की राजनीति में धर्म की भूमिका

26.3 सारांश

26.0 उद्देश्य

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में धर्म का उल्लेख किया गया है। इस पाठ को पढ़कर आप–

- भारत का धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में अध्ययन करेंगे,
- भारतीय राजनीति की दिशा निर्धारण में धर्म की भूमिका को समझ सकेंगे,
- भारतीय राजनीति में विभिन्न धर्मों का मूल्यांकन कर सकेंगे।

26.1 प्रस्तावना

भारतीय राजनीति की दिशा निर्धारित करने में धर्म भी एक प्रमुख तत्व है। भारत में अनेक धर्मों के लोग निवास करते हैं, जिनमें हिन्दु, मुस्लिम, सिख, ईसाई, जैन, बौद्ध , फारसी आदि प्रमुख है। सभी धर्मों की अपनी विचारधाराएं एवं मान्यताएं है। इसी को ध्यान में रखते हुए संविधान द्वारा सभी धर्मों के लोगों के साथ एक समान नीति अपनाने पर जोर दिया और भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया, जिसके अनुसार सभी धर्मों के अनुयायियों को विकास के समान अवसर उपलब्ध होंगे, धर्म के आधार पर किसी नागरिक के साथ किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा, सभी धर्मों को अपने धर्म द्वारा बताए गये रास्ते पर चलने की छूट होगी, सभी धर्म अपना प्रचार कर सकेंगे तथा राज्य द्वारा किसी धर्म विशेष को महत्व या राज्य का धर्म घोषित नहीं किया जाएगा और न ही धर्म से संबंधित शिक्षा सार्वजनिक शिक्षण संस्थाओं में दी जाएगी, आदि।

यदि आजादी के बाद का इतिहास देखें तो यह तथ्य काँच की भाँति स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि भारतीय राजनीति की दिशा को निर्धारित करने में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विभिन्न धर्मों के धार्मिक नेता समय–समय पर बयान जारी कर देश की राजनीतिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। वे अपने धर्म के मतदाताओं को एक पार्टी विशेष के पक्ष में मतदान करने के लिए फतवा (आदेश) जारी करते है इसके लिए कुछ राजनीतिक दल ऐसे स्वयंभू धर्म नेताओं को अपनी बगल में रखते है। इसके अतिरिक्त कुछ राजनीतिक दल खुल्लमखुल्ला धार्मिक कार्ड का सहारा लेकर अपनी चुनावी नैया को पार लगाने का प्रयास करते है। इसके लिए वे एक ध र्म विशेष को अपने पक्ष में करने के लिए धार्मिक सौहार्द के वातावरण को भी तिलांजलि देने से नहीं चूकते। इसके लिए चुनाव पूर्व या तो दंगे भड़काते हैं या धर्म से संबद्ध संवेदनशील मुद्दों को बेवजह तूल देकर अपने आप को यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि वहीं उनका वास्तविक हित पोषक है। इस तरह धर्म की आड़ में कुछ राजनीतिक दल अपनी राजनीति की रोटी सेकना चाहते हैं।

26.2 धर्म का भारतीय राजनीति पर प्रभाव

पिछले कुछ समय से धर्म के मुद्दे ने अपना विकराल रूप धारण कर लिया है। इसके कारण हमारी संसदीय लोकतंत्र की व्यवस्था पर प्रश्न चिह्न लग गया है। हमारे मतदाता उम्मीदवारों का चयन उनकी योग्यता या उपलब्धि के आधार पर नहीं करते, बल्कि धर्म के नाम पर करते हैं। जिसका परिणाम यह हो रहा है कि राष्ट्र का समुचित विकास का मार्ग अवरूद्ध हो गया है। राजनीतिक दल सत्ता प्राप्त करने का शॉर्टकट रास्ता मानते हैं जो भोली जनता को गुमराह कर उनकी भावना से खेलकर अपने कार्यों को अंजाम देते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

रामजन्म भूमि एवं बाबरी मस्जिद विवाद ने राजनीति में धर्म का केन्द्रीय स्थान बना दिया है। इस मुद्दे से दो समुदायों में विद्वेष पैदा हुआ है और साथ ही प्रत्येक लोकसभा एवं राज्यविधानसभा के पूर्व कुछ राजनीतिक दलों एवं उनके समर्थक संगठनों द्वारा इस मुद्दे को तूल दिया जाता है। ताकि एक धर्म विशेष के मतदाताओं का झुकाव अपनी ओर किया जा सके। जैसे–नवम्बर 2003 में सम्पन्न होने वाले चार राज्यों की विधानसभा चुनाव के मध्यनजर ये संगठन धार्मिक कार्ड का सहारा ले रहे हैं। इसके लिए विश्व हिन्दु परिषद त्रिशूल दीक्षा का कार्यक्रम चला रही है।

यद्यपि चुनाव आयोग की आचार संहिता के अनुसार चुनावों के समय धर्म के आधार पर वोट नहीं मांगे जा सकते और न ही किसी दूसरे धर्म की भावना को आहत किया जा सकता हैं, लेकिन फिर भी यह सब कुछ जारी है। अपने आप को मुस्लिम समुदाय का स्वयंभू संरक्षक मानने वाले, जैस–जामा मस्जिद के शाही इमाम आदि धार्मिक मंचों से मुस्लिम मतदाताओं से किसी पार्टी विशेष के पक्ष में मतदान करने की अपील करते हैं और मुस्लिम समुदाय में दहशत और खौफ का वातावरण बनाने का प्रयास करते हैं।

मुस्लिम मतदाताओं को चाहिए कि वे ऐसे फतवों का विरोध करे। इमाम यह भूल जाते हैं कि भारत में मुसलमान जितना अपने आप को सुरक्षित एवं अधिकार सम्पन्न महसूस करता हैं, उतना और कही पर भी नहीं कर सकता। धर्म, भारतीय राजनीति के स्वरूप को निम्नलिखित ढंग से प्रभावित करता रहा है –

26.2.1 धर्म और राजनीतिक दल–आजादी के बाद भारत में कुछ धर्म पर आधारित राजनीतिक दलों का विकास हुआ है। मुस्लिम लीग, शिरोमणि अकाली दल, राम राज्य परिषद, हिन्दू महासभा, शिव सेना आदि। यह सभी दल अपने आप को अपने धर्म का संरक्षक एवं हितैषी होने का दावा करते है। इस कारण चुनाव के समय वे धार्मिक मुद्दों को उठाते है और धर्म के नाम पर वोट मांगते है लेकिन भारत के मतदाता ने इन्हें स्वीकार नहीं किया। यही कारण है कि यह दल कुछ क्षेत्र विशेष तक सीमित रह गये हैं। जैसे–मुस्लिम लीग केरल के कुछ भाग में, अकाली दल पंजाब में, शिवसेना महाराष्ट्र में सक्रिय है और अन्य दलों का तो कोई अस्तित्व ही नहीं रहा है। अकाली दल सिक्ख धर्म की सर्वोच्च सत्ता शिरोमणी गुरूद्वारा प्रबंधक कमेटी तथा अकाल तख्त की राजनीतिक इकाई है। जिसकी आन्तरिक राजनीति भी इन संस्थाओं से संचालित होती है।

यदि साम्प्रदायिकता को व्यापक अर्थ से लिया जाए तो भारत के सभी राजनीतिक दल किसी न किसी रूप से साम्प्रदायिक नजर आयेंगे। जैसे भारतीय जनता पार्टी जिसे एक हिन्दूवादी पार्टी के रूप में जाना जाता है और उसका राजनीतिक अस्तित्व भी धर्म है इसके अलावा अनेक राज्यों में इसने धार्मिक दलों से गठबन्धन कर रखे हैं। जैसे–पंजाब में अकाली दल तथा महाराष्ट्र में शिवसेना। इसके अलावा गैर राजनीतिक संगठन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद, बजरंग दल के साथ भी उसके निकट संबंध है। जहाँ तक कांग्रेस की बात है, वह भी साम्प्रदायिकता से अपने आप को अछूता नहीं रख पायी है। पूर्वोत्तर के अनेक राज्यों में कांग्रेस द्वारा ईसाई धार्मिक कार्ड का सहारा लिया जाता रहा है और मुस्लिम लीग जैसे साम्प्रदायिक दल के साथ केरल में उसका गठबन्धन है।

26.2.2 चुनाव और धर्म–चुनावों के समय धर्म राजनीति का केन्द्र बिन्दु बन जाता है। राजनीतिक दल एवं उनके नेता धर्म की दलीलों के आधार पर वोट मांगते है। वोट बटोरने के लिए राजनीतिक दल धार्मिक नेताओं मठाधीशों, इमामों, पादरियों और साधुओं से सांठ–गांठ करते हैं। पिछले कुछ चुनावों में राजनीतिक दल मुस्लिम वोटों को प्राप्त करने के लिए जामा मस्जिद के शाही इमाम से अपने पक्ष में फतवा जारी करवाते हैं, क्योंकि लगभग 100 लोकसभा सीटों पर मुस्लिम मतदाता निर्णायक स्थिति रखते हैं। इसी तरह कुछ राजनीतिक दल चुनावों के समय धार्मिक कार्ड का इस्तेमाल करते हैं, जैसे–भारतीय जनता पार्टी हिन्दू कार्ड के आधार पर हिन्दू मतदाताओं को अपने पक्ष में लाने की हर सम्भव कोशिश करती है। इसके लिए वह राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ तथा विश्व हिन्दू परिषद जैसे–गैर राजनीतिक संगठनों को ढाल के रूप में प्रयुक्त करती है। जो चुनाव पूर्व उसके पक्ष में माहौल बनाने का प्रयास करते हैं।

26.2.3 राजनीति में धार्मिक दबाव गुट–धर्म से संबद्ध विभिन्न संगठन दबाव समूह के रूप में भी कार्य करते हैं, जो शासन की नीति को प्रभावित करते हैं और कभी–कभी अपने पक्ष में अनुकूल निर्णय भी करवा लेते हैं। प्रमुख मुस्लिम संगठनों जैसे जमीयत–उल–उलेमा–ए–हिन्द, अमारते शरिया, जमाते इस्लामी आदि दबाव समूह के रूप में कार्य करते हुए उर्दू को संवैधानिक संरक्षण दिलाया, अलीगढ़ विश्वविद्यालय का अल्पसंख्यक स्वरूप स्थापित किया गया तथा मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड में कोई परिवर्तन नहीं हो सका। इसी तरह वर्तमान में आर.एस.एस. जैसे संगठन के चलते सरकार अनेक ठोस कदम, जो इसकी विचारधारा से मेल नहीं खाते हो, उठाने से बचने का प्रयास करती है और तो और वर्तमान केन्द्र (लाजपेयी) सरकार इस संगठन को नाराज भी नहीं कर स्कती है। अभी हाल ही में मई 2003 को भाजपा एवं संघ के प्रमुख नेताओं के बीच बैठक बुलाकर मतभेद दूर करने के प्रयास किये गये।

26.2.4 धर्म के आधार पर पृथक राज्यों की मांग–भारत में कई बार धर्म के आधार पर पृथक राज्यों की मांग उठती रही है। जैसे–अकाली दल द्वारा पंजाब सूबे की मांग के पीछे निहित कारक धर्म ही था क्योंकि वह सिक्ख समुदाय के लिए अलग राज्य की स्थापना के लिए कश्त संकल्प था। 12 नवम्बर, 1949 को मास्टर तारासिंह ने पूर्वी पंजाब में एक सिक्ख प्रान्त की मांग करते हुए कहा कि पूर्वी पंजाब में हिन्दु संकीर्ण हृदय वाले सम्प्रदायवादी हो गये हैं और सिक्ख उनसे उचित व्यवहार की आशा नहीं कर सकते। इसी तरह नागालैण्ड में पृथक राज्य की मांग ईसाई निष्ठा के आधार पर थी।

26.2.5 मंत्रिमण्डल निर्माण एवं धर्म–केन्द्र एवं राज्यों में बनने वाले प्रत्येक मंत्रिमण्डल निर्माण में सभी धर्मों के लोगों को उचित प्रतिनिधित्व देने का प्रयास किया जाता है ताकि उस धर्म की सहानुभूति प्राप्त हो जाए और कोई यह न कह सके कि यह सरकार एक धर्म विशेष के विरूद्ध है।

26.2.6 धर्म और राष्ट्रीय एकीकरण–आज धर्म राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी चुनौती बना हुआ है। क्योंकि आम आदमी का नजरिया राष्ट्रीयता की सोच नहीं रखता, बल्कि वह धर्म विशेष की सोच पालता है। उसका नतीजा यह हो रहा है कि ऐसे आदमी राष्ट्र की समान धारा से कट कर राष्ट्र विरोधी तत्वों से हाथ मिलाकर एकता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के लिए खतरा साबित हो रहे हैं। आये दिन होने वाले साम्प्रदायिक दंगों ने राष्ट्रीय एकता की पोल ही खोल दी है। समाज के चन्द स्वार्थी तत्व धर्म के नाम पर राष्ट्र को बदनाम कर रहे हैं। आज देश के प्रमुख धर्मों के बीच सौहार्द एवं भाईचारे की भावना समाप्त–सी हो गई है।

26.2.7 राज्यों की राजनीति में धर्म की भूमिका–भारत के लगभग सभी राज्यों की राजनीति धर्म के प्रभाव से अछूती नहीं है। लेकिन कुछ राज्यों में तो धर्म राज्य राजनीति को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित कर रहा हैं, जैसे–पंजाब में शिरोमणि गुरूद्वारा प्रबन्धक समिति चुनाव में अकाली दल की राजनीति को प्रभावित करती है। इसी तरह पूर्वोत्तर के अनेक छोटे–छोटे राज्यों में ईसाई चर्च की भूमिका महत्वपूर्ण मानी जाती है।

26.3 सारांश

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि धर्म भारतीय राजनीति को हर तरफ से प्रभावित कर रहा है। संविधान द्वारा भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित करने के बाद भी धर्म के प्रभाव को भारतीय जनता अपने दिलों और दिमाग से मिटा नहीं पायी है। सही अर्थों में देखा जाए तो इसके लिए हमारे राजनीतिक दल काफी हद तक जिम्मेदार है। जो वोट बैंक की राजनीति के कारण धर्म के प्रभाव को कम नहीं होने देते। वे इस बात को भली भाँति जानते हैं कि जिस दिन धर्म का प्रभाव राजनीति से समाप्त हो जाएगा, उस दिन से वे अपने राजनीतिक स्वार्थ सिद्ध नहीं कर पायेंगे। प्रत्येक राजनेता धर्म को एक सीढ़ी मानता हैं, जिसके सहारे वह संसद और विधानमण्डलों में पहुँच जाने का प्रयास करता हैं और प्रत्येक राजनीतिक दल धर्म को सत्ता प्राप्ति का एक शॉर्ट कट रास्ता मानते है। इस तरह आज आवश्यकता इस बात की है कि भारत का प्रत्येक नागरिक धर्म की संकीर्ण सोच से ऊपर उठकर राष्ट्रीय सोच के आधार पर निर्णय ले और जो नेता एवं दल धार्मिक कार्ड का सहारा लेते है, उन्हें करारा जवाब दे। ताकि आगामी कुछ वर्षों में भारत विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में आ जाए और हमारी मूलभूत समस्या गरीबी, बेकारी, अशिक्षा, पिछड़ापन का समाधान किया जा सके। यह तभी सम्भव होगा जब हम धर्म के स्थान पर विकास के मुद्दे को महत्व देंगे।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. धर्म भारतीय राजनीति को किस प्रकार प्रभावित कर रहा है? स्पष्ट कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. धार्मिक संगठन दबाव समूह के रूप में कार्य कर रहे हैं। स्पष्ट कीजिए।
2. धर्म की चुनाव में क्या भूमिका हैं?
3. धर्म एवं राजनीतिक दलों के संबंधों को स्पष्ट कीजिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मॉरिस जोन्स भारतीय शासन पद्धति

रजनी कोठारी भारत में राजनीति ओरियण्ट लॉगमेन्स लिमिटेड, नई दिल्ली

रामअवतार शर्मा, सुषमा यादव, भारतीय राजनीति : ज्वलंत प्रश्न हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय , दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–27 : भाषावाद

संरचना

27.0 उद्देश्य

27.1 प्रस्तावना

27.2 भारतीय संविधान में भाषा संबंधी प्रावधान

27.3 भाषावाद का भारतीय राजनीति पर प्रभाव

- 27.3.1 हिन्दी के विरोध की राजनीति
- 27.3.2 भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन
- 27.3.3 भाषायी राज्यों के बीच विवाद
- 27.3.4 उत्तर–दक्षिण की संकुचित भावना
- 27.3.5 भाषायी आधार पर दबाव समूह
- 27.3.6 अन्य भाषाओं की मान्यता की मांग
- 27.3.7 भाषा के मसले पर राजनीतिक हलचल
- 27.3.8 उर्दू भाषा के सवाल का चुनावी मुद्दा बनना
- 27.3.9 भाषायी अल्पसंख्यकों की समस्या
- 27.3.10 सर्वमान्य शिक्षा नीति के निर्माण में कठिनाईयां
- 27.3.11 भाषायी आधार पर राजनीतिक आन्दोलन
- 27.3.12 भाषावाद का राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक होना

27.4 सारांश

27.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत भारतीय संविधान में भाषा सम्बन्धी प्रावधान एवं राजनीति में भाषावाद के प्रभाव का उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत अध्याय को पढ़कर आप–

- भारतीय राजनीति पर भाषावाद का क्या प्रभाव पड़ा? विश्लेषण कर सकेंगे,
- भारतीय राजनीति में भाषावाद की भूमिका का सिंहावलोकन कर सकेंगे।

27.1 प्रस्तावना

भारत एक बहुभाषी देश है, जिसके 28 राज्यों में 1652 भाषाएँ एवं बोली पायी जाती है। इनमें से 18 भाषाएँ संविधान की आठवीं अनुसूची में वर्णित की गयी है अर्थात् इन भाषाओं को संवैधानिक दर्जा प्राप्त है। भारत की जनसंख्या का आधे से ज्यादा हिस्सा हिन्दी भाषी है। इसके बावजूद भारत में अनेक प्रादेशिक, क्षेत्रीय एवं स्थानीय बोलियां या भाषाएँ पायी जाती है। इस तरह भारत को भाषाओं का मेला कहने में कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।

प्रत्येक देश की अपनी एक राजभाषा होती है जिसका संरक्षण सरकारी स्तर पर होता है तथा उसी का प्रयोग सरकारी कार्यों के लिए किया जाता है। भारत की संविधान सभा में इस प्रश्न पर वाद–विवाद हुआ कि देश की राजभाषा क्या हो तो वहाँ बहुत–सी भाषा सम्बन्धी हठधर्मिता देखी गई। अनेक सदस्यों ने हिन्दी को राजभाषा बनाने का व्यापक विरोध किया लेकिन संविधान सभा ने यह तय किया कि आगामी 1965 तक संघ के कार्य अंग्रेजी में होंगे। इसके बाद 26 जनवरी 1966 से हिन्दी लागू हो जायेगी। जब हिन्दी को लागू करने का समय आया तब हिन्दी विरोधी राज्यों में व्यापक स्तर पर उग्र एवं हिंसात्मक आन्दोलन शुरू हो गया। मद्रास में दो द्रमुक नेताओं ने आत्महत्या तक कर ली और दक्षिण के क्षेत्रीय दलों ने हिन्दी के विरूद्ध जनआन्दोलन चलाने के लिए कमर कस ली। इस तरह भाषा का मुद्दा एक राष्ट्रीय समस्या का रूप धारण कर चुका है। जो राष्ट्रीय एकता एवं एकीकरण के लिए शुभ संकेत नहीं कहे जा सकते।

एन.सी. राय ने ठीक ही कहा है कि भाषावाद का क्रम प्रारम्भ हो चुका है यह एक शेर है जो रास्ते पर आ गया है या तो उसे मार दिया जाएगा या फिर भारतीय राष्ट्रीयता को मार देगा।

प्रो. मॉरिस जोन्स लिखते है कि क्षेत्रवाद और भाषा के सवाल भारतीय राजनीति में इतने ज्वलन्त प्रश्न रहे है और भारत के हाल के राजनीतिक इतिहास की घटनाओं के साथ इनका गहरा संबंध रहा है कि अक्सर ऐसा लगता है कि यह राष्ट्रीय एकीकरण या एकता की सम्पूर्ण समस्या है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

27.2 भारतीय संविधान में भाषा संबंधी प्रावधान

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 343, 344 में संघ की भाषा संबंधी प्रावधान इस प्रकार है –

1. देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी संघ की राजभाषा होगी
2. संविधान लागू होने के 15 वर्ष (26 जनवरी, 1966) तक अंग्रेजी भाषा का प्रयोग संघ के सरकारी कार्यों में यथापूर्व जारी रहेगा।
3. संविधान लागू होने के पांच वर्ष बाद राष्ट्रपति एक आयोग का गठन करेगा जो हिन्दी भाषा के प्रयोग में वृद्धि तथा अंग्रेजी के प्रयोग को धीरे–धीरे कम करने संबंधी सुझाव देगा।
4. आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के लिए एक संसदीय समिति बनायी जाएगी जिसमें 20 सदस्य लोकसभा तथा 10 सदस्य राज्यसभा से लिए जाएंगे। इस समिति ने कहा कि संघ तथा राज्यों में अंग्रेजी के स्थान पर धीरे–धीरे हिन्दी तथा प्रादेशिक भाषा का प्रयोग किया जाए।
5. अनुच्छेद 345 के अनुसार राज्य विधानमण्डल को यह अधिकार है कि वह अपने सरकारी कार्यों में काम करने के लिए एक या अनेक भाषाओं को अपना सकता है।

27.3 भाषावाद का भारतीय राजनीति पर प्रभाव

भाषावाद भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्वों में से एक प्रमुख है। समय–समय पर विभिन्न राजनीतिक दलों एवं नेताओं ने इस मुद्दे को तूल देकर राजनीति करने की कोशिश की है। भारत के अधिकांश क्षेत्रीय दलों का वजूद (अस्तित्व) भाषा के आधार पर है और उनकी विचारधारा अपनी स्थानीय या क्षेत्रीय भाषा पर ही केन्द्रित है। वे इसके संरक्षण के लिए किसी भी हद तक जा सकते हैं। भारतीय राजनीति में भाषावाद का प्रभाव निम्न रूपों में देखा जा सकता है–

27.3.1 हिन्दी के विरोध की राजनीति–भारत के अनेक क्षेत्रीय दलों की राजनीति हिन्दी विरोध की संकुचित धारणा तक सीमित है। ऐसा करके वे क्षेत्रीय भाषा के लोगों का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। जैसे–तमिलनाडु में डी.एम.के. तथा ए.आई.डी.एम.के. तमिल तथा अंग्रेजी की पक्षधर, आंध्रप्रदेश में तेलगूदेशम तेलगू भाषा, महाराष्ट्र में शिवसेना मराठी, असम में असम गण परिषद असमी आदि जो हिन्दी को स्वीकार करने को तैयार नहीं है। तमिलनाडु में तो हिन्दी विरोध का ऐसा वातावरण बना दिया गया हैं कि वे हिन्दी बोलना तो दूर की बात हिन्दी बोलने वालों को हीन भावना से देखते हैं और अनेक बार हिन्दी भाषियों पर आक्रमण भी होते रहते हैं।

27.3.2 भाषायी आधार पर राज्यों का पुनर्गठन–स्वतन्त्र भारत के सामने भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की समस्या तीव्र गति से उठने लगी। सर्वप्रथम 1952 में तेलगू भाषा के आधार पर आन्ध्रप्रदेश राज्य के निर्माण की मांग की गई और इसके समर्थन में व्यापक आन्दोलन छेड़ा गया। इस दौरान एक अनशनकर्ता पोट्टी श्री रामुल की मृत्यु हो जाती है। तब यह आन्दोलन और अधिक उग्र रूप ले लेता है। अन्ततः विवश होकर केन्द्र सरकार को मद्रास राज्य का विभाजन कर आन्ध्रप्रदेश का निर्माण करना पड़ता है। बम्बई प्रान्त में भी भाषा के आधार पर राज्य का निर्माण की मांग बल पकड़ रही थी। अन्ततः 1960 में मराठी भाषा के आधार पर महाराष्ट्र तथा गुजराती के आधार पर गुजरात बना। 1966 में पंजाब में भाषा के आधार पर दो राज्य बनाये गये–पंजाबी के आधार पर पंजाब और हिन्दी के आधार हरियाणा बना।

27.3.3 भाषायी राज्यों के बीच विवाद–भाषा के आधार पर राज्यों के निर्माण से एक और बड़ी समस्या खड़ी हो गई कि भाषायी आधार पर राज्यों में आपसी विवाद बढ़ने लगे। जैसे हरियाणा व पंजाब के बीच चण्डीगढ़ को लेकर विवाद, बैलगांव जहां करीब 55 प्रतिशत मराठी भाषी लोग रहते हैं जो कर्नाटक का हिस्सा है, महाराष्ट्र उसे अपने हिस्से में मिलाना चाहता है। असम में बंगाली और असमी का विवाद आदि प्रमुख है। ये सभी ऐसे विवाद हैं, जो सम्भवतया कभी समाप्त न होने वाले है, क्योंकि भाषायी राज्यों ने इन्हें अपनी नाक का सवाल बना लिया है।

27.3.4 उत्तर–दक्षिण की संकुचित भावना–भाषा के आधार पर भारत में उत्तर–दक्षिण की संकुचित मनोवृत्ति पनपने लगी है। दक्षिण भारत में हिन्दी का जोरदार विरोध किया। वे किसी भी कीमत पर हिन्दी को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। उत्तर भारत के लोगों में इस प्रवृति से हीन भावना बढ़ी है। इस प्रकार आज जो उत्तर–दक्षिण की भावना नजर आती है, वह काफी हद तक भाषा की ही देन है। इसे राष्ट्रीय एकता के लिए सही प्रवृति नहीं कहा जा सकता।

27.3.5 भाषायी आधार पर दबाव समूह–भाषाओं के विकास के लिए अनेक संगठनों का उदय हुआ है । जैसे–संयुक्त महाराष्ट्र समिति और महागुजरात जनता परिषद, राजस्थानी मान्यता संघर्ष समिति आदि, जो समय–समय पर प्रशासन की नीति को भी प्रभावित करते हैं।

27.3.6 अन्य भाषाओं की मान्यता की मांग–भारत के मूल संविधान में आठवीं अनुसूची के तहत् 14 भाषाओं को मान्यता प्रदान की गयी। 71वें संवैधानिक संशोधन (1992) के द्वारा चार और भाषाओं को मान्यता प्रदान कर अब कुल 18 भाषाएँ हो गयी हैं। इसके बाद भी अनेक क्षेत्रों से अपनी–अपनी भाषाओं को संवैधानिक मान्यता देने की मांग उठ रही है। जिनमें राजस्थानी प्रमुख है। सन् 2001 की जनगणना के अनुसर इस भाषा को राजस्थान के करीब 4 करोड़ लोग बोलते है। इसके समर्थकों का यह कहना है कि छोटे–छोटे प्रान्तों में प्रचलित भाषाओं को मान्यता दे दी गई है तो राजस्थानी को क्यों नहीं दी जाती है ? इनकी यह मांग काफी हद तक उचित भी है। पिछले कुछ समय से इसका आन्दोलन जोर पकड़ रहा है और अनेक सांसद, विधायक तथा अन्य राजनीतिज्ञ इसके पक्ष में खुलकर आ रहे हैं। इसके अलावा ब्रज, मैथिली, छत्तीसगढ़ी, संथाली आदि भाषाओं की मान्यता की मांग बढ़ रही है। 2002 में राजस्थानी भाषा एवं पत्रकारिता के क्षेत्र में उल्लेखनीय उपलब्धि हेतु माणक अलंकार प्रदान करने के बाद मुख्यमंत्री अशोक गहलोत ने कहा था कि वे राजस्थानी को मान्यता दिलाने की पूरी कोशिश करेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

27.3.7 भाषा के मसले पर राजनीतिक हलचल–भाषा के मसले को लेकर राजनीतिक हलचल बढ़ने लगी। सी.डी. देशमुख ने 1950 में इसी सवाल पर केन्द्रीय मंत्रिमण्डल से त्याग पत्र दिया। इसी प्रकार एम.सी. छागला ने भी सरकार की भाषा नीति के विरोध में मंत्रीपद से त्यागपत्र दिया।

27.3.8 उर्दू भाषा के सवाल का चुनावी मुद्दा बनना–राजनीतिक दलों ने मुस्लिम वोट बैंक को प्रभावित करने के लिए अपने चुनावी घोषणा पत्र में उर्दू को मुद्दा बनाया। कांग्रेस (आई) ने उर्दू को समुचित स्थान दिलाने तथा कुछ राज्यों के खास क्षेत्रों में उर्दू को सरकारी भाषा बनाने का वायदा 1980 में अपने चुनावी घोषणा पत्र में किया। 1989 के चुनाव से पूर्व उत्तरप्रदेश के बदायूं में दंगे हुए, क्योंकि यहां उर्दू को दूसरी राजभाषा का दर्जा दिया गया। जिसमें दो दर्जन से अधिक जानें गयी।

27.3.9 भाषायी अल्पसंख्यकों की समस्या–नये भाषायी राज्यों के निर्माण के उपरान्त भी भाषायी अल्पसंख्यकों की समस्या बनी हुई है। जो शासन से अनेकानेक प्रकार के संरक्षणों की मांग कर रहे हैं। उत्तरप्रदेश में उर्दू, कर्नाटक में मराठी, पंजाब में हिन्दी भाषा–भाषियों की स्थिति अनेक समस्याओं को जन्म दे रही है।

27.3.10 सर्वमान्य शिक्षा नीति के निर्माण में कठिनाईयाँ–भाषा की समस्या के चलते हम आजादी के 55 वर्ष बाद भी एक सर्वमान्य एवं समान शिक्षा नीति का निर्माण नहीं कर सके है। इसलिए त्रतीन भाषा फार्मूलेश को अपनाया गया है।

27.3.11 भाषायी आधार पर राजनीतिक आन्दोलन–सरकार की भाषा नीति से हिन्दी के समर्थकों एवं विरोधियों दोनों में ही बड़ा रोष फैला। पहले उत्तरी राज्यों–उत्तरप्रदेश, बिहार, मध्यप्रदेश व महाराष्ट्र में अंग्रेजी के विरोध में प्रदर्शन व आन्दोलन हुए। इसके बाद मद्रास, आंध्रप्रदेश, कर्नाटक में हिन्दी विरोधी आन्दोलन हुए।

27.3.12 भाषावाद का राष्ट्रीय एकीकरण में बाधक होना–भारत जैसे विविधता वाले राष्ट्र को एकीकरण की बहुत आवश्यकता है, क्योंकि उसकी एकता को समाप्त करने के लिए पहले से कई तत्व लगे हुए हैं और भाषावाद इस आग में घी का काम कर रहा है। भाषावाद के कारण हमें अपना देश ही पराया (विदेश) लगता है। भाषावाद की संकीर्ण राजनीति ने हमारी एकता को प्रभावित किया है। भाषा की आड़ में अनेक राजनीतिक दल अपनी स्वार्थ सिद्धि में लगे हुए हैं।

27.4 सारांश

उपर्युक्त विवेचना के तत्पश्चात् निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते है कि भाषावाद का मुद्दा भारतीय राजनीति की ज्वलन्त समस्या बन चुका है, इसे दूर करना कड़ी चुनौती है। कोई भी भाषा बाहुल्य क्षेत्र दूसरी भाषा को स्वीकार करने को तैयार नहीं है। राजनीतिक दल भाषा को बेवजह तूल देकर इस समस्या को और विकराल रूप दे रहे हैं। वे अपने आप को अपनी भाषा का संरक्षक, हितैषी होने का दावा करते हैं। वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था के चलते भाषावाद का समाधान हो पाना असम्भव लगता है। अन्त में हम यह कह सकते है कि किसी भाषा विशेष पर किसी क्षेत्र का अधिकार नहीं होता और सभी लोगों को भाषा के बारे में जानने एवं सीखने की छूट प्राप्त है। भाषा तो एक सम्पर्क सूत्र है जिसके माध्यम से हम हमारे विचारों का आदान–प्रदान करते हैं और इस सम्पर्क सूत्र पर राजनीति का गन्दा खेल खेलना सभ्य एवं सुसंस्कृत लोगों को शोभा नहीं देता।

महत्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. भाषा भारतीय राजनीति को किन रूपों में प्रभावित कर रही है?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान में भाषा से संबंधित क्या प्रावधान है?
2. भाषायी आधार पर राज्य पुनर्गठन पर टिप्पणी लिखिए।
3. क्या राजस्थानी को संवैधानिक मान्यता मिलनी चाहिए? यदि हां तो क्यों ?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में कितनी भाषायें शामिल है?
2. भाषा संबंधी प्रावधान संविधान के कौन–से अनुच्छेद में है?
3. भाषायी आधार पर पहला राज्य कब और कौनसा बना?
4. बम्बई प्रान्त का विभाजन कब और कौनसी भाषाओं के आधार पर हुआ?
5. हिन्दी का विरोध सबसे ज्यादा किस प्रान्त में होता है?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

रामअवतार शर्मा भारतीय राजनीति : ज्वलन्त प्रश्न हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय , दिल्ली विश्वविद्यालय , दिल्ली

रजनी कोठारी भारत में राजनीति ओरियन्टल लॉगमेन्स, नई दिल्ली ।

मॉरिस जोन्स भारतीय शासन एवं राजनीति

सुशीला कौशिक, भारतीय शासन और राजनीति हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय , दिल्ली विश्वविद्यालय , दिल्ली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–28 : क्षेत्रवाद

संरचना

28.0 उद्देश्य

28.1 प्रस्तावना

28.2 क्षेत्रवाद का अर्थ

28.3 क्षेत्रवाद का इतिहास

28.4 क्षेत्रवाद के लक्षण

- 28.4.1 भावात्मक एकता
- 28.4.2 समान तत्व
- 28.4.3 पृथकता की भावना को जन्म देना
- 28.4.4 उग्र आन्दोलन
- 28.4.5 राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा
- 28.4.6 क्षेत्रवाद के प्रति विशिष्ट भाव
- 28.4.7 क्षेत्रवाद की मात्रा

28.5 क्षेत्रवाद के कारण

- 28.5.1 भौगोलिक कारण
- 28.5.2 सांस्कृतिक विभिन्नता
- 28.5.3 राज्यों का पुनर्गठन
- 28.5.4 भाषागत् विविधता
- 28.5.5 आर्थिक विषमता
- 28.5.6 जाति की भूमिका
- 28.5.7 राजनीतिक कारण
- 28.5.8 प्रभावशाली क्षेत्रीय नेता
- 28.5.9 नियोजन में असफलता

28.6 भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयवाद की समस्या

- 28.6.1 पृथक राज्यों की मांग
- 28.6.2 विभिन्न राज्यों के बीच सीमा विवाद
- 28.6.3 नदी–जल विवाद
- 28.6.4 पृथक राज्यत्व की मांग
- 28.6.5 केन्द्र शासित प्रदेशों द्वारा पूर्ण राज्य की मांग
- 28.6.6 क्षेत्रीय भाषीय विवाद
- 28.6.7 क्षेत्रीय दलों का निर्माण और भारतीय राजनीति पर प्रभाव
- 28.6.8 उत्तर–दक्षिण की भावना का विकास
- 28.6.9 राजनीतिक अस्थिरता
- 28.6.10 क्षेत्रीय आर्थिक टकराव

28.7 क्षेत्रीयवाद को रोकने के उपाय

28.8 सारांश

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

28.0 उद्देश्य

प्रस्तुत खण्ड के अन्तर्गत भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् क्षेत्रवाद की अवधारणा का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय को पढने से आपको निम्न जानकारी प्राप्त होगी–

- क्षेत्रवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि समझ सकेंगे,
- भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद का क्या प्रभाव पड़ा? उसे समझ सकेंगे,
- राष्ट्रीय एकीकरण के समय क्षेत्रीय समस्याओं की समीक्षा कर सकेंगे।

28.1 प्रस्तावना

क्षेत्रीयता भारतीय राजनीति का प्रमुख निर्धारक तत्व है। इस विचार की समीक्षकों ने अपने ढंग से परिभाषा देने का प्रयास किया है। अभी तक क्षेत्रीयता तथा क्षेत्रवाद की कोई निश्चित परिभाषा नहीं की जा सकी है। डॉ. इकबाल नारायण ने लिखा है कि भारतीय राजनीति का एक प्रमुख निर्धारक तत्व क्षेत्रीयता है, जिसके कारण लोग भारतीय संघ की तुलना में उस क्षेत्र व राज्य विशेष को अधिक महत्व देते हैं, जिसमें वे रहते हैं। मोरिस जॉन ने अपनी पुस्तक भारतीय शासन व राजनीति में लिखा है कि क्षेत्रवाद व भाषावाद के सवाल भारतीय राजनीति में इतने ज्वलनशील प्रश्न रहे हैं और भारत के हाल के राजनैतिक इतिहास की घटनाओं के साथ उनका इतना गहरा सम्बन्ध रहा है कि अक्सर ऐसा लगता है कि यही राष्ट्रीय एकता की सम्पूर्ण समस्या है।

28.2 क्षेत्रवाद का अर्थ

क्षेत्रीयवाद से तात्पर्य एक देश या देश के किसी भाग में उस छोटे से क्षेत्र से है, जो आर्थिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक आदि कारणों से अपने पृथक अस्तित्व के प्रति जागरूक है या क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोगों की उस भावना या प्रयत्नों से है जो अपने क्षेत्र विशेष के लिए अधिक से अधिक आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक लाभ प्राप्त करने के एकता से है जिसके आधार पर वह अपने आपको दूसरों से पृथक मानते हैं और अपने इस क्षेत्र के प्रति श्रेष्ठता का भाव रखते है अथवा ऐसा सोचते हैं कि राष्ट्रीय सरकार द्वारा उनके क्षेत्र के विकास की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया है और विकास कार्यों में उनके क्षेत्र को अधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

28.3 क्षेत्रीयवाद का इतिहास

जहाँ तक क्षेत्रीयवाद के इतिहास का प्रश्न है तो यह भारतीय स्वतन्त्रता व रियासतों के भारतीय संघ में शामिल होने के साथ जुड़ा है। भारतवर्ष की स्वतन्त्रता के समय अनेक रियासतें अस्तित्व में थी जिनका अपना–अपना भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक महत्व था। जब अंग्रेज भारत से जा रहे थे, तब कैबिनेट मिशन द्वारा रियासतों को इस बात के लिए स्वतंत्र कर दिया था कि वे चाहे तो भारत संघ में शामिल हो, चाहे तो पाकिस्तान में या फिर स्वतन्त्र रहें। अधिकांश रियासतें भारत संघ में ही सम्मिलित हुई थी, लेकिन अधिकांश रियासतें या क्षेत्र पिछड़े हुए थे। स्वतन्त्रता के पश्चात इनकी स्थिति और खराब होने लगी जिसके कारण क्षेत्र विशेष के लोगों में क्षेत्रीयवाद की भावना तूल पकड़ने लगी।

28.4 क्षेत्रवाद के लक्षण

क्षेत्रवाद की धारणा के निम्नलिखित लक्षण या प्रकृति है –

28.4.1 भावात्मक एकता–क्षेत्रवाद एक क्षेत्र विशेष में रहने वाले लोगों की भावात्मक एकता का सूचक है। जो अपनी भावना, विचारधारा तथा दृष्टिकोण के माध्यम से अपने क्षेत्र का समर्थन करते हैं तथा विभिन्न परिस्थितियों में अपने क्षेत्र का प्रतिनिधित्व कर क्षेत्र विशेष के पक्ष को प्रबलता के साथ प्रस्तुत करते हैं या करने का प्रयास करते हैं।

28.4.2 समान तत्व–यह भावात्मक एकता समान संस्कृति, समान भाषा, समान बोली, समान रीतिरिवाज व समान धार्मिक, आर्थिक आदि अनेक तत्वों से उत्पन्न होती है जिनकी क्षेत्र विशेष में एकता पायी जाती है।

28.4.3 पृथकता की भावना को जन्म देना–क्षेत्रवाद का यह भी एक प्रमुख लक्षण है कि यह पृथकता की भावना को जन्म देती है। वर्तमान में भारत जिस प्रकार से क्षेत्रीयवाद के रोग से ग्रस्त है उसका लक्षण पृथकतावाद है। इस समय कश्मीर में जे.के.एल.एफ. तथा हुरियत कांफ्रेंस, असम में बोडो संगठन या उल्फा, पंजाब में सिक्ख आतंकवाद, नागालैण्ड में नागा नेशनल फर्ड, तमिलनाडु में डी.एम.के. तथा एआईडी.एम.के., त्रिपुरा में आतंकवादी संगठन त्रिपुरा उप जाति युवा परिषद, मिजोरम में मिजो नेशनल फ्रंट आदि ऐसे अनेक संगठन हैं, जो इसी क्षेत्रीयवाद के कारण अपने–अपने पृथक स्वतन्त्र राज्यों की मांग कर रहे है जो राष्ट्रीय एकता व अखण्डता के लिए काफी घातक सिद्ध हो रहे हैं।

28.4.4 उग्र आन्दोलन–क्षेत्रवाद की इस बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण उग्र आन्दोलन को बढावा मिल रहा है। पिछड़े क्षेत्र अपना समुचित विकास तथा अधिक स्वायत्तता की मांग को लेकर इस प्रकार के साधनों का इस्तेमाल करते हैं, जैसे–बिहार में झारखण्ड तथा उत्तरप्रदेश में उत्तराचल, मध्यप्रदेश में छत्तीसगढ़ पृथक राज्य की मांग को लेकर लंबे समय तक आन्दोलन चला और आज भी अनेक क्षेत्रों से पृथक राज्यों की मांग हेतु आन्दोलन चलाये जा रहे हैं ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

28.4.5 राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा–क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति राष्ट्रीय हितों के स्थान पर क्षेत्रीय या स्थानीय हितों को ज्यादा महत्व देती है।

28.4.6 क्षेत्रवाद के प्रति विशिष्ट भावना–क्षेत्रीयवाद एक सीखा हुआ व्यवहार है। प्रत्येक क्षेत्र की एक संस्कृति होती है। वहां के लोगों में अपने क्षेत्र के प्रति एक विशिष्ट भावना होती है। जिसे वहाँ के नागरिक सीखते है। यह उन्हें वंशानुगत नहीं मिलती है।

28.4.7 क्षेत्रवाद की मात्रा–क्षेत्रवाद की मात्रा में अन्तर पाया जाता है–(1) उग्र क्षेत्रवाद तथा (2) उदार क्षेत्रवाद।

28.5 क्षेत्रीयवाद के कारण

स्वतन्त्रता के पश्चात् भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयवाद की प्रवृत्ति अपना विकृत रूप धारण कर चुकी है। इसके निम्न कारण हैं–

28.5.1 भौगोलिक कारण–भौगोलिक दृष्टि से भारत के कुछ राज्य बहुत बड़े हैं तो कुछ राज्य बहुत छोटे हैं। जहाँ एक तरफ उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान जैसे विशाल राज्य हैं तो वही मिजोरम, नागालैण्ड, अरूणाचल प्रदेश व मणिपुर जैसे छोटे राज्य हैं। अतः छोटे राज्यों की जनता में यह आम धारणा बन गयी है कि वह बड़े राज्यों की तुलना में असहाय और उपेक्षित हैं। अतः उनकी क्षेत्रीयता की भावना जोर मारती रहती है जो अनेक विकारों और दुष्प्रभावों के रूप में प्रकट होती है। इसके अलावा बड़े राज्यों के क्षेत्र विशेष मे यह धारणा पनप रही हैं कि इनके साथ रहने से उनका समुचित विकास अन्य क्षेत्रों की तुलना में नहीं हुआ।

28.5.2 सांस्कृतिक विभिन्नता–भारत के राज्यों में सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण क्षेत्रीयवाद को प्रोत्साहन मिल रहा है। कुछ राज्य अपनी भाषा व संस्कृति पर बहुत गर्व करते हैं। इनके अलावा इसी के आधार पर वहाँ के क्षेत्रीय राजनैतिक दल राजनीति कर रहे हैं, जिसमें वे काफी हद तक सफल भी हुए है। जैसे–मद्रास में द्रविड़ मुनैड़ कड़घम ने भारत संघ से अलग होने की बात कही थी, आंध्रप्रदेश में तेलुगूदेशम की सरकार तेलगू भाषा व संस्कशति के आधार पर अपनी राजनीति चला रही है। इसी प्रकार असम में असम गण परिषद् असमी संस्कृति की रक्षा का नारा बुलन्द कर रही है। महाराष्ट्र में शिव सेना मराठी संस्कृति के उत्थान की बात करती है और उसका मत हैं कि महाराष्ट्र मराठी वालों के लिये हैं ।

28.5.3 राज्यों का पुनर्गठन–भारत की स्वतन्त्रता के समय यहां अनेक रियासतें थी, जिनका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व था। लेकिन बाद में इनका विलीनीकरण इस प्रकार किया गया कि इनका चहुँमुखी विकास होना कठिन हो गया। जिससे यह क्षेत्र और अधिक पिछड़ने लगें आज इन रियासतों के वासिन्दों में यह धारणा विद्यमान है कि यदि उनका पृथक राज्य होता तो अधिक लाभ व गर्व की स्थिति में होते।

28.5.4 भाषागत विविधता–भारत में अनेक भाषायें बोली जाती है। यदि भारत को भाषा की खान कहे तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। राजस्थानी में एक कहावत है कि कोसा पाणी बदल और 12 कोसा बोली परन्तु इसके कारण क्षेत्रीयता की भावना को बढ़ावा मिला है। जिसका दुरूपयोग करते हुए विभिन्न राजनैतिक दलों ने राजनीतिक फायदा उठाने का प्रयास किया है। जैसे तमिलनाडु में डी.एम.के. का आधार ही तेलगू व अंग्रेजी भाषा है, जो राष्ट्रीय भाषा हिन्दी को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।

विशेष : हाल ही में एआईडी.एम.के नेता कुमारी जयललिता ने यह आरोप लगाया है कि हिन्दी भाषा उन पर जबर्दस्ती थोपी जा रही है। इसी प्रकार आन्ध्रप्रदेश में तेलुगुदेशम का मूल आधार ही तेलगू भाषा है। इस तरह भारत के प्रत्येक राज्य की अपनी–अपनी भाषा है। जिसके आधार पर अनेक भाषायी राज्यों का निर्माण हुआ है। जैसे बम्बई प्रान्त से गुजराती भाषा क्षेत्र को निकाल कर गुजरात व मराठी भाषा के आधार पर महाराष्ट्र आदि।

28.5.5 आर्थिक विषमता–भारत में कुछ राज्यों का आर्थिक विकास तीव्र गति से हुआ है तो कुछ क्षेत्र आर्थिक विकास की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। इससे इन क्षेत्रों में असंतोष व्यापक हुआ है और क्षेत्रीयवाद की भावना पनपी है। आन्ध्रप्रदेश में तेलंगाना, राजस्थान में दक्षिणी पूर्वी क्षेत्र, बिहार में छोटा नागपुर तथा महाराष्ट्र में विदर्भ क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से काफी पिछड़े हुए है। जिसके कारण आन्ध्रप्रदेश में तेलंगाना, महाराष्ट्र में विदर्भ, उत्तरप्रदेश में हरित प्रदेश, पश्चिम बंगाल में गौरखालैण्ड, जम्मू कश्मीर में लद्दाख आदि राज्यों की स्थापना के लिए प्रबल जन आन्दोलन चल रहे है।

28.5.6 जाति के कारण–जाति के आधार पर भी क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति बढ़ी है। जिन क्षेत्रों में एक जाति की प्रधानता है, वहाँ क्षेत्रीयवाद और अधिक उग्र दिखाई दिया है। हरियाणा और महाराष्ट्र में क्षेत्रीयता की प्रवृत्ति के विकास में जाति एक भयावह तत्व सिद्ध हुआ है।

28.5.7 राजनीतिक कारण–राजनीतिक कारणों से भी प्रादेशिकता की मांग बढ़ी है। कुछ राजनीतिज्ञों की यह चिन्तन शैली रही है कि यदि पृथक राज्य बन जाए तो राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति सरलता से हो सकेगी। अकाली दल, डी.एम.के., तेलगुदेशम आदि प्रादेशिक दलों ने भी राजनीतिक कारणों से प्रादेशिकता को प्रोत्साहन दिया है। इसी तरह झारखण्ड मुक्ति मोर्चा द्वारा जो झारखण्ड राज्य की स्थापना के लिये आन्दोलन चलाया जा रहा था उसके पीछे राजनीतिक कारण निहित था जिसमें उन्हें सफलता मिली। अजीतसिंह द्वारा उत्तरप्रदेश में एक पृथक हरित प्रदेश की मांग हुई, जो राजनीति से प्रेरित होकर की जा रही हैं।

28.5.8 प्रभावशाली क्षेत्रीय नेता–प्रभावशाली क्षेत्रीय नेताओं के उदय और उनके व्यक्तित्व के करिश्मे से भी क्षेत्रीयता को बढ़ावा मिला है। तमिलनाडु में अन्ना दुराई और एम.जी. रामचन्द्रन, आन्ध्रप्रदेश में एन.टी. रामाराव, जम्मू कश्मीर में शेख अब्दुल्लाह, महाराष्ट्र में बाला साहेब ठाकरे, उड़ीसा में बीजु पटनायक के उदाहरण गिनाये जा सकते हैं।

28.5.9 नियोजन में असफलता–स्वतन्त्र भारत में नियोजन का मार्ग अपनाकर बेरोजगारी, गरीबी, आर्थिक विषमता आदि को दूर करने के संकल्प तो बार–बार दोहराए गए है लेकिन संकीर्ण स्वार्थो की राजनीति के कारण लक्ष्य प्राप्ति नहीं हो पाई है और जनता में निराशा का प्रसार हुआ। इन परिस्थितियों में संकीर्ण क्षेत्रीयता का पनपना स्वाभाविक है। प्रारम्भ में राष्ट्रीय हितों की तुलना में क्षेत्रीयवाद का जो बीज पड़ा वह समय के साथ एक विशाल वृक्ष के रूप में विकसित हो गया।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Jodhpur

28.6 भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयवाद की समस्या

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में क्षेत्रीयवाद भारतीय राजनीति पर बहुत ज्यादा हावी हो चुका है। आम आदमी में क्षेत्रवाद की भावना कूट–कूट कर भरी हुई है। अधिकारीगण तथा राजनेता अपने क्षेत्र विशेष के हितों को बहुत महत्व देते है। जिसके कारण क्षेत्रवाद एक गम्भीर समस्या के रूप में उभर कर सामने आ रही है। यह भारतवर्ष रूपी जंगल में वटवृक्ष की भांति अनियंत्रित रूप से बढ़ रही है। इसकी जड़े इतनी फैल चुकी हैं कि उनको समाप्त करना असम्भव–सा हो गया है। इस क्षेत्रवाद के कारण भारतीय राजनीति निम्न समस्याओं से जूझ रही है –

28.6.1 पृथक राज्यों की मांग–क्षेत्रीयवाद रूपी पेड़ में से पृथक राज्य रूपी फल निकल कर सामने आया है। वर्तमान में अनेक राज्यों में भारत संघ से पृथक होने की मांग की जा रही है। इसके लिए यह हिंसात्मक एवं आतंकवादी साधनों का प्रयोग कर रहे हैं। भारत में सर्वप्रथम 1953 में तेलगू भाषा के आधार पर आन्ध्रप्रदेश का निर्माण किया गया। अतः इस प्रकार की विघटनकारी शक्तियों से निपटने के लिए अक्टूबर, 1963 में 16वें संविधान संशोधन द्वारा संसद को यह अधिकार दिया गया कि यदि कोई व्यक्ति भारत की सम्प्रभुता व अखण्डता के लिए खतरा पैदा करता है तो उसे दण्डित कर सकती है तथा संसद व विधानमण्डल के सदस्य संविधान के प्रति निष्ठा तथा प्रभुसत्ता की रक्षा की शपथ ले। वर्तमान में भारत के अग्रलिखित राज्य इस समस्या से ग्रस्त हैं, जम्मू कश्मीर में जे.के.एल.एफ., पंजाब में खालिस्तान निर्माण के लिए सिक्ख आतंकवाद, मिजोरम में मिजो नेशनल फर्ड, नागालैण्ड में नागा नेशनल आर्मी, असम में उल्फा आदि है। इन आतंकवादी संगठनों को पाकिस्तान व चीन का खुले रूप से आर्थिक व सैनिक समर्थन मिल रहा है। केन्द्र सरकारें इन आतंकवादी गतिविधियों पर अंकुश लगाने के लिए प्रयासरत् रही हैं। जैसे–1985 में मिजो नेता लालडेंगा और प्रधानमंत्री राजीव गांधी के बीच समझौता हुआ जिसके मुताबिक मिजोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया और आतंकवादी गतिविधियों पर अंकुश लगाया जा सका। इसी प्रकार 1991 में पंजाब में विधानसभा के चुनाव करवाये गये और बेअन्तसिंह के नेतृत्व में कांग्रेस पार्टी की जनहित वाली सरकार सत्ता में आयी, जिसके पश्चात वहां पर आतंकवादी गतिविधियों पर अंकुश लगाने में काफी सफलता मिली। इसी तरह 2002 में कश्मीर में चुनाव करवाये गये और मुफ्ती मोहम्मद सईद के नेतृत्व में जनप्रिय सरकार कार्यरत् है जो राष्ट्र विरोधी गतिविधियों को रोकन के लिए प्रयासरत है।

28.6.2 विभिन्न राज्यों के बीच सीमा विवाद–इसी क्षेत्रीयवाद के कारण अज विभिन्न राज्यों के बीच सीमा विवाद अपनी पराकाष्ठा पर है। प्रत्येक राज्य अपनी प्रतिष्ठा के कारण सीमा विवाद के समाधान के लिए झुकना नहीं चाहता। वर्तमान समय में अग्रलिखित राज्यों के बीच सीमा विवाद है – कर्नाटक व महाराष्ट्र के बीच बैलगांव को लेकर विवाद हैं, जिसके तहत् बैलगांव में मराठी भाषी लोगों का बाहुल्य है। अतः महाराष्ट्र यह चाहता है कि यह क्षेत्र उसको मिल जाये परन्तु इसके बदले वह कर्नाटक को 260 गांव दे दिये जाएंगे। हरियाणा व पंजाब के बीच चण्डीगढ़ का विवाद भी प्रमुख रहा है। इस विवाद का समाधान करने के लिए 29 जनवरी, 1970 को यह घोषणा की गयी है कि चण्डीगढ़ को पंजाब को दे दिया जाए। इसके बदले में हरियाणा को फाजिल्का सहित 114 गांव हिन्दी भाषी गांव तथा अबोहर तथा चण्डीगढ़ के बीच के 6 गाँव दे दिये जाएंगे। लेकिन इसका कोई परिणाम नहीं निकला। असम व मेघालय लेमपी और हाकुमारी, मणिपुर व नागालैण्ड के बीच में साका विलेज आदि।

28.6.3 नदी जल विवाद–क्षेत्रवाद के कारण नदी जल विवाद और अधिक गहरा हो गया है। नर्मदा नदी के जल प्रयोग पर मध्यप्रदेश, गुजरात और राजस्थान के बीच गहरा विवाद रहा, जिसका बहुत कुछ सीमा तक समाधान हो चुका है। राजस्थान और पंजाब के बीच भाखरा जल विद्युत के उपयोग पर और हिमाचल प्रदेश तथा राजस्थान के बीच पोंग बांध के प्रश्नों पर भी विवाद रहे। जिसका कुछ न कुछ समाधान हुआ है। यमुना नदी के जल विवाद पर हरियाणा व दिल्ली के बीच विवाद जारी है। वर्तमान में सबसे महत्वपूर्ण कावेरी नदी जल विवाद है, जो कर्नाटक व तमिलनाडु के बीच है। जो काफी लम्बे समय से तूल पकड़ा हुआ है। यद्यपि इसके लिए कावेरी जल विभाजन ट्रिब्युनल की स्थापना की गई है, जिसने अपना निर्णय भी दे दिया है, परन्तु इसको मानने के लिए कोई राज्य तैयार नहीं है। 1996 में तो ऐसा लग रहा था कि सत्तारूढ़ संयुक्त मोर्चा सरकार गिर जाएगी क्योंकि दोनों राज्यों की सरकारे मोर्चे के घटक दल थे। यद्यपि इस विवाद के समाधान के लिए दोनों राज्यों के मुख्यमंत्रियों के बीच बैठकें हो चुकी है, परन्तु निर्णय कुछ नहीं रहा। कावेरी विवाद का मुद्दा वर्तमान भारतीय राजनीति में छाया हुआ हैं और रोजना कर्नाटक एवं तमिलनाडु की सरकारें एक दुसरे पर आरोप–प्रत्यारोप लगाती रहती है।

28.6.4 पृथक राज्यत्व की मांग–कुछ क्षेत्रों द्वारा अपने लिए पृथक राज्यत्व की मांग के आन्दोलन भी भारतीय राजनीति को उद्वेलित करते रहे है। महाराष्ट्र, गुजरात और पंजाब राज्यों की स्थापना मुख्यतः ऐसे ही आन्दोलनों का परिणाम है। असम के उत्तरी कछार क्षेत्रों में रहने वाले लोगों के आन्दोलन के परिणाम स्वरूप 1972 में मेघालय की स्थापना हुई। महाराष्ट्र में विदर्भ पृथक राज्य की स्थापना की मांग, उत्तरप्रदेश में उत्तरांचल की स्थापना 2000 में कर दी गयी हैं व बुंदेल खण्ड, एवं हरित प्रदेश की मांग, बंगाल में गोरखालैण्ड, राजस्थान में मरूप्रदेश, गुजरात में कच्छ, आन्ध्रप्रदेश में तेलगांना जैसे आदि अनेक पृथक राज्यों की स्थापना की मांग बढ़ रही है। इन क्षेत्रों के लोगों का मत है कि वर्तमान स्थिति में उनके क्षेत्र के विकास की उपेक्षा की गई है। अतः हमारा समुचित विकास जब तक नहीं होगा तब तक कि पृथक राज्य की स्थापना न कर दी जाए।

28.6.5 केन्द्रशासित क्षेत्रों द्वारा पूर्ण राज्य की मांग–कुछ केन्द्रशासित क्षेत्र भी पूर्ण राज्यत्व की मांग कर रहे है। हिमाचल प्रदेश, मणिपुर और त्रिपुरा में मांग काफी समय तक रही है फलस्वरूप इन्हें पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त हुआ। दिल्ली, गोवा, दमन और दीव तथा पाण्डिचेरी में भी पूर्ण राज्य का दर्जा दिए जाने की मांग उठती रही है। सन 1985 के बाद मिजोरम, गोवा और अरूणाचल प्रदेश इसी के चलते पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त कर सके है।

Jan Vishva Bharati (Institute Deemed University)

28.6.6 क्षेत्रीय भाषायी विवाद–भारत में भीषण भाषायी दंगे होते रहे हैं, जिनमें सैंकड़ों लोग मारे जाते है। असम और बम्बई में ये भाषायी नाम पर लड़े गए तो कलकत्ता में गैर बंगालियों के प्रति द्वेष की भावना भी इसी बुनियाद पर उभारी जाती है। महाराष्ट्र में शिवसेना सरकार ने गैर मराठी भाषी लोगों को निकालने का अभियान चलाने की घोषणा की थी। कुछ विचारकों का मत है कि श्कंवल भाषा के महत्वश इसका प्रमुख आधार नहीं बनाया जा सकता है। वास्तव में प्रदेश विशेष का शिक्षित वर्ग रोजगार पाने में पहले से जमे हुए बाहर वालों से मात खाता हैं, तो उसे बैचेनी होती हैं। ऐसा माना जाता है कि वे अपने क्षेत्र में ही बेरोजगार हैं, बाहर वाले वहां अच्छी नौकरियों में जमे बैठे है और उनकी स्थिति भी सुदृढ़ हैं।

28.6.7 क्षेत्रीय दलों का निर्माण व भारतीय राजनीति पर प्रभाव–वर्तमान नें भारतीय राजनीति जिस अस्थिरता के दौर से गुजर रही हैं, उसके लिए काफी हद तक यही क्षेत्रीयवाद जिम्मेदार है। भारत में जिस प्रकार क्षेत्रीय दल अस्तित्व या सत्ता में आ रहे हैं, वह स्थिति भारतीय लोकतंत्र के लिए काफी घातक सिद्ध हो रही है और होगी। क्षेत्रीय दल अपनी क्षेत्रीय राजनीति में पकड़ मजबूत करने के लिए अपना ध्यान मात्र क्षेत्रीय हित तक रखते है। आज के परिप्रेक्ष्य में राजनैतिक विचारकों में यह महत्वपूर्ण प्रश्न बना हुआ है कि क्या क्षेत्रीय दल भारतीय लोकतंत्र के लिए अभिशाप सिद्ध हो रहा है? भारत के अनेक राज्यों में क्षेत्रीय दलों की सरकारें कार्यरत हैं जो इस प्रकार है– जम्मू कश्मीर में नेशनल कांफ्रेस एवं पी.डी.पी, हरियाणा में हरियाणा विकास पार्टी एवं इण्डियन नेशनल लोकदल, पंजाब में अकाली दल, असम में असम गण परिषद, मणिपुर में मणिपुर कांग्रेस पार्टी, बिहार में राष्ट्रीय जनता दल, तमिलनाडु में डी.एम.के. व टी.एम.सी., आन्ध्रप्रदेश में तेलगूदेशम, अरूणाचल प्रदेश में कांग्रेस, महाराष्ट्र में शिवसेना, सिक्किम में सिक्किम संग्राम परिशद, पश्चिम बंगाल में तृणमुल कांग्रेस, उड़ीसा में बीजु जनता दल, उत्तरप्रदेश में समाजवादी पार्टी ,व राष्ट्रीय लोकदल इनके अलावा भारत के लगभग सभी राज्यों में क्षेत्रीय दलों का विकास द्रुत गति से हो रहा है।

28.6.8 उत्तर व दक्षिण की भावना का विकास–क्षेत्रीयवाद के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण भारत उत्तर व दक्षिण के दो भागों में बंट गया है। जिसकी झलक स्पष्ट रूप से दिखलायी पड़ती है।

28.6.9 राजनीतिक अस्थिरता–वर्तमान में जिस प्रकार केन्द्र व राज्यों में राजनैतिक अस्थिरता का दौर चल रहा है उसके काफी हद तक क्षेत्रीयवाद ही जिम्मेदार है। जिसके परिणामस्वरूप सैंकड़ों क्षेत्रीय राजनैतिक दल अस्तित्व में आ गये है। जिससे किसी भी राष्ट्रीय दल को बहुमत नहीं मिल रहा है और अल्पमत वाली सरकारों का निर्माण हो रहा है जिनमें स्थायित्व का नितान्त अभाव पाया जाता है जो कुछ समय बाद बालु के घरौंदे के समान ढह जाती है और राष्ट्र को पुनः मध्यावधि चुनाव की ओर धकेला जाता है।

28.6.10 क्षेत्रीय आर्थिक टकराव–स्वतन्त्रता के पश्चात् राजनीतिक सत्ता का दुरूपयोग व्यक्ति विशेष द्वारा क्षेत्र विशेष के लिए हुआ। शिक्षा, रोजगार, उद्योगों के मामले में विकास राजनीतिक सन्तुलन के अनुरूप हुआ न कि समग्र विकास की दृष्टि से। जिसके परिणामस्वरूप क्षेत्रीय विकास असन्तुलित ढंग से हुआ। इससे पिछड़े हुए क्षेत्रों के लोगों में अविश्वास व असंतोष की भावना जागी है। आन्ध्रप्रदेश में तेलंगाना का संकट इस सन्दर्भ में ज्वलन्त उदाहरण है। जिसके मूल में समाज की आर्थिक दशा है। भारतीय राजनीति के पिछले वर्षों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाएगा कि मेघालय, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, त्रिपुरा केन्द्र शासित प्रदेशों की जनता द्वारा पूर्ण राज्य के दर्जे की मांग के मूल में आर्थिक विकास के ही प्रश्न सन्निहित हैं। इसके सन्दर्भ में कालीचरण पाण्डे ने अपनी पुस्तक साम्प्रदायिकता एवं क्षेत्रीयता – आर्थिक निदान में लिखा है कि भारत के लिए यह परमावश्यक है कि प्रजातान्त्रिक प्रक्रियाओं के द्वारा ही आर्थिक गतिरोध व टकरावों को दूर करे। इस प्रक्रिया में जनतांत्रिक तरीकों को निम्न श्रेणियों में विभाजित किया है:

1. पहला टकराव पूंजी निर्माण की आवश्यकता और उपयोग स्तर की वृद्धि के बीच होता है।
2. दूसरा टकराव संघीय संविधान के अस्तित्व से पैदा होता है।
3. तीसरा टकराव सार्वजनिक व निजी क्षेत्र की उपस्थिति से पैदा होता है, जो मिश्रित अर्थव्यवस्था की देन है।
4. स्थानीय लोगों के लिए सुविधा और अन्य राज्यों के लोगों के साथ पक्षपात की प्रवृत्ति :

28.7 क्षेत्रीयवाद को रोकने के उपाय

भारतीय राजनीति में जिस प्रकार क्षेत्रीयवाद हावी हो रहा है वह राष्ट्रीय एकता व अखण्डता के लिए विषैले सर्प के समान है। यदि इसको रोका नहीं गया तो यह राष्ट्र के लिए काफी घातक सिद्ध हो सकता है। मेरी दृष्टि में इसको रोकने के लिए निम्न उपाय हैं –

1. सभी उप–सांस्कृतिक क्षेत्रों में सन्तुलित आर्थिक विकास की प्रभावी नीति पर अमल किया जाए।
2. सभी क्षेत्रों के लोगों को बिना किसी भेदभाव के समान सुविधायें उपलब्ध करवायी जाए ताकि लोगों में ईर्ष्या व असंतोष न फैले।
3. इस बात को सुनिश्चित किया जाए कि नियोजन का लाभ पिछड़े व गरीब तबके को मिले तथा कुछ ही क्षेत्रों में धन का केन्द्रीयकरण न हो।
4. भाषायी विवाद का तुरन्त समाधान किया जाए तथा आवश्यकतानुसार समान रूप से मान्यता प्रदान की जाए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

5. हिन्दी भाषा को किसी भी क्षेत्र को थोपा नहीं जाए बल्कि इस प्रकार का वातावरण तैयार किया जाए कि गैर हिन्दी भाषी उसे स्वतः स्वीकार कर ले।
6. केन्द्रीय मंत्रिमण्डल में सभी क्षेत्रों को समान रूप से प्रतिनिधित्व दिया जाए, ताकि क्षेत्र विशेष में अप्रतिनिधित्व के लिए असंतोष पैदा न हो।
7. केन्द्र व राज्य सरकार के बीच सहमति एवं सामन्जस्य का वातावरण पैदा किया जाए। विचार–विमर्श और सम्मेलन की कूटनीति द्वारा पारस्परिक विश्वास प्रकट किया जाए और ऐसे अवसर उपस्थित न हो कि एक दूसरे पर कीचड़ उछालने की चेष्टा हो।
8. यदि कोई आन्दोलन शुरू हो रहा है तो उसको तुरन्त दबाने का प्रयास किये जाने चाहिए। इसके लिए मुक्त वातावरण में बातचीत की जाए।
9. प्रचार माध्यमों और शिक्षा द्वारा क्षेत्रीयवाद की संकीर्ण भावनाओं के विरूद्ध वातावरण तैयार किया जाए।
10. जो दल कठोर रूप से साम्प्रदायिक हो और प्रयत्न करने पर भी क्षेत्रीयवाद की आग फैलाने से न रूकते हो, उन्हें कठोरतापूर्वक दबा दिया जाए और साथ ही साथ ऐसे भी उपाय किये जाए कि यह कभी भी सिर ऊँचा नहीं उठाये।
11. जो क्षेत्र विकास की दृष्टि से पिछड़े हो उनके लिए अतिरिक्त स्त्रोतों की व्यवस्था करके उन्हें तेजी से समृद्ध बनाया जाए।
12. उप–सांस्कृतिक क्षेत्र की उचित आकांक्षाओं की यथासाध्य पूर्ति की जाए ताकि राष्ट्रीय जीवन और एकता पर उनका कोई बुरा प्रभाव न पड़े।

28.8 सारांश

उपर्युक्त विवेचना के पश्चात् हम यह कह सकते हैं कि क्षेत्रीयवाद भारतीय समाज व राजनीति की जड़ो में गहराई तक पहुंच कर इसको कमजोर कर रहा है और राष्ट्रीय एकता व अखण्डता को खतरा पैदा हो रहा है। यदि हम राष्ट्र का बारीकी से विश्लेषण करे तो हम यह पाते है कि सम्पूर्ण राष्ट्र विभिन्न क्षेत्रों में बंटा हुआ है। प्रत्येक क्षेत्र का आम व्यक्ति अपने क्षेत्र विशेष के हितों को पूरा करने के लिए तत्पर रहता है। क्षेत्रीयवाद के कारण आज हमारे राष्ट्र के समक्ष पृथकतावाद, आतंकवाद जैसी ज्वलनशील समस्यायें पैदा हो रही है। आज आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय एकता के लिए वातावरण तैयार किया जाए।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. क्षेत्रवाद का अर्थ एवं प्रकृति को स्पष्ट करते हुए , कारणों पर प्रकाश डालिये ।
2. क्षेत्रवाद का भारतीय राजनीति पर क्या प्रभाव पड़ रहा हैं स्पष्ट कीजिये ।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. क्षेत्रवाद को रोकने के लिये कोई पाँच उपाय बताओं ।
2. क्षेत्रवाद का भारतीय राजनीति व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ रहा हैं ?

संदर्भ ग्रन्थ सूची

रामअवतार शर्मा, सुषमा यादव, भारतीय राजनीतिः ज्वलंत प्रश्न हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय , दिल्ली विश्वविद्यालय , दिल्ली

सुभाष कश्यप भारतीय सरकार और राजनीति, रिसर्च, नई दिल्ली ।

एम.पी.रॉय , भारतीय शासन एवं राजनीति, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–29 : साम्प्रदायिकता

संरचना

29.0 उद्देश्य

29.1 प्रस्तावना

29.2 साम्प्रदायिकता का उदय

29.3 साम्प्रदायिकता के कारण

- 29.3.1 आडम्बरपूर्ण धर्म निरपेक्षता
- 29.3.2 वर्ग विशेष के तुष्टिकरण पर आधारित
- 29.3.3 कट्टरपंथी धार्मिक नेताओं द्वारा इसको विकृत करना
- 29.3.4 भारतीय समाज द्वारा जीवन के प्रति यांत्रिक दृष्टिकोण अपनाना
- 29.3.5 पृथकता की भावना तथा अपने सम्प्रदाय समूह को राष्ट्र से उच्च मानना
- 29.3.6 मुसलमानों का पिछड़ापन
- 29.3.7 संकुचित हिन्दु राष्ट्रीय वाद
- 29.3.8 पाकिस्तान का प्रचार
- 29.3.9 समान आचार संहिता का अभाव
- 29.3.10 राजनीतिक दलों की भूमिका

29.4 साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम

- 29.4.1 आपसी द्वेष
- 29.4.2 आर्थिक हानि
- 29.4.3 प्राण हानि
- 29.4.4 राजनीतिक अस्थिरता
- 29.4.5 राष्ट्रीय एकता में बाधा
- 29.4.6 राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा
- 29.4.7 आर्थिक विकास में अवरोधक

29.5 साम्प्रदायिकता दूर करने के सुझाव

29.6 सारांश

29.0 उद्देश्य

यह अध्याय भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या के विभिन्न आयामों को उजागर करता है। इस पाठ को पढ़कर आप–

- साम्प्रदायिकता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और भीतरी कारणों को समझ सकेंगे,
- साम्प्रदायिकता की अवधारणा का विश्लेषण कर सकेंगे,
- साम्प्रदायिकता के कारणों के बारे में जान सकेंगे।

29.1 प्रस्तावना

आंद्रे मालरा ने पण्डित नेहरू के साथ 1958 में एक मुलाकात में पुछा कि उनके सामने सबसे बड़ी चुनौती क्या है ? तो नेहरू बोले उचित तरीके से न्यायसंगत राज्यतन्त्र की स्थापना करना, उसक बाद रूक करा कहा शायद एक धार्मिक देश में धर्म–निरपेक्ष राज्य की स्थापना करना सबसे बड़ी चुनौती है।

भारत का संविधान एक धर्म निरपेक्ष राज्य की स्थापना करता है जिसके अनुसार राज्य का अपना कोई धर्म नहीं होगा तथा न ही राज्य द्वारा किसी धर्म को प्रोत्साहन दिया जायेगा और सभी धर्मों के लोगों को विकास के सम्मान अवसर उपलब्ध होंगे लेकिन इन सबके बावजूद भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या अपना विकराल रूप धारणा कर चुकी हैं। सम्पूर्ण भारत साम्प्रदायिकता की आग की चपेट में है। पिछले कुछ समय से इनमें ओर तेजी आयी है। रामजन्मभूमि एवं बाबरी मस्जिद के विवाद ने हिन्दु व मुसलमानों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

के बीच गहरी खाई पैदा करदी हैं। इसके अलावा कुछ निहित स्वार्थी तत्वों ने अपनी राजनीतिक इच्छा की पूर्ति के लिये साम्प्रदायिकता के कार्ड का सहारा ले लिया है। पिछले दिनों गुजरात में गोधरा काण्ड के बाद जिस प्रकार से सम्पूर्ण गुजरात में साम्प्रदायिक हिंसा का दौर चला वह एक चिंता का विषय है। इससे न केवल जानमाल की क्षति हुई हैं अपितु हमारी साख अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गिरी है।

29.2 साम्प्रदायिकता का उदय

भारत में साम्प्रदायिकता की समस्या ब्रिटिशकालीन अंग्रेजों के द्वारा जो फुट डालो और राज करों की नीति अपनायी उससे हिन्दु और मुसलमानों की बीच गहरी खाई पैदा हुयी थी। उसको आजादी के बाद भी पाटा नहीं जा सका। अपितु इसका विस्तार हुआ हैं। भारत विभाजन के समय सम्पूर्ण भारत में व्यापक स्तर पर साम्प्रदायिक दंगे हुए थे। उस समय जो सम्बन्धों में आपसी कड़वड़ाहट पैदा हुयी थी वह आज तक जारी है।

29.3 साम्प्रदायिकता के कारण

भारतीय संविधान में यद्यपि भारत को पूर्णतया व विशुद्ध धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है परन्तु आज भारत की धर्मनिरपेक्षता के सम्मुख जो चुनौतियां व समस्या पैदा हो रही हैं, वे हमारे धर्म निरपेक्ष ढांचे के लिए काफी खतरनाक साबित हो रही हैं। 6 दिसम्बर, 1992 की बाबरी मस्जिद को ध्वस्त करने की घटना ने तो भारत के धर्मनिरपेक्ष ढांचे को हिला कर रख दिया था। यह घटना भारतीय इतिहास के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी, जिसकी राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक आलोचना की गयी थी। इस घटना को लेकर सम्पूर्ण भारत में साम्प्रदायिक दंगों की ज्वाला भड़क उठी थी, जिसमें हजारों बेगुनाह लोग मारे गये तथा अरबों रूपयों की सम्पत्ति इसकी भेंट चढी। बाबरी मस्जिद की घटना ने अल्पसंख्यक वर्ग में असुरक्षा की भावना पैदा कर दी है। यदि स्वतन्त्र भारत के पिछले 15–20 वर्ष का इतिहास देखें तो भीषण साम्प्रदायिक दंगों का भरमार दिखलायी पड़ता हैं। वर्तमान समय में भारतीय धर्मनिरपेक्ष ढांचे के सम्मुख निम्नलिखित चुनौतियां है –

29.3.1 आडम्बरपूर्ण धर्म निरपेक्षता–भारतीय समाज में साम्प्रदायिकता का मुल कारण आडम्बरपूर्ण धर्मनिरपेक्षता की है। इसके सन्दर्भ में असम उच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश तथा भाजपा के वरिष्ठ नेता श्री गुमानमल लोढा ने कहा है कि भारत में दिखावी व आडम्बरपूर्ण धर्मनिरपेक्षता है। उनके अनुसार धर्मनिरपेक्षता एक शाश्वत जीवन प्रणाली, जीवन दर्शन तथा संविधान में उद्घोषित उच्च आदर्श की अभिव्यक्ति है। परन्तु वर्तमान समय में आडम्बरपूर्ण धर्मनिरपेक्षता के पोषकों ने वोट बैंक की राजनीति का साधन बना लिया है।

29.3.2 वर्ग विशेष के तुष्टिकरण पर आधारित–पिछले कुछ वर्षों से धर्मनिरपेक्षता को केवल अल्पसंख्यक वर्ग के तुष्टिकरण पर आधारित कर दिया गया है और मुख्य रूप से मुस्लिम तुष्टिकरण तक सीमित होकर रह गयी है। सम्प्रदायी सद्भावना का तात्पर्य अल्पसंख्यकों के खुशामद का प्रतीक बन गया है। भारत में लगभग 20 प्रतिशत मुस्लिम मतदाता है। जो करीब 100 निर्वाचन क्षेत्रों के परिणामों को प्रभावित करते हैं। जिनकी एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। मुस्लिम मतदाता एकजूट होकर मतदान करते है। इन मतों को प्राप्त करने के लिए लगभग सभी राजनीतिक दल प्रयास करते है। इसके लिए वे सभी नकली धर्मनिरपेक्षता का नाटक रचते है। हृदय से कोई भी अल्पसंख्यकों के हितों के लिए कार्य नहीं करता है। कोई तो मुसलमानों को आरक्षण देने की बात करते है तो कुछ पुनः मस्जिद निर्माण की बात करते है, लेकिन उनके आर्थिक, सामाजिक व शैक्षणिक उत्थान की कोई भी बात नहीं करता।

29.3.3 कट्टरपंथी धार्मिक नेताओं द्वारा इसको विकृत करना–हिन्दू व मुस्लिम दोनों धर्मों के कट्टरपंथी नेताओं ने अपने–अपने धार्मिक दृष्टिकोण से धर्मनिरपेक्षता की अपने हित में व्याख्या की है। उदाहरण के लिए मौलाना अब्दुल्ला बुखारी, आजम खां, सैय्यदशहाबुद्दीन जिलानी अलीमिया नकवी आदि मुस्लिम लोगों की धार्मिक भावना को समय–समय पर भड़काते रहते है। दूसरी तरफ हिन्दुओं में आर.एस.एस., बजरंग दल, शिवसेना व भाजपा के कट्टर धर्मावलम्बी धार्मिक कट्टरता की भावना को भड़काने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। इससे दोनों धर्मों के बीच धार्मिक कट्टरता की भावना प्रबल हो रही है जो कि धर्मनिरपेक्षता के लिए एक समस्या के रूप में उभरकर सामने आयी है।

29.3.4 भारतीय समाज द्वारा जीवन के प्रति यांत्रिक दृष्टिकोण अपनाना–धर्मनिरपेक्ष मानस, धर्मनिरपेक्ष जीवन और राजनीति का निर्माण पश्चिम में निःसंदेह एक सहज प्रक्रिया रही है और यह सिलसिला 15वीं सदी में पुनर्जागरण के दौरान शुरू हुआ। यदि यूरोप का आदमी जीवन के प्रति यांत्रिकी दृष्टिकोण नहीं अपनाता और विज्ञान पूर्णता भौतिकवादी मोड़ नहीं लेता तो शायद उन्हें भी धर्मनिरपेक्षता में सफलता नहीं मिलती। भारत इस तरह की घटनाओं से अप्रभावी रहा है। धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा मूलतः पश्चिम से प्रभावित लोगों पर हावी रही। इसका नतीजा यह हुआ कि बुद्धिजीवी वर्ग अलग थलग पड़ गया और धार्मिक कट्टरता हावी हो गयी है। हिन्दू–मुस्लिम बुद्धिजीवियों के साथ उचित तालमेल नहीं बैठा सके और वे कट्टरता व धार्मिकता के जाल में फंसते गये।

29.3.5 पृथकता की भावना तथा अपने सम्प्रदाय समूह को राष्ट्र से उच्च मानना–जहां पारसी, बौद्ध, जैन, ईसाई आदि संगठन सम्प्रदाय नहीं है। वे तो अपने सदस्यों की भावना से लिप्त है, परन्तु पृथकतावादी भावना की ओर प्रेरित नहीं है। जबकि कुछ अल्पसंख्यक वर्ग बहुसंख्यकों के अत्याचार से पृथकतावादी भावना की ओर प्रेरित हुए है। वे अपने गुटीय हितों की तुलना में राष्ट्रीय हित को गौण मानते है। पंजाब में उग्रवादी गतिविधियां, जम्मू कश्मीर में चल रहा आन्दोलन इसी सन्दर्भ में माना जा सकता है। इसी प्रकार नागालैण्ड में ईसाई पृथक राज्य बनाना चाहते हैं, इसके लिए वे खूनी संघर्ष कर रहे हैं।

Parul Vishva Bharati Institute (Deemed University) Lalitpur

29.3.6 मुसलमानों का पिछड़ापन–स्वाधीनता के बाद मुसलमानों की आर्थिक स्थिति में निरन्तर गिरावट आती रही है। सरकारी नौकरियां, व्यापार व उद्योग धन्धों में हिन्दुओं की तुलना में वह काफी पिछड़े हुए हैं। 1971 में एक सर्वेक्षण के मुताबिक भारतीय प्रशासकीय सेवा आई.ए.एस. व आई.एफ.एस. में चुने जाने वाले उम्मीदवारों में मुसलमानों का प्रांतोंनोंधेत्व मात्र 1 प्रतिशत था जबांके उनकी आबादी 20 प्रांतेशत हैं। आखिर मुसलमानों के प्रांते इस भेदभाव के कारण उनमें असंतोष की भावना निरन्तर बढती गयी है। अत्यधिक असंतोष धार्मिक कट्टरता को जन्म देता है जो धर्म निरपेक्षता के लिए काफी खतरनाक है।

29.3.7 संकुचित हिन्दू राष्ट्रीयवाद–भारत में कुछ हिन्दु गुट ऐसे है जो संकीर्ण भावना से ओत–प्रोत हैं जो धर्मनिरपेक्षता के लिए विशेष रूप से समस्या बनी हैं, जैसे हिन्दु महासभा, विश्व हिन्दु परिषद्, शिवसेना, बजरंग दल, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ आदि। इन्होंने हिन्दुओं की धार्मिक भावना को उत्तेजित करके अल्पसंख्यकों में असुरक्षा की भावना पैदा की है। ऐसे गुट भारत को हिन्दु राष्ट्र बनाने का नारा देकर अल्पसंख्यकों शंकालु बना रहे है। अयोध्या में बाबरी मस्जिद के विध्वंस के बाद अब इनकी नजरे काशी व मथुरा की मस्जिदों पर है। इस संकुचित हिन्दु राष्ट्रवाद के कारण भारत के धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा के सम्मुख बड़ी चुनौती उभरकर सामने आयी हैं।

29.3.8 पाकिस्तान का प्रचार–भारतीय साम्प्रदायिकता को बढ़ानें में पाकिस्तानी प्रचार एक बहुत बड़ी समस्या है। उनके प्रचार माध्यम छोटे–मोटे हिन्दु मुस्लिम तनाव को राजनीतिक तूल देते है इसके अतिरिक्त वे विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय मंचों पर भारतीय मुसलमानों को आधार मानकर भारत को नीचा दिखाने का प्रयास करते है। भारतीय मुसलमानों के प्रति झूठी सहानुभूति दिखाकर उनमें हिन्दुओं के प्रति नफरत पैदा करने का प्रयास करते हैं।

29.3.9 समान आचार संहिता का अभाव–कुछ हिन्दु गुट तथा भाजपा सहित कुछ राजनीतिक दलों का यह आरोप रहा है कि भारत में समान आचार संहिता नहीं है। जम्मू व कश्मीर को संविधान के अनु. 370 के द्वारा विशेष दर्जा मिला हुआ है। अलग–अलग धर्म व अलग–अलग सम्प्रदायों के लिए कानून के अलग कोर्ट हैं, जैसे–हिन्दुओं के लिए हिन्दु कोर्ट बिल, मुसलमानों के मुस्लिम कोर्ट बिल। इससे समान आचार संहिता में बाधा पहुंचती है जो धर्मनिरपेक्षता के मार्ग में बाधा है।

विशेष : भारतीय जनता पार्टी ने घोषणा की है कि यदि वह सत्ता में आयी तो धारा 370 को समाप्त करेगी तथा समान आचार संहिता लागू करेगी। यह भावना अल्पसंख्यकों में असंतोष की भावना पैदा कर रही है।

29.3.10 राजनीतिक दलों की भूमिका–कुछ राजनीतिक दल देश की धर्मनिरपेक्षता के लिए चुनौती बने हुए हैं। इन दलों का निर्माण ही सम्प्रदाय या धर्म के आधार पर हुआ है। इन दलों में प्रमुख है मुस्लिम लीग, जमाते इस्लामी, इस्लामी जमाते तुलता, मुस्लिम युनाईटेड फ्रंट, हिन्दु महासभा, शिवसेना, अकाली दल, बहुजन समाजवादी पार्टी, भाजपा आदि। यह राजनीतिक दल सामान्य समस्याओं पर कम ध्यान देते हैं जबकि साम्प्रदायिक समस्याओं को उभारने में ज्यादा ध्यान देते हैं। इनका संगठन व कार्यप्रणाली साम्प्रदायिकता पर आधारित होती है। निर्वाचन के समय उम्मीदवारों का चयन, चुनाव प्रचार, मंत्रिपरिषद् का निर्माण आदि में यह साम्प्रदायिकता का डंका बजाते हैं।

विशेष : 11वीं लोकसभा चुनाव में भाजपा जैसी राष्ट्रीय पार्टी ने एक भी अल्पसंख्यक को अपना पार्टी का उम्मीदवार नहीं बनाया था जो इस बात का द्योतक है कि यह राजनीतिक दल अल्पसंख्यकों के प्रति कितनी हीन भावना रखते है। जो साम्प्रदायिकता की भावना को बढ़ावा नहीं देगी तो फिर किसको देगी?

29.4 साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम

29.4.1 आपसी द्वेष–साम्प्रदायिकता से विभिन्न वर्गों में आपसी द्वेष को बढ़ावा मिलता है। यही द्वेष समाज की शांति भंग कर देता है और यही द्वेष समाज के सदस्यों में मारकाट फैला देता है।

29.4.2 आर्थिक हानि–साम्प्रदायिकता के कारण आर्थिक हानि भी होती हैं। न जाने कितनी दुकाने लुट जाती हैं, न जाने कितनी राष्ट्रीय सम्पति नष्ट की जाती है। अयोध्या की घटनाओं के बाद दिसम्बर 1992 में तथा गोधरा काण्ड के बाद अप्रैल 2002 गुजरात में हुई हिंसा से करोड़ों रूपये की सम्पति का नुकसान देश में हुआ हैं।

29.4.3 प्राण हानि–साम्प्रदायिकता के कारण प्राण हानि भी अत्यधिक होती है। शायद ही कोई ऐसा साम्प्रदायिक दंगा हुआ हो जिसमें कुछ व्यक्तियों की जानें न गई हों। रांची, श्रीनगर, बनारस, अलीगढ़, भिवण्डी, हैदराबाद, मेरठ और अहमदाबाद आदि के साम्प्रदायिक दंगों के उदाहरण सामने हैं। इन दंगों में अनेक व्यक्तियों की जानें गई तथा अनेक हमेशा के लिए अपंग तथा अपाहिज बन गये।

29.4.4 राजनीतिक अस्थिरता–साम्प्रदायिकता का एक दुष्परिणाम राजनीतिक अस्थिरता भी है। साम्प्रदायिकता वे परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देती है या उन परिस्थितियों को उत्पन्न करने में सहायक होती हैं, जिनसे कि देश में राजनीतिक अस्थिरता आ जाती है, जिससे भारतीय लोकतन्त्र को खतरा उत्पन्न हो गया है।

29.4.5 राष्ट्रीय एकता में बाधा–साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता की गम्भीर शत्रु हैं। राष्ट्रीय एकता का तात्पर्य है, सभी लोग आपस में एक होकर रहें तथा सबके हित को अपना हित मानें जबकि साम्प्रदायिकता इसके बिल्कुल विरूद्ध हैं।

29.4.6 राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा–भारत बहुसम्प्रदायवादी देश हैं। इसमें अनेक अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक व्यक्ति निवास करते हैं और इन्हीं अल्पसंख्यक और बहुसंख्यकों के बीच जो साम्प्रदायिक झगड़े और तनाव पैदा होते हैं, उनसे भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा पैदा हो सकता हैं।

29.4.7 आर्थिक विकास में बाधक–साम्प्रदायिकता से देश में आर्थिक उन्नति व औद्योगिक विकास में भी बाधा पड़ी है।

Uttarakhand Open University, Haldwani
Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

29.5 साम्प्रदायिकता को दूर करने के सुझाव

साम्प्रदायिकता मानवता के लिए गम्भीर अभिशाप है और भारत जैसे देश में तो यह और भी घातक है। साम्प्रदायिकता को दूर करने के लिए कुछ सुझाव निम्नलिखित है :

1. सरकार को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसके द्वारा ऐसा कोई कार्य न हो पाए, जिसके द्वारा साम्प्रदायिकता को प्रोत्साहन मिलता हो।
2. सर्वधर्म समभाव के कार्यक्रम आयोजित किए जाएं। सर्वधर्म समभाव की अवधारणा के आधुनिक प्रतिनिधि महात्मा गांधी के जीवन एवं विचारकों का प्रचार प्रसार करना चाहिए।
3. शिक्षा में नैतिक, धर्मनिरपेक्ष, मानवीय एवं आध्यात्मिक मूल्यों का समावेश किया जाए। स्कूली तथा कॉलेजी शिक्षा में विशेषत: शांति की शिक्षा (Peace Education) दी जानी चाहिए।
4. सार्वजनिक जीवन के किसी भी क्षेत्र में बहुमत के आधार पर कोई प्रवृत्ति पैदा न की जाए। सारा कार्य ऐसे ढंग से हो कि अल्पसंख्यकों को अपने अल्पसंख्यक होने का भान ही न रहे।
5. सरकार द्वारा कानून लागू करने में किसी प्रकार का जाति, लिंग, अधर्म, भाषा एवं सम्प्रदाय सम्बन्धी भेदभाव नहीं करना चाहिए।
6. भारत में विभिन्न समयों पर अनेक सम्प्रदाय सरकार में उनके विशेष प्रतिनिधित्व की माँग करते हैं । सरकार को इन सबके प्रस्ताव को साम्प्रदायिकता के आधार पर ठुकराना होगा क्योंकि इनसे भी साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता है।
7. साम्प्रदायिकता का एक बहुत प्रमुख कारण दलीय राजनीति और चुनावी राजनीति है। आवश्यकता इस बात की है कि राजनीति दल व्यापक दृष्टिकोण अपनाएँ और चुनावी राजनीति के एक साधन के रूप में साम्प्रदायिक दृष्टिकोण न अपनाया जाए। इस सम्बन्ध में कानून और घोषणाओं की अपेक्षा आचरण अधिक महत्वपूर्ण है।
8. धार्मिक कट्टरता, असहिष्णुता एवं संकीर्णता का विरोध करना और उदार धार्मिक दृष्टि तथा सहिष्णुता को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। धर्म को अधिकाधिक रूप से निजी बनाया जाना चाहिए और उसे सार्वजनिक मामलों से अलग रखा जाना चाहिए।
9. धर्म एवं राजनीति को अलग रखा जाना चाहिए। लेकिन राजनीति में मानवीय नैतिकता के रूप में परिभाषित धर्म को स्थान मिलना चाहिए।

29.6 सारांश

इस प्रकार सारांश रूप में हम यह कह सकते हैं कि भारत में साम्प्रदायिकता के बीज अतीत काल से व्याप्त रहे हैं। साम्प्रदायिकता के कारण ही धर्मनिरपेक्षता का विकास आशाजनक नहीं हुआ है। फिर भी आज यह वास्तविकता है कि भारतीय पंथनिरपेक्षता में साम्प्रदायिक विश को अपने में समा लेने की शक्ति है। बाह्य संकटों और आक्रमणों के समय भारतीय नागरिकों ने जो राष्ट्रीय एकता और सुदृढ़ता का परिचय दिया है, वह अद्वितीय है।

29.7 महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. साम्प्रदायिकता से क्या तात्पर्य है? इसके कारणों को स्पष्ट कीजिये
2. साम्प्रदायिकता के दुष्परिणामों एवं निवारण के उपाय बताओ।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. साम्प्रदायिकता के प्रमुख कारणों का उल्लेख कीजिये (कोई पांच)
2. सिद्ध कीजिये कि साम्प्रदायिकता राष्ट्र के लिये खतरा है।
3. साम्प्रदायिकता बढ़ाने में विदेशी प्रचार का भी प्रभाव होता है, कैसे?
4. साम्प्रदायिकता के निवारण के लिये चार सुझाव बताओ।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. साम्प्रदायिकता को दुर करने के दो उपाय बताओ।
2. साम्प्रदायिकता किसे कहते हैं?
3. ब्रिटिश सरकार की कौनसी नीति के कारण साम्प्रदायिकता के को बढावा मिला।
4. वर्तमान में कौनसा मुद्दा साम्प्रदायिकता की भावना को बढा रहा है।

5.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

विपिन चन्द्र, आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता

रामअवतार शर्मा, सुषमा यादव, भारतीय राजनीति : ज्वलंत प्रश्न हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–30 : राष्ट्रीय एकीकरण

संरचना

30.0 उद्देश्य

30.1 प्रस्तावना

30.2 राष्ट्रीय एकीकरण की अवधारणा

30.3 राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधक तत्त्व

- 30.3.1 साम्प्रदायिकता
- 30.3.2 जातिवाद
- 30.3.3 क्षेत्रवाद
- 30.3.4 भाषावाद
- 30.3.5 अल्पसंख्यकों एवं पिछड़ों में असुरक्षा की भावना
- 30.3.6 राजनीति का अपराधीकरण
- 30.3.7 बढ़ता भ्रष्टाचार
- 30.3.8 गरीबी
- 30.3.9 अशिक्षा
- 30.3.10 आतंकवाद का बढ़ता खतरा
- 30.3.11 हिंसा और आन्दोलन की राजनीति
- 30.3.12 विदेशी तत्त्वों की घुसपैठ
- 30.3.13 कश्मीर मे बढ़ता आतंकवाद
- 30.3.14 पूर्वोत्तर का आतंकवाद के चंगुल में होना
- 30.3.15 आर्थिक विषमता
- 30.3.16 छात्रों में बढ़ता असन्तोष
- 30.3.17 छोटे–छोटे राज्यों की बढ़ती माँग
- 30.3.18 राजनीतिक अवसरवादिता
- 30.3.19 सामाजिक भेदभाव
- 30.3.20 राष्ट्रीय एकीकरण के प्रतिकूल संगठन

30.4 राष्ट्रीय एकीकरण की बाधाओं के निराकरण के उपाय

- 30.4.1 राज–व्यवस्था के समाज में सभी लोगों का प्रवेश हो
- 30.4.2 पाठ्यक्रमों में एकीकरण की विचारधारा शामिल की जाय
- 30.4.3 सामाजिक न्याय की अवधारणा पर बल
- 30.4.4 गरीबी एवं बेकारी का निराकरण
- 30.4.5 आर्थिक विषमता का उन्मूलन
- 30.4.6 उन्मादी संगठनों पर प्रतिबन्ध
- 30.4.7 आतंकवाद रोकने के लिए ठोस रणनीति
- 30.4.8 सशक्त लोकमत का निर्माण
- 30.4.9 सांस्कृतिक आदान–प्रदान
- 30.4.10 राजनीतिक दलों की भूमिका

30.5 सारांश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

30.0 उद्देश्य

इस खण्ड का उद्देश्य उन कारणों की जांच–परख करना है, जिनसे राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधाएँ उत्पन्न हुई। प्रस्तुत अध्याय का अध्ययन करने के पश्चात् आप राष्ट्रीय एकीकरण की अवधारणा को समझ सकेंगे।

30.1 प्रस्तावना

भारत विविधता वाला राष्ट्र है। यहाँ अनेक जाति, धर्म, भाषा, संस्कृति के लोग पाये जाते है। इसी कर्मभूमि से दुनिया के चार महान् धर्म हिन्दू, जैन, बौद्ध व सिक्ख फले–फूले हैं। मुस्लिम विश्व में दूसरे नम्बर पर, सबसे ज्यादा भारत में हैं। इस बात का इतिहास साक्षी है कि हमारे राष्ट्र पर सदियों से आक्रमण हुए, हमारे सांस्कृतिक वैभव को समाप्त करने का प्रयास किया गया लेकिन सभी धर्मों, जातियों, भाषाओं और मान्यताओं को मानने वालों ने राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने में अपना पूरा योगदान दिया।

जिस प्रकार फूलों के ढेर को माला नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसमें धागे की जरूरत होती है। ठीक उसी प्रकार विविधता वाले राष्ट्र में एकता के लिए एकीकरण की आवश्यकता होती है। ताकि राष्ट्र के सम्मुख आने वाली चुनौतियों का दृढ़तापूर्वक मुकाबला किया जा सके।

जब अंग्रेजों ने भारत में अपना साम्राज्य स्थापित किया, तब उन्हें अपनी जड़ें मजबूत करने के लिए सर्वप्रथम राष्ट्रीय एकता पर प्रहार किया। इसके लिए फूट डालो और राज करो की नीति का सहारा लेते हुए हिन्दू–मुसलमानों के बीच चौड़ी दीवार पैदा कर दी जिसका परिणाम यह होता है अंग्रेज लगभग 200 वर्षों तक राज करते हैं और अन्त में भारत का विभाजन होता है। आजादी के समय भी राष्ट्रीय एकीकरण एक प्रमुख चुनौती बन चुकी थी। एक तरफ सम्पूर्ण भारत छोटे–छोटे टुकड़ों में बंटा नजर आ रहा था तथा दूसरी ओर साम्प्रदायिकता का जहर सम्पूर्ण समाज को डसता जा रहा था। पं. जवाहरलाल नेहरू ने कहा था मेरे जीवन का मुख्य कार्य भारत का एकीकरण है।

आज भी भारत के सामने सबसे बड़ी चुनौती राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने की है। समाज में कुछ ऐसे तत्त्व हावी होते जा रहे हैं जो अपने स्वार्थसिद्धि के लिए राष्ट्रीय एकता को दांव पर लगाने से नहीं चूकते। जाति और धर्म के नाम पर हिंसा होना आम बात हो गई है। पिछले 15 वर्षों में रामजन्मभूमि तथा बाबरी मस्जिद के नाम पर हजारों बेगुनाह लोगों का खून बहाया जा चुका है तथा अरबों की सम्पत्ति हिंसा के भेंट चढ़ गई है। पिछले दिनों गोधराकाण्ड के बाद जिस सुनियोजित ढंग से गुजरात में एक वर्ग विशेष के लोगों को मरवाया गया और प्रशासन मूकदर्शक बनकर देखता रहा उससे हमारी धर्म निरपेक्षता की नीति पर प्रश्न चिह्न लग गया है और अल्पसंख्यक समुदाय अपने आप को असुरक्षित महसूस कर रहा है। यदि भारत में होने वाले साम्प्रदायिक या जातिगत दंगों का विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि कुछ राजनीतिक दल चुनावों से पूर्व इस प्रकार ही भावना भड़काकर सत्ता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने के लिए आम जनता ऐसे असामाजिक तत्त्वों का मुँहतोड़ जवाब दे ताकि भविष्य में ऐसा दुःसाहस करने की कोशिश न करें और न ही राष्ट्रीय एकता को खतरा पैदा हो।

30.2 राष्ट्रीय एकीकरण अवधारणा

राष्ट्रीय एकता तथा राष्ट्रीय एकीकरण की परिभाषा नहीं दी जा सकती। सामान्यतया राष्ट्रीय एकता से अभिप्राय राष्ट्र के प्रति भक्ति भाव रखना और राष्ट्रीय एकता बनाये रखने के लिए अपना सर्वत्र न्यौछावर करने के लिए तत्पर रहने से है।

डॉ. सम्पूर्णान्द के शब्दों में राष्ट्रीय एकीकरण एक मनोवैज्ञानिक और शैक्षणिक प्रक्रिया है। इसमें जन–साधारण के प्रति एकता, पारस्परिक अन्तः निर्भरता, सामान्य नागरिकता की भावना और राष्ट्र के प्रति भावना सुन्निहित है।

डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है कि राष्ट्रीय एकीकरण का निर्माण ईंट, चूने या छेणी और हथौड़ी से नहीं हो सकता। यह तो मनुष्यों के मस्तिष्कों और हृदयों के मूकभाव से विकसित होता है। इसके पैदा होने का एक ही मार्ग है और वह है शिक्षा का मार्ग। यह मार्ग यद्यपि बहुत धीमा है, किन्तु स्थायी और ठोस है।

30.3 राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधक तत्त्व

30.3.1 साम्प्रदायिकता–भारत में अनेक सम्प्रदाय के लोग निवास करते हैं। कभी–कभी मामूली घटना को लेकर व्यापक पैमाने पर साम्प्रदायिक दंगे भड़क उठते हैं। आज भारत की राष्ट्रीय एकीकरण के सामने सबसे बड़ी बाधा साम्प्रदायिकता है जो आजादी के पूर्व से व्याप्त थी। जब भारत का विभाजन हुआ उस समय सारा देश साम्प्रदायिकता की आग में जल रहा था। पिछले कुछ समय से राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद विवाद के कारण साम्प्रदायिकता की समस्या अपना विकराल रूप धारण कर चुकी है। दिसम्बर 1992 की घटना के बाद पुनः साम्प्रदायिकता रूपी आग की लपटें चरम सीमा पर थी। इस दौरान सम्पूर्ण भारतवर्ष में साम्प्रदायिक दंगे हिन्दू–मुसलमानों के बीच हुए। पिछले दिनों गुजरात में गोधराकाण्ड के बाद जिस सुनियोजित ढंग से साम्प्रदायिक दंगे करवाये गये थे, वह हमारे धार्मिक सौहार्द के इतिहास में एक धब्बा है। वास्तविक अर्थों में देखा जाय तो साम्प्रदायिकता को बढ़ाने में राजनीतिक दलों का स्वर्थ स्पष्ट रूप से दिखाई देता है जो वोट बैंक की राजनीति के लिए समाज को खण्डित करने का प्रयास करते हैं। ये राजनीतिक दल कथित तौर पर अपने आपको धर्म का रक्षक कहने वाले संगठनों को ढाल के रूप में काम लेते हैं। यह हमारे देश एवं उसकी एकता का दुर्भाग्य ही है कि कुछ निहित स्वार्थी तत्त्व चुनावों से पूर्व राम जन्मभूमि एवं बाबरी मस्जिद तथा साम्प्रदायिक उन्माद को फैलाकर सत्ता प्राप्ति का प्रयास करते हैं। इस प्रकार साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। इसके अलावा ईसाई चर्च, मिशनरियों तथा स्कूलों पर हमले की घटनायें बढ़ी हैं।

Jai Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

30.3.2 जातिवाद–भारतीय समाज और राजनीति जातियों के रंग में रंगी हुई नजर आती है। प्रो. श्रीनिवास के अनुसार कोई भारत में कहीं भी रहे, वह जाति के संसार में ही रहता है।जातीय व्यवस्था भारत में प्राचीनकाल से ही देखी जा सकती है परन्तु आज यह राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी चुनौती बन गई है। जातियों का राजनीतिकरण हो गया है क्योंकि राजनीतिक दल चुनावों के समय अपनी पार्टी का टिकट भी जातिगत बहुलता को आधार मानकर देते हैं। राजनैतिक और आर्थिक शक्ति कुछ जातियों के हाथों में सिमट कर रह गई है। जब निचली जातियों को ऊपर उठाने का प्रयास किया जाता है तो यह विरोध करती है जिससे जातिगत तनाव को प्रोत्साहन मिलता है। भारत का ऐसा कोई भी राज्य नहीं है, जहाँ जातिवाद की भूमिकाल हो, जैसे – राजस्थान में जाट–राजपूत, महाराष्ट्र में ब्राह्मण और मराठी, आन्ध्रप्रदेश में काम्मा–रेड्डी, बिहार और उत्तरप्रदेश में अगड़ा व पिछड़ा आदि कुछ राजनीतिक दलों की स्थापना तो जातिगत हितों के आधार पर ही हुई है। बहुजन समाजवादी पार्टी तो अपने आपको पिछड़ी जातियों के हितों की पूर्ति करने वाली पार्टी होने का दावा करती है।

30.3.3 क्षेत्रवाद–राष्ट्रीय एकीकरण के सम्मुख क्षेत्रीयवाद प्रमुख समस्या बनी हुई है। प्रकृति ने भारत को विभिन्न भौगोलिक, सांस्कृतिक स्थितियों में विभाजित किया है। इसके चलते इस भावना को बहुत अधिक बढ़ावा मिला है। कुछ क्षेत्रीय दल क्षेत्रवाद की भावना को आधार मानकर अपनी राजनैतिक स्वार्थसिद्धि में लगे हुए हैं। इस भावना के कारण राष्ट्रीयता की भावना के स्थान पर लोग अपने क्षेत्र विशेष के प्रति भावनाओं को अधिक महत्त्व देते हैं।

30.3.4 भाषावाद–भारत में अनेक प्रकार की भाषायें एवं बोलियाँ प्रचलित हैं लेकिन यह भी राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में प्रमुख बाधा बनी हुई है। आजादी के बाद भाषायी आधार पर राज्यों के निर्माण की माँग तीव्रगति से उठने लगी। इसी आधार पर आन्ध्रप्रदेश बना। बम्बई प्रान्त का विभाजन भी मराठी (महाराष्ट्र) तथा गुजराती (गुजरात), पंजाब (पंजाबी) तथा हरियाणा (हिन्दी) के आधार बने। भाषायी आधार पर अनेक दंगे भी करवाये गये। तमिलनाडु में तो कुछ राजनीतिक दलों द्वारा हिन्दी का विरोध करना उनका प्रमुख कार्यक्रम बन गया है। इसी भाषावाद के चलते हिन्दी को राष्ट्रभाषा का दर्जा नहीं मिल सका है। संविधान में कहा गया कि 1965 तक अंग्रेजी में संघ सरकार का काम होता रहेगा लेकिन 26 जनवरी 1966 से हिन्दी में होगा। यह तिथि जैसे–जैसे नजदीक आने लगी वैसे–वैसे हिन्दी विरोधी क्षेत्रों में हिंसात्मक आन्दोलन होने लगा। मद्रास में तो दो द्रमुक नेताओं ने आत्मदाह कर लिया। भाषावाद की समस्या पर एन.सी. राय ने ठीक लिखा है कि भाषावाद का क्रम प्रारम्भ हो चुका है, यह एक शेर है जो रास्ते पर आ गया है, या तो उसे मार दिया जाय या फिर वह भारतीय राष्ट्र को मार देगा।

30.3.5 अल्पसंख्यक व पिछड़ी–जातियों में असुरक्षा की भावना–यदि कोई समाज या राष्ट्र यह सोचे कि वह अपने अल्पसंख्यक एवं पिछड़े वर्गों के लोगों को असुरक्षित एवं अन्याय कर अपना एकीकरण कर लेगा तो यह उसकी बहुत बड़ी भूल है। भारत में लगभग 20 प्रतिषत जनसंख्या धार्मिक अल्पसंख्यकों की है। पिछड़ी जातियाँ भी समाज का एक बड़ा हिस्सा है जिसका सदियों से षोषण होता आया है और आज भी हो रहा है। कुछ कट्टरपंथी संगठनों द्वारा अल्पसंख्यकों पर हमले करवाये जा रहे हैं। दलित व पिछड़ों को उच्च जातियाँ ऊपर उठता देखना नहीं चाहती और तो और यदि पिछड़ी जाति का दूल्हा घोड़े पर भी बैठ जाता है तो उसका विरोध करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ प्रान्तों में बहुसंख्यक (हिन्दू) भी अल्पसंख्यक उन पर भी अत्याचार बढने के कारण वे अपना घर–बार छोड़कर अपने ही घर में कश्मीरी पण्डित शरणार्थी बने हुए हैं, जहाँ आतंकवादी उन्हें अपनी गोली का निशाना बना रहे हैं। अत: बढ़ती हुई असुरक्षा की भावना राष्ट्रीय एकीकरण में बाधा उत्पन्न कर रही है।

30.3.6 राजनीति का अपराधीकरण–राजनीति का अपराधीकरण से तात्पर्य संसद, विधानमण्डल तथा अन्य महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक पद पर अपराधी पृष्ठभूमि के लोगों का प्रवेश होने से है। जो कानून के भक्षक थे वे रक्षक बन बैठे हैं। जिन्होंने राष्ट्रीय एकता को खतरे में डाला उनसे एकीकरण की उम्मीद करना व्यर्थ है।

30.3.7 भ्रष्टाचार–भ्रष्टाचार भी राष्ट्रीय एकता के लिए एक बड़ा खतरा है। यह धुन की तरह है जो शासन एवं समाज को अन्दर ही अन्दर जर्जरित करता है। भारतीय प्रशासन में सर्वोच्च पद से लेकर निम्न से निम्न अधिकारी एवं कर्मचारी भ्रष्टाचार में संलग्न है। स्वयं पूर्व प्रधान मन्त्री राजीव गाँधी ने यह स्वीकार किया था कि वे दिल्ली से एक रुपये निकालते हैं। तो गाँवों में पहुँचते–पहुँचते 20 पैसा रह जाता है अर्थात् 80 पैसा हमारे सर्वोच्च अधिकारी जन–प्रतिनिधि एवं कर्मचारी की तिजोरियों में चला जाता है। प्रधानमन्त्री राव के काल में तो अनेक प्रकार के घोटाले हुए और उन पर एवं उनके अनेक मन्त्रियों पर मुकदमे चले। आज भी व्यापक स्तर पर भ्रष्टाचार व्याप्त है। रक्षा सौदे की दलाली, आदि प्रमुख हैं। इन सबसे जनता का विष्वास हिल जाता है और लोकतन्त्र सबल होने की बजाय कमजोर हो जाता है।

30.3.8 गरीबी–भारत में आज भी लगभग 35 प्रतिषत जनसंख्या गरीबी की रेखा से नीचे जीवन यापन कर रही है जिन्हें दो वक्त की रोटी नसीब नहीं होती है। इस तरह समाज का बहुत बड़ा वर्ग अभावों की जिन्दगी जीने को मजबूर है। जिसे राष्ट्रीय एकता से कोई वास्ता नहीं है। परिणामस्वरूप ऐसे वर्ग के युवा अपने ऊँचे सपनों को साकार करने के लिए राष्ट्रविरोधी गतिविधियों में संलग्न हो जाते हैं।

30.3.9 अशिक्षा–डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का कहना था कि शिक्षा ही राष्ट्रीय एकीकरण का मार्ग दिखा सकती है और शिक्षा द्वारा दिखाया गया मार्ग ठोस और स्थायी होगा। लेकिन यह भारत का दुर्भाग्य ही है कि हमारी 40 प्रतिषत के करीब जनसंख्या अशिक्षित है तो ऐसी परिस्थितियों में राष्ट्रीय एकीकरण की बात करना व्यर्थ है।

30.3.10 आतंकवाद का बढ़ता खतरा–वर्तमान समय में राष्ट्रीय एकीकरण के सामने सबसे बड़ी चुनौती है, तो वह है, बढ़ता हुआ आतंकवाद। आतंकवाद रूपी नाग हमारे सम्पूर्ण भारतवर्ष को डसने के लिए आमादा है। सीमा पार से चलाये जा रहे आतंकवाद ने हमारी सुरक्षा, सामाजिक सौहार्द, अर्थव्यवस्था को तहस–नहसकर दिया है। आतंकवादियों द्वारा भारत की संसद पर हमला बोल कर राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता को प्रबल चुनौती दे डाली है। इसी आतंकवाद के कारण हमारे दो पूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी और श्री राजीव गाँधी की हत्या हुई तथा अन्य अनेक बेगुनाह लोग आतंकवादियों की भेंट चढ़ चुके हैं।

Jan Vishwa Bharati (Deemed University) Ladnun

30.3.11 हिंसा और आन्दोलन की राजनीति–देष के कुछ राजनीतिक एवं गैर–राजनीतिक संगठनों के द्वारा अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिए हिंसा और आन्दोलन का सहारा लिया जाता है। अनेक अवसरों पर यह असंवैधानिक साधनों का खुलकर प्रयोग करते और सार्वजनिक सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाते हैं। बिहार में दलितों के सम्बन्ध में संगठन तथा उच्च जातें से सम्बन्ध रणवीर सेना के बीच खूनी संघर्ष होता रहता है। इसी तरह आन्ध्रप्रदेश, उड़ीसा जैसे कुछ राज्य नक्सली हिंसा से ग्रस्त हैं। कुछ राज्यों में चुनाव पूर्व भी हिंसा करवायी जाती है। इस तरह से हिंसा और अराजकता का प्रचार राष्ट्रीय एकीकरण के लिए बड़ा ही दुखदायी है।

30.3.12 विदेषी तत्त्वों की घुसपैठ–भारत के कुछ पड़ौसी विदेशी तत्त्वों, विशेषतया पाकिस्तान सीमा पार से घुसपैठ फैला रहा है। वह भाड़े के टटुओं को भारत में भेजकर हिंसा, अराजकता एवं अव्यवस्था का दौर शुरु करना चाहता है। इसके लिए वह बड़ी मात्रा में हथियार, धन तथा अन्य संसाधन उपलब्ध करवा रहा है। इसके अलावा भारतीय अर्थव्यवस्था को कमजोर बनाने के लिए जाली नोट बड़े पैमाने पर भेज रहा है घुसपैठियों द्वारा अशांति फैलाने के लिए बम विस्फोट, प्रमुख व्यक्तियों की हत्या, आदि करवायी जाती है तथा भारत के अल्पसंख्यकों को भड़काकर उन्हें राष्ट्रीय धारा से तोड़ने का प्रयास कर रहे है।

30.3.13 कष्मीर में बढ़ता आतंकवाद–कश्मीर जिसे दुनिया का स्वर्ग कहा जाता है जो पिछले 15 वर्षों से आतंकवाद की आग में जल रहा है। इस दौरान केवल कष्मीर की अर्थव्यवस्था एवं सामाजिक सौहार्द ही खराब नहीं हुआ अपितु 80 हजार बेगुनाह लोग आतंकवादियों की गोली के निशाना बने। आज यह समस्या विकराल रूप धारण कर चुकी है। यहाँ के सक्रिय आतंकवादी संगठन अलग कश्मीर राष्ट्र से कम बात करने को तैयार नहीं है। हाल ही में वहाँ लोकतान्त्रिक तरीके से चुनाव हुए हैं। वहाँ की राज्य सरकार एवं केन्द्र सरकार मिलकर इस समस्या का समाधान करने का प्रयास कर रही है, लेकिन सार्थक परिणाम के बजाय खून खराबा और बढ़ा है। कश्मीर की बिगड़ती स्थिति निश्चित तौर पर राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी चुनौती है।

30.3.14 पूर्वोत्तर का आतंकवाद के चंगुल में होना–पूर्वोत्तर भारत के सभी राज्य आतंकवाद की पीड़ा से ग्रस्त हैं। असम में उल्फा, जो पृथक बोडोलैण्ड राज्य की मांग कर रहा है, त्रिपुरा में त्रिपुरा उपजाति युवा समिति, मणिपुर में पीपुल्स रिवोल्यूशनरी पार्टी, मेघालय में खासी और जेन्तिया लिबरेशन आर्मी आदि सक्रिय हैं। जिन्हें पाकिस्तान की गुप्तचर एजेन्सी आई.एस.आई बांग्लादेश, नेपाल बर्मा में प्रशिक्षण देती है, और उन्हें धन, हथियार एवं अन्य संसाधन उपलब्ध करवाती है।

30.3.15 आर्थिक विषमता–भारत में गरीब एवं अमीर के बीच की खाई और अधिक गहरी होती जा रही है। गरीब और गरीब तथा अमीर और साधन सम्पन्न बनता जा रहा है जिसके कारण गरीबों में हीन भावना घर करने लगी है। गरीब वर्ग से जुड़े लोग रातों–रात साधन सम्पन्न बनना चाहते हैं। इसके लिए वे किसी भी हद तक जाने को तैयार हैं। इसके अतिरिक्त राज्यों में भी व्यापक आर्थिक विषमता देखी जा सकती है। इससे कमजोर राज्यों में सम्पन्न राज्यों के प्रति हीन भावना बढ़ती है। इस तरह आर्थिक विषमता भी राष्ट्रीय एकीकरण की प्रमुख बाधा है।

30.3.16 छात्रों में बढ़ता असन्तोष–आज के छात्र (युवा) कल का भविष्य है लेकिन जिस दौर से छात्र वर्ग गुजर रहा है उससे एकीकरण की प्रवृत्ति को गहरा आघात लगा है। छात्रों को समय पर रोजगार न मिलने के कारण वे आन्दोलन का रास्ता अपना रहे हैं उनका व्यवस्था के प्रति मोह भंग हो गया है। जब 1989–90 में मण्डल आयोग की रिपोर्ट लागू की गई तब छात्रों का असन्तोष अपनी चरम सीमा पर था। इसके विरोध स्वरूप 250 छात्रों ने आत्मदाह कर लिया था। दोषपूर्ण शिक्षा नीति, रोजगारमुख, शिक्षा का अभाव, बढ़ती हुई आकांक्षाओं ने छात्र असन्तोष को बढ़ाने में आग में घी का काम किया है।

30.3.17 छोटे–छोटे राज्यों की बढ़ती मांग–सन् 2000 में तीन नये राज्यों छत्तीसगढ़, झारखण्ड, उत्तरांचल बनाकर इस मांग को शान्त करने का प्रयास किया गया है परन्तु इससे मांगें और बढ़ रही है जैसे – कश्मीर में लद्दाख, राजस्थान में मरुप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश में तेलंगाना, पं. बंगाल में गोरखालैण्ड, उत्तरप्रदेश में हरित्रप्रदेश, आदि परन्तु यह प्रवृत्ति राष्ट्रीय एकता के लिए घातककारी ही है।

30.3.18 राजनीतिक अवसरवादिता–देश में राजनीतिक दल जाति, धर्म, भाषा, आदि को आधार पर मानकर चुनाव जीतते हैं और वे अपनी स्वार्थसिद्धि का कोई भी अवसर हाथ से नहीं जाने देते हैं, चाहे ताक में रखना क्यों न पड़े। देष में साम्प्रदायिकता फैलाने में राजनीतिज्ञों का ही हाथ रहता है। इसके लिए वे अपराधिक तत्त्वों को संरक्षण भी देते हैं।

30.3.19 सामाजिक भेदभाव–आजादी के 55 वर्ष बाद भी देष में पिछड़े वर्ग के लोग सामाजिक क्षेत्र में निराशा का अनुभव कर रहे हैं। उच्च जाति के लोगों के द्वारा उनके प्रति घृणा एवं ऊँच–नीच का व्यवहार किया जाता है। जिसके कारण उनके दिलों में कड़वाहट पैदा हो गई है। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एकीकरण की प्रवृत्ति को आघात लगा है।

30.3.20 राष्ट्रीय एकीकरण के प्रतिकूल संगठन–वर्तमान समय में भारतीय सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में ऐसे संगठनों का विकास हुआ है जो अपने आप को राष्ट्रीयता के पोषक होने का दावा करते हैं, परन्तु उनके कारनामे ऐसे हैं, जिनसे हमारी राष्ट्रीय एकता धूमिल हो ही रही है। अपितु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हमारी साख को गहरा आघात लग रहा है। ऐसे संगठनों को कुछ निहित स्वार्थ राजनीतिक दल उन्हें संरक्षण दे रहे हैं, और नये–नये हथकण्डे अपनाने के लिए प्रेरित भी कर रहे हैं।

30.4 राष्ट्रीय एकीकरण की बाधाओं के निराकरण के उपाय

कोई भी राष्ट्र विकास, उन्नति तथा समृद्धि के पथ पर आगे तब तक नहीं बढ़ सकता, जब तक राष्ट्रीय एकता, नागरिकों में देशभक्ति, राष्ट्रप्रेम की भावना हृदय से नहीं जागे। भारत जैसे विविधता वाले राष्ट्र में जहाँ पहले से ही अनेक चुनौतियाँ राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में रुकावट बनी हुई है। वहाँ एकीकरण एवं एकता की भावना विकसित

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करना बहुत जरूरी है। उपर्युक्त विवेचना से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक चुनौती अपना विकराल रूप लिए हुए है जो समय–समय पर अवसर पाकर अपने विष रूपी दुष्परिणामों से समाज एवं राष्ट्र को ग्रस्त (पीड़ित) कर रही है।

आज आवश्यकता ऐसी राष्ट्रवाद की है जिसमें नागरिक स्वहित के स्थान पर राष्ट्रीय हित को महत्त्व दे, राष्ट्र के लिए हर समय समर्पण, त्याग एवं बलिदानी के लिए तत्पर रहें, निष्काम भाव से सेवा करें, आदि। लेकिन दुर्भाग्यवश कुछ असामाजिक तत्व अपने आप को राष्ट्रवाद का हितेषी एवं संरक्षक मानते हैं, वे अपने कारनामों से राष्ट्र को विखण्डित कर रहे हैं। ऐसे तत्त्वों से राष्ट्र को बचाना होगा।

राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में जो बाधायें हैं, उन्हें दूर करने के लिए राष्ट्रीय स्तर पर विचार–विमर्श होता रहा है, इस दिशा में हम निम्नलिखित सुझाव दे सकते हैं –

30.4.1 राजव्यवस्था में समाज के सभी लोगों का प्रवेश हो–रजनी कोठारी के अनुसार भारत जैसे विशाल देश में जहाँ इतने विविध प्रकार के लोग रहते हैं, एकता की स्थापना इसी से हो सकती है कि जब सभी तत्त्वों को राजनीतिक सत्ता व अधिकार में भाग लेने दिया जाय और सबको साथ लेकर चला जाय। इसके लिए जरूरी है कि समाज के सब वर्गों का राजनीतिक संस्था में प्रवेश हो। राजनीति की इस रचनात्मक भूमिका से ही एकीकरण की प्रवृत्तियों को बल मिलता है।यदि सत्ता पर किसी वर्ग विशेष का ही नियन्त्रण होगा तो अन्य वर्गों में असहयोग बढ़ेगा।

30.4.2 पाठ्यक्रमों में एकीकरण की विचारधारा शामिल की जाय–शैक्षणिक पाठ्यक्रम ऐसे हों जिनमें देशप्रेम और देशभक्ति की भावना हृदय से जागे। पाठ्यक्रमों में ऐसी विचारधारा एवं तत्त्वों को सम्मिलित किया जाय जो युवा पीढ़ी को सही राह पर चलने के लिए प्रेरित करे ताकि वे राष्ट्रीय एकीकरण के लिए समर्पण भाव से कार्य कर सके और पाठ्यक्रम को सारे भारतवर्ष में लागू किया जाय। ऐसे पाठ्यक्रमों को हटा दिया जाय , जिनमें आपसी फूट, क्षेत्रवाद या कटुता की बू आती है।

30.4.3 सामाजिक न्याय की अवधारणा को बल–भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय की अवधारणा को मजबूती प्रदान करने के लिए व्यापक प्रावधान किये गये हैं। लेकिन फिर भी समाज में अन्याय एवं असमानता का बोलबाला है। अत: सामाजिक न्याय की अवधारणा को व्यावहारिक रूप से लागू किया जाय, तथा इससे सम्बन्ध प्रावधानों को कठोरता, ईमानदारी तथा इच्छाषक्ति के साथ लागू किया जाय।

30.4.4 आर्थिक विषमता का उन्मूलन–देश में व्याप्त आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए यथाशीघ्र प्रयास किये जाय। सभी प्रकार के विशेषाधिकार वर्ग का अन्त हो। गरीब–अमीर के बीच की खाई को पाटकर आर्थिक विषमता और असन्तोष को दूर किया जा सकता है क्योंकि यही आर्थिक विषमता आगे चलकर राष्ट्रीय सुरक्षा एवं एकता के लिए खतरा पैदा करती है।

30.4.5 उन्मादी संगठनों पर प्रतिबन्ध–सरकार को चाहिये कि वह खुले मन से विचार करते हुए सभी प्रकार के उन्मादी संगठन जिनसे राष्ट्रीय एकीकरण को खतरा पैदा हो रहा है, तत्काल प्रभाव से प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। जैसे विश्व हिन्दू परिषद, बजरंग दल, जमाते इस्लामी ए–हिन्द, आदि।

30.4.6 आतंकवाद रोकने के लिए ठोस रणनीति–आज आतंकवाद का ताण्डव नृत्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका है। इसे रोकने की तत्तकाल आवश्यकता है। हम और हमारी सरकार केवल पड़ौसी को दोशी ठहराकर दायित्व से मुक्त नहीं हो सकते। इसके लिए हमें ठोस नीति बनानी होगी, उन पर बुनियादी तथ्यों की ओर ध्यान देना होगा। जिनके कारण आतंकवाद को फूलने–फलने का अवसर मिला। विश्व रंगमंच पर बिना किसी बाहरी दबाव के अपना पक्ष रखना होगा। फिर भी पड़ौसी आतंकवाद को बढ़ावा देना जारी रखे तो उसके विरुद्ध कठोर कार्यवाही करने से पीछे नहीं हटना होगा।

30.4.7 सशक्त लोकमत का निर्माण–आकाशवाणी, दूरदर्शन, समाचार–पत्रों, प्रदर्शनियों तथा पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से विघटनकारी तत्त्वों का पर्दाफाश किया जाना चाहिये और राष्ट्रीय एकता का प्रचार किया जाना चाहिये। यदि सामान्य जनता के हृदय में राष्ट्रीय एकता की भावना का तीव्र प्रस्फुरण होगा, तो देशप्रेम की ऐसी सरिता बहने लगेगी कि वह संकुचित मनोवृत्तियों का परित्याग करके राष्ट्रीय और भावात्मक एकीकरण का मार्ग प्रशस्त करेगी।

30.4.8 सांस्कृतिक आदान–प्रदान–विभिन्न प्रदेशी तथा भाषायी राज्यों के बीच अधिकाधिक मात्रा में सांस्कृतिक आदान–प्रदान होना चाहिये जिससे भारत की विविध संस्कृति के लोगों को आभास हो।

30.4.9 राजनीतिक दलों की भूमिका–इस क्षेत्र में भारत के राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। यदि राजनतिक दल संकीर्णता की भावना से ऊपर उठकर जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र उत्तेजना फैलाना छोड़ दे तो एकीकरण को प्रोत्साहन मिल सकता है।

30.5 सारांश

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सदियों से विघटनकारी तत्त्वों ने भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीयता पर हावी होने का प्रयास किया फिर भी हम झुके नहीं। आजादी के बाद से लेकर आजतक हमें नवीनतम चुनौतियों का मुकाबला करना पड़ रहा है। ऐसी कोई ताकत नहीं है जो भारत को तोड़ सके। जब कभी राष्ट्र पर संकट आया तो पूरा राष्ट्र एकजुट हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में आने वाली चुनौतियों पर प्रकाश डालिए।
2. राष्ट्रीय एकीकरण को बढ़ावा देने हेतु सुझाव दीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. साम्प्रदायिकता का नाग हमारी एकता को डसता जा रहा है। सिद्ध करो।
2. निम्न पर टिप्पणी लिखिए –

1. भाषावाद
2. आतंकवाद
3. भ्रष्टाचार

3. राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन करने हेतु कोई तीन सुझाव दीजिए।

सन्दर्भ ग्रन्थ–सूची

रजनी कोठारी, भारत में राजनीति।

रामअवतार शर्मा, भारतीय राजनीति : ज्वलन्त प्रश्न हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेश लय, दिल्ली विश्वविद्यालय

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इकाई–31 : दलीय व्यवस्था एवं संसदीय शासन

संरचना

31.0 उद्देश्य

31.1 प्रस्तावना

31.2 राजनीतिक दलों की परिभाषा

31.3 राजनीतिक दलों के कार्य

- 31.3.1 लोकमत का निर्माण करना
- 31.3.2 चुनावों में हिस्सा लेना
- 31.3.3 समाज को निश्चित विचारधारा प्रदान करना
- 31.3.4 सरकार का गठन करना
- 31.3.5 सरकार का ध्यान जन समस्या की ओर दिलाना
- 31.3.6 सत्ता पक्ष की तानाशाही पर अंकुश लगाना
- 31.3.7 शासन के विभिन्न अंगों में तालमेल बढ़ाना
- 31.3.8 सामाजिक व राजनीतिक सुधार
- 31.3.9 राजनीतिक समस्याओं पर शोध
- 31.3.10 शासन को क्रांति से बचाना
- 31.3.11 शासन और जनता के बीच कड़ी का काम करना
- 31.3.12 लोकतंत्र का वास्तविक रक्षक के रूप में
- 31.3.13 राष्ट्रीय हितों की वृद्धि में सहायक

31.4 भारत में दलीय व्यवस्था का स्वरूप या उभरते प्रतिमान

- 31.4.1 राजनीतिक दलों का नैतिक पतन
- 31.4.2 व्यक्तिपरक राजनीति
- 31.4.3 नकारात्मक राजनीति करना
- 31.4.4 असंवैधानिक हथकण्डों का इस्तेमाल
- 31.4.5 राजनीतिक दलों की सोच का घटता स्तर
- 31.4.6 क्षेत्रीय दलों की बढ़ती भूमिका
- 31.4.7 राजनीतिक दलों की बढ़ती संख्या
- 31.4.8 गठबन्धन की राजनीति को स्वीकार करना
- 31.4.9 दलों में वैचारिक मतभेद का अभाव
- 31.4.10 राजनीतिक दलों की आन्तरिक गुटबन्दी
- 31.4.11 राजनीतिक दल–बदल
- 31.4.12 राजनीतिक दलों में बढ़ती बिखराव की प्रवृत्ति
- 31.4.13 शक्तिशाली विपक्ष
- 31.4.14 राजनीतिक दल और अपराध
- 31.4.15 राजनीतिक दलों द्वारा तात्कालिक मुद्दों पर अधिक बल देना
- 31.4.16 जातिवाद का बढ़ता प्रभाव

31.5 राजनीतिक दलों की समस्याएँ

- 31.5.1 संगठनात्मक समस्या
- 31.5.2 दल–बदल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

31.5.3 वित्तीय साधन
31.5.4 नेतृत्व का संकट
31.5.5 काले धन का प्रभाव
31.5.6 जाति और साम्प्रदायिकता
31.5.7 राजनीतिक अपराधीकरण
31.5.8 भारत में सहअस्तित्व की संस्कृति का अभाव
31.6 संसदीय व्यवस्था के बदलते प्रतिमान या उभरती चुनौतियाँ
31.6.1 गठबन्धन की राजनीति
31.6.2 बैमेल गठबन्धन
31.6.3 राजनीति का अपराधीकरण
31.6.4 दल–बदल
31.6.5 विपक्ष का नकारात्मक दृष्टिकोण
31.6.6 प्रधानमन्त्री पद का ह्रास
31.6.7 बढ़ती अस्थिरता
31.6.8 दोषपूर्ण दलीय व्यवस्था
31.6.9 संसद का ह्रास
31.6.10 आर्थिक संसाधनों के दोहन में असफलता
31.6.11 बढ़ता भ्रष्टाचार
31.6.12 नौकरशाही की बढ़ती शक्ति
31.7 सारांश

31.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत भारतीय लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में राजनैतिक दलों की भूमिका एवं संसदीय शासन प्रणाली का विश्लेषण किया गया है। इस अध्याय को पढ़कर आप–

- लोकतंत्र में राजनीतिक दलों के महत्त्व की जानकारी प्राप्त करेंगे,
- राजनीतिक दलों के उभरते प्रतिमान समझ सकेंगे,
- संसदीय शासन प्रणाली की मुख्य विशेषताओं को सूचीबद्ध कर सकेंगे,
- संसदीय शासन व्यवस्था की उभरती प्रवृत्तियो का मूल्यांकन कर सकेंगे।

31.1 प्रस्तावना

राजनीतिक दल लोकतंत्र के पहियों के रूप में अपरिहार्य है। राजनीतिक दल बहुत कुछ सीमा तक हमारे जीवन के महत्वपूर्ण अंग बन चुके हैं। वर्तमान् लोकतांत्रिक व्यवस्था का संचालन राजनीतिक दलों के बिना न केवल कठिन हैं, अपितु असम्भव है क्योंकि आज अप्रत्यक्ष लोकतंत्र पाया जाता है जिसमें जनता स्वयं कानून का निर्माण न करके बल्कि अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से करती हैं । चुने जाने वाले प्रत्येक प्रतिनिधि का संबंध किसी न किसी राजनीतिक दल से होता हैं और वह अपने दल की नीतियों व कार्यक्रमों के आधार पर चुनावी मैदानों में कूदता है। इस प्रकार राजनीतिक दल व्यक्तियों का वह समूह है जो एक निश्चित कार्यक्रम, विचारधारा पर सहमत होते हो और एक निश्चित लक्ष्य प्राप्त करने के लिए सामूहिक प्रयास करते हैं।

आज हम यह मानते हैं कि शासन की शक्ति संसद या व्यवस्थापिका में निवास करती है, परन्तु वास्तव में इनका निवास स्थान तो राजनीतिक दल है क्योंकि संसद में बहुमत वाली पार्टी की कार्यपालिका बनती है, जो पूर्णतया दलीय विचारधारा एवं कार्यक्रमों को मध्यनजर रखते हुए संचालन करते हैं।

राजनीतिक दल असंख्य मतदाताओं की अव्यवस्थित भीड़ के स्थान पर व्यवस्था की सृष्टि करते हैं । जनता का नेतृत्व करने के लिए नेता प्रदान करते हैं और राजनीतिक व्यवस्था को संचालन शक्ति प्रदान करते हैं। हरमन फाइनर के शब्दों में दलों के बिना मतदाता ऐसी असम्भव नीतियों का अनुसरण करने लगेंगे, जो उन्हें शक्तिहीन बना देगी या विनाशकारी और जिससे राजनीतिक यन्त्र ध्वस्त हो जायेगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

इस प्रकार राजनीतिक दल समाज को एक आधार प्रदान करते है। यह समाज के लिए पाठशाला के रूप में भी कार्य करते हैं जो समय–समय पर आम जनता को राजनीतिक शिक्षा देते है और शासक वर्ग के प्रत्येक कदम से आम जनता को अवगत करवाते हैं।

31.2 राजनीतिक दलों की परिभाषा

राजनीतिक दलों से हमारा अभिप्रायः ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो कुछ समस्याओं के रूप और उनके समाधान के संबंध में एकमत है और जिन्होंने सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए मिलकर वैध ढंग से काम करने का निश्चय कर लिया है।

1. न्यूमैन के अनुसार : राजनीतिक दल एक स्वतन्त्र समाज में नागरिकों के उस व्यवस्थित समुदाय को कहते हैं, जो शासन तंत्र को नियंत्रित करना चाहते है और उनके लिए जनसहमति में भाग लेकर अपने कुछ सदस्यों को सरकारी पदों पर भेजने का प्रयास करता है।
2. एडमण्ड बर्क के शब्दों में ष्राजनीतिक दल कुछ लोगों का एक समूह है, जो कुछ सिद्धान्तों पर सहमत होकर अपने संयुक्त प्रयासों द्वारा जनसहमति को आगे बढाने के लिए संगठित रहता है।
3. लीकॉक के मतानुसार राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय ऐसे नागरिकों के समुदाय से हैं, जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। सार्वजनिक प्रश्नों पर उनके विचार एक जैसे होते हैं और वे सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग करके शासन की शक्ति हथियाना चाहते है।

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कह सकते हैं कि राजनीतिक दल व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जो सार्वजनिक प्रश्नों पर पूर्णतः नहीं तो कम से कम सामान्य दृष्टिकोण रखते है और वैधानिक साधनों के द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हैं।

31.3 राजनीतिक दलों के कार्य

31.3.1 लोकमत का निर्माण करना–लोकमत वास्तविक अर्थों में लोकतंत्र रूपी नाड़ी के लिए रक्त का कार्य करता है और इसका निर्माता राजनीतिक दल होते है जो समय–समय पर अपने विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से इसका निर्माण करते है। वे सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक समस्याओं से आम जनता को अवगत करवाते हैं।

31.3.2 चुनावों में हिस्सा लेना–हरमन फाइनर के अनुसार राजनीतिक दलों के बिना निर्वाचक या तो नितान्त असहाय हो जायेंगे या उनके द्वारा असम्भव नीतियों को अपनाकर राजनीतिक यंत्र को नष्ट कर दिया जाएगा।

31.3.3 समाज को निश्चित विचारधारा प्रदान करना–राजनीतिक दलों को विचारधाराओं का दलाल कहा जाता है। क्योंकि प्रत्येक दल एक विचारधारा के आवरण में लिपटा हुआ होता है। वे अपनी विचारधारा को आधार मानकर जनता के बीच जाते हैं और अपनी विचारधारा के विभिन्न पहलुओं से अवगत करवाते हैं। अन्ततोगत्वा राजाज को विभिन्न विचारधाराओं की जानकारी मिलती है और इस प्रकार राजनीतिक दल एक निश्चित विचारधारा प्रदान करते हैं। जैसे भाजपा को दक्षिण पंथी, राष्ट्रवादी पार्टियां साम्यवाद और कांग्रेस मध्यमार्गी विचारधारा के रूप में जानी जाती है।

31.3.4 सत्ता प्राप्त करना–राजनीतिक दलों का प्रमुख उद्देश्य येन केन प्रकारेण सत्ता प्राप्त करना और इसके लिए वे हर समय प्रयत्नशील रहते है। यदि कोई दल इस समय सत्ता में नहीं है तो वह ऐसे अवसरों की तलाश में होता है, जिसका लाभ उठाकर सत्ता प्राप्त की जा सके। सत्ता तब प्राप्त होती है जब उनको व्यवस्थापिका में बहुमत मिले।

31.3.5 सरकार का ध्यान जनसमस्याओं की ओर दिलाना–राजनीतिक दल सजग प्रहरी होने के नाते सरकार का ध्यान समय–समय पर जनता की ओर दिलाते रहते हैं। इसके लिए वे आन्दोलन, प्रदर्शन, हड़ताल, धरना आदि का सहारा लेते है।

31.3.6 सत्तापक्ष की तानाशाही पर अंकुश लगाना–सत्तापक्ष सत्ता की चकाचौंध में अपने दायित्वों को भूल जाते हैं और तानाशाही का रुख अपनाकर जनहितों की अनदेखी करने लगते है। तब ऐसी परिस्थितियों में राजनीतिक दल सत्ता पक्ष को इस बात से आगाह करते हैं कि वे अपने तानाशाही पूर्वक रुख का परित्याग करे।

31.3.7 शासन के विभिन्न अंगों में तालमेल बढ़ाना–सरकार के तीन अंग होते हैं–व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। इनके बीच समन्वय भी राजनीतिक दल स्थापित करते हैं। जैसे संसदीय व्यवस्था में व्यवस्थापिका से ही कार्यपालिका ली जाती है। इसी तरह अध्यक्षात्मक में तीनों अंग एक–दूसरे से जुड़े होते हैं।

31.3.8 सामाजिक एवं राजनीतिक सुधार–राजनीतिक दल केवल सत्ता प्राप्ति की लालसा नहीं रखते, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक सुधार के दायित्वों को भी पूरा करते हैं। जैसे–कांग्रेस द्वारा स्वाधीनता संग्राम के दौरान हरिजन कल्याण कार्यक्रम चलाया। इस प्रकार वर्तमान् में राजनीतिक महिला सशक्तीकरण, नशा मुक्ति, नारी कल्याण आदि के लिए कार्यक्रम चलाकर राजनीतिक क्षेत्र में सुधार के लिए प्रयास करते है। इसके लिए वे राजनीतिक मूल्यों से अवगत करवाते है और राजनीतिक जागरूकता का संचार करते हैं।

31.3.9 राजनीतिक समस्याओं पर शोध–राजनीतिक दल समय–समय पर उभरने वाली समस्याओं पर शोध कार्य करवाते है जिनका उद्देश्य समाज के दृष्टिकोण की जानकारी प्राप्त करना और आमजन की समस्या पर राय जानना, ताकि समस्या का शीघ्रतिशीघ्र समाधान किया जा सके।

31.3.10 शासन को क्रांति से बचाना–किसी समाज में क्रांति तब होती है, जब उस समाज का सम्पूर्ण व्यवस्थागत ढांचा चरमरा जाए परन्तु जहां राजनीतिक दलों का अस्तित्व हो तो वहाँ क्रांति से बचा जा सकता है। क्योंकि यह दल व्यवस्था में आने वाले दोषों को दूर कर देते है, जिससे ढांचा सुदृढ़ हो जाता है।

Jai Vishwa Bharati Institute (Deemed University), Jodhpur

31.3.11 शासन और जनता के बीच कड़ी का काम–बार्कर के अनुसार राजनीतिक दल एक ऐसे पुल का कार्य करते है जिसका एक छोर समाज को छूता है और दूसरा राज्य को। यह एक ऐसी पाइप लाइन है, जिसमें विचारधारा बहती है जो राज्य के यन्त्र को तरल बनाकर उसके पहियों को घुमाती रहती है।

31.4 भारत में दलीय व्यवस्था का स्वरूप या उभरते प्रतिमान

जहाँ तक भारतीय दलीय व्यवस्था का प्रश्न है तो यहाँ के अनेक दलों का अस्तित्व आजादी से पहले का है, जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। जैसे अखिल भारतीय कांग्रेस, भारतीय साम्यवादी पार्टी, फॉरवार्ड ब्लॉक, मुस्लिम लीग. हिन्दू महासभा आदि । इसके अलावा कुछ क्षेत्रीय दलों का उदय आजादी के पूर्व हुआ जैसे–डी.एम.के. आदि।

यदि आजादी के पश्चात् के वर्षों का सूक्ष्म अध्ययन करे तो हम पाते हैं कि भारत की दलीय व्यवस्था के स्वरूप में व्यापक तब्दीली आयी है। आज यह एक संक्रमण के दौर से गुजर रही है। इसके अलावा राजनीतिक दल दिशाहीन बनते जा रहे हैं। चुनावों के मौसम में बरसाती मेंढक के समान अनेक राजनीतिक दल पैदा होते हैं और चुनाव पश्चात् दल समाप्त हो जाते हैं।

इस प्रकार दलीय व्यवस्था के बदलते स्वरूप को निम्नलिखित शीर्षकों से प्रस्तुत कर सकते हैं –

31.4.1 राजनैतिक दलों का नैतिक पतन–भारतीय राजनीतिक दल नैतिकता का पाठ भूल चुके हैं और नैतिक मूल्यों को ताक में रख चुके हैं। वे केवल अवसरवादिता की राजनीति का दामन थाम रहे है और उसी के आधार पर अपने राजनीतिक उद्देश्य प्राप्ति के लिए हाथ–पैर मार रहे है। राजनेता और दल अपने पद और पद की सुरक्षा के लिए कुछ भी करने को तैयार हैं अर्थात् वे इनके लिए किसी अन्य दल में तोड़फोड़ कर सकते हैं या चुनाव पश्चात् सरकार बनाने के लिए उन दलों से या लोगों से हाथ मिला लेते हैं जिनके विरूद्ध उन्होंने वोट मांगे। ऐसे अनेक उदाहरण है जो इस दुर्दशा को स्पष्ट करते है।

(अ) 1998 को उत्तरप्रदेश में किस प्रकार भाजपा ने कांग्रेस, बसपा और जनता दल में तोड़फोड़ कर सरकार बनायी।

(ब) 2000 को महाराष्ट्र में कांग्रेस ने उस राष्ट्रवादी कांग्रेस से गठबन्धन किया जिन्होंने एक दूसरे के विरूद्ध चुनाव लड़ा।

31.4.2 व्यक्तिपरक राजनीति–भारत के राजनीतिक दल व्यक्तिपरक बनते जा रहे है। अधिकांश दलों की पहचान या उनका आधार एक व्यक्ति विशेष हैं, जैसे–

अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस = सोनिया गांधी
भारतीय जनता पार्टी = अटल बिहारी वाजपेयी
भारतीय साम्यवादी पार्टी = ज्योति बसु
बहुजन समाजवादी पार्टी – मायावती
समाजवादी पार्टी = मुलायम सिंह यादव

इनके अलावा अनेक राजनेता अपने स्वार्थों की पूर्ति विशेष के लिए अलग राजनीतिक दल बना लेते हैं, जैसे तृणमूल कांग्रेस = ममता बनर्जी आदि।

31.4.3 नकारात्मक राजनीति–भारतीय राजनीतिक दल नकारात्मक राजनीति का खेल खेलते हैं अर्थात् कभी इन दलों का उद्देश्य कांग्रेस को सत्ता से बाहर रखना तो कभी भाजपा को सत्ता से बाहर रखना होता हैं।

31.4.4 असंवैधानिक हथकण्डों का इस्तेमाल–राजनीतिक दलों द्वारा इस प्रकार की हरकतें करना आम बात हो गई हैं। ऐसा लगने लगा है कि हमारे राजनीतिक दलों का ध्यान जन समस्याओं की ओर न रहकर प्रदर्शन, हिंसा, बन्द, तोड़फोड़, धरना तक रह गया है। इस देश की संसद का दुर्भाग्य है कि इसकी अधिकांश कार्यवाही ठप्प रहती है या विपक्ष के सदस्यों द्वारा हंगामा किया जाता है।

विशेष : राज्य विधानमण्डलों की हालत संसद से बदतर है। यहां सदनों में हिंसा, मारपीट, असंसदीय भाषा का प्रयोग आम बात है। उत्तरप्रदेश विधानसभा की हिंसात्मक घटना हमारी संसदीय लोकतंत्र के गाल पर करारा तमाचा थी।

31.4.5 राजनीतिक दलों की सोच का घटता स्तर–आज भारत के राजनीतिक दलों की सोच सीमित हो गयी है। वे सम्पूर्ण राष्ट्र की न सोच का क्षेत्र या वर्ग विशेष की सोचते हैं, क्योंकि इससे राजनीतिक फायदा मिल सकता है। जैसे बहुजन समाजवादी पार्टी एक राष्ट्रीय दल है, उसकी सोच सम्पूर्ण समाज तक न होकर, बल्कि दलित समाज तक सीमित है। इसके अलावा सभी क्षेत्रीय दलों की भी सोच अपने क्षेत्र तक सीमित है।

31.4.6 क्षेत्रीय दलों की बढ़ती भूमिका–9वें दशक के बाद क्षेत्रीय दलों की भूमिका में व्यापक बढ़ोतरी हुई है। राज्य की राजनीति के साथ–साथ केन्द्र की राजनीति में इनका मुख्य रोल बन गया है। भारत के कुछ राज्यों को छोड़कर अन्य तमाम राज्यों में क्षेत्रीय दल या तो सत्ता में है या प्रमुख विपक्ष के रूप में है। इसके अलावा केन्द्र में बनने वाली गठबन्धन सरकारों में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, जो सरकार को समर्थन देती है।

31.4.7 राजनीतिक दलों की बढ़ती संख्या–बरसाती मेंढक की भांति चुनावों के समय अनेक दल प्रकट होते है। चुनाव आयोग के अनुसार वर्तमान् में 6 राष्ट्रीय दल, 40 क्षेत्रीय दल और करीबन 650 गैर पंजीकृत राजनीतिक दल हैं।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

31.4.8 गठबन्धन की राजनीति को स्वीकार करना–आज भारत में गठबन्धन की सरकारों का दौर चल रहा है। राज्यों के साथ केन्द्र में भी 9वीं लोकसभा के चुनाव के बाद इसका दौर प्रारम्भ हो गया है। आज भारत का प्रत्येक राजनीतिक दल गठबन्धन की राजनीति की वास्तविकता को स्वीकार कर रहा है। प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा था कि अब एक दल के बहुमत वाली सरकारों के दिन बीत चुके हैं और हमें गठबन्धन की राजनीति की ओर ढलना पड़ेगा। कांग्रेस जो पहले गठबन्धन की राजनीति को स्वीकार नहीं कर रही थी, अब वह भी मानने लगी है।

31.4.9 वैचारिक मतभेदों का अभाव–यदि विचारधारा के आधार पर राजनीतिक दलों के बीच विभाजन रेखा खिंची जाय तो यह कार्य असम्भव प्रतीत होता है। क्योंकि भारत के लगभग तमाम राजनीतिक दलों की विचारधारा एक समान है। जैसे कांग्रेस सहित कुल 12 पार्टियाँ ऐसी हैं, जो समाजवाद की बात करती है। इसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी समानता ही दिखायी पड़ती है। जैसे–पहले कांग्रेस ने उदारीकरण की शुरूआत की तो अब भाजपा पूरी ताकत के साथ आगे बढ़ा रही है।

31.4.10 आन्तरिक गुटबन्दी–भारत के सभी राजनीतिक दल आन्तरिक गुटबंदी की महामारी से ग्रस्त हैं। प्रत्येक दल में छोटे–मोटे अनेक गुट पाये जाते हैं, जो पार्टी के भीतर अपने उद्देश्य पूर्ति के लिए प्रयास करते हैं। कांग्रेस में अपेक्षाकृत अधिक गुटबंदी पायी जाती हैं जिसके कारण कांग्रेस बहुत कमजोर स्थिति में पहुंच गयी है। भाजपा में अनेक गुट है जैसे वाजपेयी गुट, आडवाणी गुट आदि।

31.4.11 राजनीतिक दल–बदल–भारत में आयाराम गयाराम की बात होना आम बात है। प्रत्येक राजनीतिक दल इस समस्या से ग्रस्त है और प्रत्येक राजनीतिक दल दल–बदलुओं को गले लगाने में नहीं हिचकता है।

31.4.12 राजनीतिक दलों में बढ़ती बिखराव की प्रकृति–भारतीय राजनीतिक दलों में जिस तीव्र गति से बिखराव की प्रवृत्ति बढ़ रही है वह अपने आप में चिन्ता का विषय है। इस समस्या से सभी राजनीतिक दल ग्रस्त है। इन दलों के वरिष्ठ नेता छोटे–मोटे मुद्दे या स्वार्थ सिद्धि को लेकर दल से अलग हो जाते है और वे यह भूल जाते हैं कि उनका जो वजूद है वह इसी दल के कारण है । बिखराव की इस प्रवृत्ति का सर्वाधिक खामियाजा कांग्रेस एवं जनता दल को भुगतना पड़ा है और भाजपा भी अब इससे अछुती नहीं रही हैं।

31.4.13 विपक्ष का गैर–जिम्मेदार होना–लोकतान्त्रिक व्यवस्था में सत्ता पक्ष की जितनी जिम्मेदारी होती है उतनी विपक्ष की भी होती है । परन्तु भारत में विपक्ष इस दिशा में खरा नहीं उतरा हैं, विपक्ष तो केवल सत्ता पक्ष का विरोध करने तक सीमित रह गया है जो हमेशा ऐसे स्वर्णिम मौके की तलाश में रहता है जब जिससे वह सत्ता प्राप्त कर सके और इसके लिए वह किसी भी हद तक जा सकता है। विपक्ष द्वारा संसद एवं विधानमण्डलों की कार्यवाही में हंगामा, तोड़फोड़, हिंसा, असंसदीय भाषा का प्रयोग, कार्यवाही न चलने देना आम बात हो गयी है।

31.4.14 राजनीतिक दल और अपराध–आज भारत का प्रत्येक राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय अपराधीकरण की समस्या से पीड़ित हैं। सभी राजनीतिक दलों में बड़ी संख्या में न केवल ऐसे तत्व उपस्थित हैं बल्कि इनके सदस्यों के रूप में संसद और विधानमण्डलों में पहुंच गये हैं। जहां पहले ये राजनीतिक दल अपने स्वयं अपराधी सत्ता के सुख का अनुभव कर रहे है। यद्यपि प्रत्येक राजनीतिक दल राजनीति के अपराधीकरण से चिन्तित है लेकिन इस पर अंकुश लगाने की कोई पहल नहीं करता।

31.4.15 राजनीतिक दलों द्वारा तात्कालिक मुद्दों को अधिक महत्व देना–विकसित लोकतान्त्रिक देशों में राजनीतिक दल विचारधारा एवं प्रभावी नीति को आधार मानकर चुनाव लड़ते हैं लेकिन भारत में राजनीतिक दल तात्कालिक छोटे संकीर्ण मुद्दों को आधार मानकर चुनाव लड़ते हैं। चुनाव के समय भड़काऊ भाषण या नारा देकर जनमत को अपनी ओर आकर्षित करने की कोशिश करते है। राजनीतिक दल कभी रामजन्मभुमि एवं बाबरी मस्जिद या आरक्षण या धार्मिक कार्ड या घोटाले आदि को आधार मानकर चुनावी नैय्या पार लगाना चाहते हैं।

31.4.16 जातिवाद–रजनी कोठारी के अनुसार भारत में जातियों का राजनीतिकरण हो गया है। आज कोई भी राजनीतिक दल इससे अछुता नहीं है यद्यपि सभी दल इससे ऊपर उठने की बात करते है परन्तु उनके द्वारा लिए जाने वाले सभी महत्वपूर्ण निर्णय जातिगत समीकरणों को ध्यान में रखकर लिये जाते हैं।

31.5 राजनीतिक दलों की समस्या

भारत में राजनीतिक दलों के सामने बहुत–सी समस्याएँ हैं। उनमें से मुख्य हैं, संगठनात्मक वित्तीय अनुशासनहीनता की समस्याएँ।

31.5.1 संगठनात्मक समस्याएँ–देश में सामाजिक व्यवस्था की निहित रूपरेखा दल व्यवस्था की समस्याओं को बहुत अधिक बढ़ा देती है। भारत एक परम्परागत स्तरित सामाजिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। धर्म, जाति तथा अन्य कई सांस्कृतिक कारण लोगों के दिमागों पर आधिपत्य जमाये हुए हैं तथा पूर्णतः विशुद्ध सैद्धान्तिक राजनीति इस सन्दर्भ में कुछ कठिन है। पूर्णतः पंथनिरपेक्ष संगठन को चलाना और भी अधिक कठिन है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की एक व्यापक विशेषता गुटबन्दी है जो दलों के प्रभावशाली संगठन के मार्ग में एक मुख्य बाधा है। कांग्रेस दल में भी तीन दशकों में दो प्रमुख विभाजन हो गये। साम्यवादी दल भी तीन हैं–भारतीय साम्यवादी दल, मार्क्सवादी साम्यवादी दल, भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी लेनिनवादी) जो भारतीय साम्यवादी दल में गुट सम्बन्धी राजनीति से पैदा हुए। अकाली दल और द्रविड़ मुनेत्र कड़गम जैसे प्रादेशिक दल भी विभाजित हो चुके हैं। इस प्रकार गुटबन्दी सभी राजनीतिक दलों में प्रचलित है तथा पूर्णतः बिना सैद्धान्तिक आधार के केवल व्यक्तिगत मतभेद ही विभिन्न दलों का नेतृत्व करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)/Ladnun

31.5.2 दल–बदल–भारत में दल–बदल एक सामान्य सी बात है। दल–बदल देश में राजनीतिक स्थिरता को क्षति पहुँचाने के साथ–साथ प्रशासन तथा संसदीय संस्थाओं में लोगों के विश्वास पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। यह दल–बदल 1967 से 1968 तक लगभग 16 सरकारों के पतन के लिए उत्तरदायी है। दल–बदल स्वस्थ दल प्रणाली के विकास में एक बाधा है।

31.5.3 वित्त साधन–भारत में राजनीतिक दल सामान्यतः अपना वित्तीय लेखा–जोखा, यहाँ तक कि सदस्य तथा कोष संचालन के साधनों से प्राप्त धन का ब्यौरा भी नहीं छापते।

व्यावहारिक रूप से सभी राजनीतिक दलों की आय का सामान्य स्त्रोत संसद तथा राज्य विधानसभाओं के सदस्यों पर लगाया गया चन्दा है। सभी राजनीतिक दलों की आय के मुख्य स्त्रोत दान थैलियां तथा कोष संचालन भी है। 1956 के कम्पनी अधिनियम ने पहली बार राजनीतिक चन्दों को दान देने पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए एक विधेयक 1968 में पारित किया गया, परन्तु राजनीतिक दलों के वित्त साधनों की गति लगातार पूर्ववत् चलती रही। आय का एक कम विवादास्पद तरीका दल के नेताओं को प्राप्त थैलियां है। ये स्थानीय दल कार्यकर्ताओं द्वारा जनता तथा व्यापारी लोगों से सामान्यतः एकत्र की जाती हैं तथा अक्सर चुनावों के समय नेताओं की भेंट कर दी जाती हैं।

31.5.4 नेतृत्व का संकट–राजनीतिक दलों में नेतृत्व का संकट पाया जाता है। प्रखर और निर्मल नेतृत्व का अभाव पाया जाता हैं। राजनीति को हमारे नेताओं ने एक गन्दा खेल बना दिया है। उनमें राजनीतिक अवसरवादिता देखने को मिलती है।

31.5.5 काले धन का प्रभाव–चुनाव बहुत खर्चीले हो जाने से वास्तविक जनसेवी चुनाव मैदान में उतरने से कतराते है। दलों को पूंजीपतियों और कम्पनियों से आर्थिक सहायता मिलती रही हैं। जो लोग धन देते हैं, वे बदले में अनुचित लाभ उठाना चाहते हैं। भूतपूर्व राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी ने यह कहा था कि श्एक व्यक्ति चुनाव में लाखों रूपये खर्च करने के बाद ईमानदार हरगिज नहीं रह सकता।श यह एक ऐसा कटु सत्य है जो हमारी राजनीतिक व्यवस्था के खोखलेपन को प्रकट करता हैं।

31.5.6 जातिवाद और साम्प्रदायिकता–जातिवाद और साम्प्रदायिकता जैसे जीवन मूल्य हमें विरासत में मिले हैं, जिनके कारण हर दल को इन तत्वों के साथ समझौता करना पड़ता है। योग्य उम्मीदवारों की बजाय उन्हें ऐसे लोगों को चुनावी टिकट देने पड़ते हैं जिनकी जाति वालों को उन चुनावों के क्षेत्र में बाहुल्य हो।

31.5.7 राजनीति का अपराधीकरण–सभी राजनीतिक दलों में अपराधी तत्व घुस आये हैं। अपराधियों ने राजनीतिक नेतृत्व को अपने पंजे में फांस लिया है। राजनीति के अपराधीकरण की प्रक्रिया वस्तुतः अपराध के राजनीतिकरण से शुरू होती है। 1996 के लोकसभा चुनाव परिणामों पर टिप्पणी करते हुए इण्डिया टुडे ने लिखा है : किसी भी अपराध का नाम लीजिए और आपको एक–न–एक सांसद मिल सकता है। जिसके ऊपर उसका आरोप लगा होगा। इस मामलें में उत्तर प्रदेश सबसे आगे है। चुनाव में रिकार्ड 435 आपराधिक पृष्ठभूमि वाले प्रत्याशी खड़े हुए थे। उनमें से 27 तो संसद में भी पहुंच गए। इस सूची में 14 सांसदों के साथ भाजपा सबसे ऊपर हैं, हालांकि उनमें से ज्यादातर छोटे–मोटे मामलों के आरोपी हैं। सपा के पास आपराधिक रिकार्ड वाले सात सांसद है जिनमें से चार हिस्ट्रीशीटर हैं, कांग्रेस के एक और बसपा के तीन सांसदों के नाम आपराधिक मामलों से जुड़े हैं।

31.5.8 भारत में सह–अस्तित्व की संस्कृति का अभाव–विधामण्डल में जब दलों की संख्या अधिक हो जाती है तो कभी–कभी मिले–जुले मन्त्रिमण्डल का गठन करना पड़ता है। मिली–जुली सरकारें तभी ठीक प्रकार चल सकती हैं जबकि विभिन्न घटकों के बीच परस्पर विश्वास हो। भारत का यह दुर्भाग्य रहा है कि हमारे नेता नीतियों के कारण नहीं व्यक्तिगत आधारों पर आपस में लड़ते–झगड़ते रहते हैं।

संक्षेप में, देश को सुस्पष्ट विचारधाराओं पर आधारित दो या तीन अखिल भारतीय दलों की आवश्यकता हैं।

संसदीय व्यवस्था :

संसदीय व्यवस्था एक वह प्रणाली है, जिसमें संसद प्रमुख धुरी होती है। संसद के माध्यम से तमाम कार्यों का संचालन किया जाता है। यह प्रणाली इंग्लैण्ड की देन है। अतः इसका भारत पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था, क्योंकि भारत अंग्रेजों का करीब 200 वर्षों तक उपनिवेश रहा।

भारत में संसदीय व्यवस्था के विकास का इतिहास बहुत पुराना है और यह क्रमिक ढंग से हुआ। 1833 के अधि. द्वारा आरम्भिक विधान परिषद् की स्थापना की गई परन्तु वास्तविक अर्थों में संसदीय विकास, 1909 के अधि. से माना जाता है। जब भारत में पहली बार प्रान्तों में आंशिक उत्तरदायी शासन की शुरूआत की गई। इसके पश्चात 1919 और 1935 के अधिनियम उल्लेखनीय हैं। इसके अलावा 1946 में अन्तरिम सरकार का गठन किया गया। उसमें भी संसदीय प्रणाली को अपनाया गया। अतः जब संविधान सभा के सम्मुख यह मुद्दा आया कि हमें संसदीय प्रणाली अपनानी चाहिए या अध्यक्षात्मक प्रणाली। अन्ततः गहन आत्ममंथन के बाद यह तय किया गया कि हम संसदीय पौधे को भविष्य में सींच कर विकसित करेंगे, ताकि उससे प्राप्त होने वाला वो फल उच्च किस्म के हो। परन्तु आज संविधान निर्माताओं का वह सपना रेत के घरौंदे की भांति बिखर रहा है। आज हमारी संसदीय प्रणाली पतन की ओर अग्रसर हो रही है और खतरे के गहरे भंवर में फंस गई है। आज हमारे राजनीतिक विश्लेषक, संविधान विशेषज्ञ संसदीय व्यवस्था के विकल्प की बात करने लगे है। उनका मानना है कि इस व्यवस्था का पिछला 55 वर्षीय अनुभव अच्छा नहीं रहा है और जिस उम्मीद के साथ इसको स्वीकार किया गया था उस उम्मीद पर खरी नहीं उतर रही है और न ही इसके कारण विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ है। इसके कारण राजनीतिक नकारा साबित हो रही है। नित चुनावों से हमारी सम्पूर्ण व्यवस्था चरमरा गयी है। हमने देखा 1989–2000 तक हम 5 लोकसभा चुनावों का सामना कर चुके हैं। चुनावों में किसी भी दल को बहुमत न मिलने वाली स्थिति ने संसदीय व्यवस्था के पतन के लिए आग में घी का काम किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने भी संसदीय व्यवस्था के विकल्प की तलाश की बात सोचने की अपील की है। इसके अलावा जिस संविधान समीक्षा आयोग का गठन किया गया है, वह इस मुद्दे पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर रही है। इस प्रकार संसदीय प्रणाली की प्रमुख चुनौतियाँ इस प्रकार है –

31.6 संसदीय प्रणाली की प्रमुख चुनौतियाँ

31.6.1 गठबन्धन की राजनीति–भारतीय संसदीय व्यवस्था के सम्मुख गठबन्धन की राजनीति चुनौती बनकर खड़ी है, क्योंकि संसदीय चुनावों में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत न मिलने के कारण गठबन्धन सरकारें बनी है। यह गठबन्धन सरकारें हमारी जन इच्छा और आकांक्षाओं पर खरी नहीं उतर रही है। हमने केन्द्र और राज्य स्तर पर इसके अनेक प्रयोग किये, परन्तु केन्द्रीय स्तर पर यह पूर्णतया असफल हो गयी। आज तक कुल 5 गठबन्धन सरकारें बनी, परन्तु एक भी अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर पायी है। अतः गठबन्धन की असफलता ने संसदीय व्यवस्था की प्रासंगिकता पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है।

31.6.2 बैमेल गठबन्धन–आज भारतीय राजनीति में बैमेल गठबन्धनों का दौर चल रहा है। राजनीतिक दल केवल राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति एवं पद प्राप्ति के लिए ऐसा कर रहे हैं । इसके लिए उन्होंने अपने सिद्धान्तों को ताक में रख दिया है। चुनाव के समय तो यह दल आपस में एक दूसरे के विरूद्ध प्रचार करते हैं, परन्तु बाद में राजनीतिक फायदे के लिए हाथ मिला लेते हैं। हमने देखा कि भाजपा तीन मुद्दों के कारण (धारा 370ए समान नागरिक संहिता और रामजन्म भूमि व बाबरी मस्जिद) इतनी ताकत में आयी परन्तु आज उसने इन मुद्दों से नाता तोड़ लिया है।

31.6.3 राजनीति का अपराधीकरण–राजनीति का अपराधीकरण संसदीय लोकतंत्र के लिए दीमक के समान है। आज अनेक अपराधी संसद और विधानमण्डलों में पहुंच कर कानूनों का निर्माण कर रहे हैं। इण्डिया टुडे की एक रिपोर्ट के अनुसार उत्तरप्रदेश की पुलिस फाइलों में 129 विधायकों, 13 सांसदों और 19 मंत्रियों के रिकॉर्ड देखे जा सकते हैं। यह स्थिति केवल उत्तरप्रदेश की है तो इस आधार पर सम्पूर्ण भारत की स्थिति का आकलन किया जा सकता है। यह देश का ओर हमारी संसदीय व्यवस्था का दुर्भाग्य है कि कुछ अपराधी तो ऐसे हैं, जो जेलों में रहते हुए चुनाव जीत जाते हैं। जब भक्षक ही रक्षक बन जाये तो उस व्यवस्था का क्या होगा। उसके बारे में सोचना ही व्यर्थ है। हमने देखा कि किस प्रकार आपराधिक पृष्ठभूमि से आयी और संसद तक पहुंची फूलनदेवी की हत्या हुई।

31.6.4 दल बदल–श्आया राम गया रामश की स्थिति ने संसदीय प्रणाली को तहस–नहस कर दिया है। राजनेता अपने चन्द स्वार्थों के लिए राजनीतिक दल बदलने में देरी नहीं करते। दल बदल के कारण अनेक बहुमत वाली सरकारों का पतन हो गया है। हमने देखा कि किस प्रकार उत्तरप्रदेश में भाजपा द्वारा दल बदल करवाकर अपनी सरकार बनायी। इसी तरह 17 अप्रेल 1999 को दलबदल के कारण वाजपेयी सरकार का पतन हुआ। इन घटनाओं से आम जनता का राजनीति से विश्वास उठ चुका है।

31.6.5 विपक्ष का नकारात्मक दृष्टिकोण–विपक्ष संसदीय लोकतंत्र का प्रमुख पहरेदार (रक्षक) होता है। उसका प्रमुख कार्य सजग रहते हुए सरकार के कदम का सूक्ष्म अवलोकन करना और सरकार को ऐसे कदम उठाने से रोकना जो जनहित के विरूद्ध हो । परन्तु आज हमारा विपक्ष नकारात्मक भूमिका की ओर अग्रसर हो रहा है। विपक्ष के द्वारा सदनों की कार्यवाहियों को ठप्प करना आम बात हो गयी है। इसके अलावा विपक्ष के द्वारा सरकार पर दबाव डालने के लिए असंवैधानिक तरीकों का इस्तेमाल किया जाता है। इसके अलावा विपक्ष द्वारा अपनी झूठी लोकप्रियता के लिए हिंसक प्रदर्शन, रैलियां, हड़ताल व धरने दिये जाते है। इससे आज हमारा संसदीय लोकतंत्र गम्भीर खतरे में फंस गया है। सदनों की कार्यवाही ठप्प करने से सदन का बहुमूल्य समय व्यर्थ निकल जाता है और धन की बर्बादी होती है और सदन सही ढंग से जन समस्याओं पर विचार–विमर्श नहीं कर पाता है।

31.6.6 प्रधानमंत्री पद का ह्रास–पिछले एक दशक से हमें यह देखने में आ रहा है कि प्रधानमंत्री पद का ह्रास हो रहा है। केन्द्र में बनने वाली गठबन्धन सरकारों में प्रधानमंत्री स्वतन्त्र निर्णय नहीं ले सकता है। निर्णय लेने से पूर्व घटक दलों की राय जाननी पड़ती है। इसके अलावा प्रधानमंत्री का ध्यान राष्ट्र की समस्याओं या मूल मुद्दों की ओर न होकर घटक दलों को मनाने में कुछ ज्यादा रहता है। अटल बिहारी वाजपेयी सरकार के कार्यकाल में घटित होने वाली विभिन्न राजनीतिक घटनाएं इस दावे को मजबूती प्रदान करती है।

31.6.7 बढ़ती अस्थिरता–संसदीय लोकतंत्र की सफलता की प्रमुख शर्त यह है कि राजनीतिक स्थायित्व हो । परन्तु पिछले एक दशक से अस्थायित्व की स्थिति व्याप्त है। 1989 से लेकर 2001 तक 5 बार लोकसभा चुनाव हो चुके हैं और 8 प्रधानमंत्री शपथ ले चुके हैं जिसके कारण आमजनता का विश्वास इस व्यवस्था से उठने लगा है और वे नये विकल्प की बात सोचने लगते है।

31.6.8 दोषपूर्ण दलीय व्यवस्था–राजनीतिक दल लोकतंत्र के लिए प्राणवायु है और संसदीय लोकतंत्र की सफलता या असफलता काफी हद तक दलीय व्यवस्था पर निर्भर करती है। परन्तु भारत की दलीय व्यवस्था अनेक दोषों से युक्त हो गयी है। राजनीतिक दल क्षेत्र, धर्म या जातिगत भावना में सिमट कर रहे गये है। इसके अलावा राजनीतिक दलों की नैतिकता में व्यापक गिरावट आ गयी है। वे अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए अपने सिद्धान्तों को तिलांजलि देने को तैयार है।

31.6.9 संसद का ह्रास–संसद या व्यवस्थापिका का प्रमुख कार्य है–कानून का निर्माण करना। परन्तु इस कार्य में उसकी भूमिका कम होती जा रही है। क्योंकि कानून निर्माण का वास्तविक कार्य कार्यपालिका के हाथों में आ चुका है। कार्यपालिका द्वारा प्रस्तुत विधेयक को संसद (लोकसभा) अस्वीकार नहीं कर सकती, क्योंकि बहुमत दल के कठोर दलीय अनुशासन में उन्हें रहना पड़ता है। इसके अलावा संसद में वाद–विवाद का स्तर, दिन प्रतिदिन गिरता जा रहा है। संसद सदस्य सदनों की कार्यवाही में गम्भीरतापूर्वक हिस्सा नहीं लेते हैं।

Jan Vishva Bharati Institute (Deemed University) Lucknow

31.6.10 आर्थिक संसाधनों के दोहन में असफलता–भारत में संसदीय व्यवस्था इस उम्मीद के साथ शुरू की गई थी कि यह हमारी आर्थिक और प्राकृतिक संसाधनों का उचित दोहन करके देश में व्याप्त गरीबी, अज्ञानता, बेरोजगारी और पिछड़ेपन को दूर कर विकास की बहार ला सके, परन्तु 50 वर्ष बीत जाने के बावजूद इस क्षेत्र में कोई सफलता नहीं मिली है। जिससे आम जनता का भरोसा उठता जा रहा है।

31.6.11 बढ़ता भ्रष्टाचार–भारत में भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका है। एक साधारण कर्मचारी से लेकर प्रधानमंत्री तक भ्रष्टाचार में लिप्त है। हमारे सम्मुख अनेक घोटाले और रिश्वत काण्ड हैं। भारत का सम्पूर्ण विश्व में भ्रष्टाचार के क्षेत्र में 26वां स्थान है।

31.6.12 नौकरशाही की बढ़ती शक्ति–संसदीय व्यवस्था में जो मंत्री बनते है उन्हें विभाग और प्रशासन के बारे में बिल्कुल भी जानकारी नहीं होती है। अतः विभाग के कार्य मंत्रियों द्वारा न करने बल्कि प्रशासनिक अधिकारियों द्वारा किया जाता है। जिनको प्रशासन की प्रत्येक सूक्ष्म तथ्य की जानकारी होती है। अतः मंत्रियों की अयोग्यता के कारण नौकरशाही अधिक हावी हो गई है। यही कारण है कि अनेक विचारकों द्वारा संसदीय व्यवस्था को नौकरशाही की तानाशाही कहा जाने लगा है।

31.7 सारांश

इस प्रकार भारतीय राजनीति में राजनैतिक दल अस्थिर, अनिश्चित और अवसरवादी प्रवृत्तियों के परिणाम हैं। यद्यपि सामान्य जनता ने तो 1952 से लेकर 2004 ई. तक सदैव ही अपनी जागरूकता का परिचय दिया, लेकिन राजनीतिक दलों और इन दलों के नेताओं ने अपनी नासमझियों, संकीर्णताओं और कुटिलताओं से जनता के विवेक को पराजित कर दिया। अतः दुःखद तथ्य यह है कि भारत के राजनीतिक दल, दिन–ब–दिन संगठित अर्द्ध–संगठित अवसरवादिता का रूप लेते जा रहे हैं।

दूसरी तरफ यह सत्य है कि आज भारत में संसदीय व्यवस्था गतिशील है। इसका स्वरूप बदलता जा रहा है। इसमें नित्य नए तत्त्व और प्रवृत्तियां उभर रही हैं।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक दल लोकतन्त्र के पहियों के रूप में अपरिहार्य है इस कथन के आधार पर राजनीतिक दलों के महत्व को स्पष्ट कीजिये ।
2. भारतीय दलीय व्यवस्था के उभरते प्रतिमानों को स्पष्ट कीजिये
3. भारतीय राजनीतिक दल संक्रमण काल के दौर से गुजर रहे है। समीक्षा कीजिये
4. संसदीय प्रजातन्त्र के सम्मुख कौनसी चुनौतियां आ रही है ।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. राजनीतिक दलों के महत्व बताओं (कोई पाँच)
2. राजनीतिक दलों में बढ़ती बिखराव की प्रवृत्ति को स्पष्ट कीजिये।
3. क्या संसदीय प्रणाली के विकल्प को अपनाना चाहिए ?

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. भारत के किन्ही चार राष्ट्रीय दलों के नाम लिखिये
2. संसदीय व्यवस्था के सम्मुख प्रमुख चुनौतियां क्या है ?

संदर्भ ग्रन्थ सूची

रामअवतार शर्मा भारतीय राजनीति : ज्वलन्त प्रश्न हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय , दिल्ली विश्वविद्यालय , दिल्ली
सुभाष कश्यप, भारत का संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया,
बी.एल.फड़िया, भारतीय शासन और राजनीति, साहित्य भवन आगरा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–32 : आरक्षण

संरचना

32.0 उद्देश्य

32.1 प्रस्तावना

32.2 अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों हेतु संवैधानिक व्यवस्था

- 32.2.1 अनुच्छेद 17
- 32.2.2 अनुच्छेद 46
- 32.2.3 अनुच्छेद 25
- 32.2.4 अनुच्छेद 15
- 32.2.5 अनुच्छेद 19(5)
- 32.2.6 अनुच्छेद 29
- 32.2.7 अनुच्छेद 16
- 32.2.8 अनुच्छेद 335
- 32.2.9 अनुच्छेद 330, 332 एवं 334
- 32.2.10 अनुच्छेद 164 एवं 338
- 32.2.11 अनुच्छेद 244
- 32.2.12 अनुच्छेद 23
- 32.2.13 अनुच्छेद 275

32.3 आरक्षण के पक्ष में तर्क

32.4 आरक्षण के विपक्ष में तर्क

32.5 पिछड़ी जाति आयोग

32.6 आरक्षण की राजनीति

32.7 सारांश

32.0 उद्देश्य

इस अध्याय के अन्तर्गत भरत में आरक्षण की राजनीति का अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत अध्याय को पढ़ने से आपको निम्न जानकरी प्राप्त होगी–

- आरक्षण राजनीति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि समझ सकेंगे,
- आरक्षण व्यवस्था के बदलते प्रतिमानों की जानकारी प्राप्त करेंगे।

32.1 प्रस्तावना

किसी भी समाज की व्यवस्था का संचालन सामाजिक ढांचे पर निर्भर करता है इसलिए वैदिक काल में वर्ण व्यवस्था को अपना कर समाज को चार वर्णों में विभाजित किया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ब्राह्मणों का कार्य शिक्षा एवं धार्मिक मामलों से स्बंध, क्षत्रियों का शासन एवं सुरक्षा का दायित्व, वैश्यों का व्यापार एवं उत्पादन तथा शूद्रों का इन तीनों वर्णों के लोगों की सेवा करना। वर्ण व्यवस्था का यह उद्देश्य नहीं था कि समाज का विभाजन किया जाए, अपितु सामाजिक व्यवस्था का सफल संचालन सुनिश्चित करना था। इसके अतिरिक्त वर्ण व्यवस्था का आधार जन्म न होकर कर्म या कार्यों के आधार पर था। लेकिन धीरे–धीरे वर्ण व्यवस्था में गम्भीर दोष आने लगे। इसका आधार जन्म को माना जाने लगा अर्थात् वर्ण का निर्धारण पिता के वर्ण से होने लगाए चाहे सन्तान कितनी भी योग्य क्यों नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि समाज स्पष्ट रूप से खण्डित नजर आने लगा। इस अवस्था में समाज की प्रशासनिक एवं सैन्य शक्ति ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के हाथों तक, आर्थिक शक्ति वैश्यों के हाथों में केन्द्रित हो गयी। शूद्रों को अछूत समझा जाने लगा और उनकी स्थिति बद से बदतर होने लगी। यह दौर भारतीय समाज में कई सदियों तक चलता रहा और समाज का ,क बहुत बड़ा वर्ग अभाव की जिन्दगी जीने को मजबूर हो गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

200 वर्षों की गुलामी के बाद जब हमें आजादी मिली तो हमने हमारा संविधान बनाया। उसमें इस शुद्र वर्ग (दलित एवं पिछड़ा वर्ग) की स्थिति को ध्यान में रखते हुए और सामाजिक न्याय की अवधारणा को मजबूत करने के लिए, कुछ विशेष प्रावधान किये गये। इसके लिए संविधान में दो अनुसूचियाँ बनायी गई। प्रथम अनु. में अनुसूचित जाति, जनजाति जिसमें कबाइली तथा जंगल में रहने वाली, जिनका भौतिक विकास नहीं हुआ है, जातियों को शामिल किया गया।

द्वितीय में अनुसूचित जातियों, वे जातियाँ जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर तथा सामाजिक दृष्टि से अछूत मानी जाती है को शामिल किया गया। इनके लिए लोकसभा, राज्य विधानसभा, सरकारी नौकरियों एवं पदोन्नति तथा शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश आदि में आरक्षण (स्थान सुरक्षित) किये गये।

आरक्षण की यह सुविधा संविधान लागू होने के प्रारम्भिक 10 वर्षों के लिए थी, लेकिन वोट बैंक की राजनीति के चलते यह व्यवस्था आज भी कायम है। ऐसी राजनीतिक परिस्थितियों में भविष्य में भी कायम रहेगी। आरक्षण समाप्त होने की बजाय और बढ़ता जा रहा है। आज अनेक जातियाँ आरक्षण का अनुचित लाभ प्राप्त करने के लिए प्रयासरत् हैं।

मई 2003 को राजस्थान के मुख्यमन्त्री ने आरक्षण का राजनीति कार्ड खेलते हुए और स्वर्ण जातियों के द्वारा आरक्षण की मांग को मद्देनजर रखते हुए यह घोषणा की कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई स्वर्ण जातियों को 14 प्रतिशत आरक्षण दिया जाना चाहिए।

32.2 अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों हेतु संवैधानिक व्यवस्थाएँ

भारत के संविधान में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा अन्य पिछड़ा वर्गों का शैक्षिक तथा आर्थिक दृष्टि से उत्थान करने, उनका परम्परागत पिछड़ापन तथा उनकी सामाजिक अयोग्यताओं को दूर करने के लिए सुरक्षा एवं संरक्षण प्रदान करने की व्यवस्था की गई है, जो इस प्रकार है –

32.2.1 अनुच्छेद 17–छूआछूत (अस्पश्श्यता) का उन्मूलन तथा इसके प्रत्येक रूप का निषेध।

32.2.2 अनुच्छेद 46–इन जातियों के शैक्षिक तथा सामाजिक अन्याय से बचाव की व्यवस्था।

32.2.3 अनुच्छेद 25–हिन्दुओं के सार्वजनिक स्थलों के द्वार सभी के लिए खोलना

32.2.4 अनुच्छेद 15–दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों, तालाबों, स्नानघरों, सड़कों, सार्वजनिक स्थलों के उपयोग करने पर लगी सभी रूकावटों को हटाना जो सार्वजनिक घोषित की गई है।

32.2.5 अनुच्छेद 19(5)–किसी भी अनुसूचित जनजाति के हित में सभी लोगों को स्वतन्त्रता पूर्वक आने–जाने, बसने या सम्पत्ति प्राप्त करने के अधिकार पर प्रतिबन्ध की व्यवस्था।

32.2.6 अनुच्छेद 29–सरकार द्वारा संचालित या सरकारी सहायता प्राप्त शिक्षण संस्थाओं में सभी प्रकार के प्रतिबन्धों का निषेध।

32.2.7 अनुच्छेद 16–इसके अनुसार सरकारी सेवा में पिछड़े वर्गों का प्रतिनिधित्व अपर्याप्त होने पर राज्य उनके लिए स्थान सुरक्षित करे।

32.2.8 अनुच्छेद 335–सार्वजनिक नियुक्ति करने में राज्य अनुसूचित जनजाति एवं अनुसूचित जाति के हितों का ध्यान रखे।

32.2.9 अनुच्छेद 330, 332 तथा 334–लोकसभा या राज्य विधानसभा में अनुसूचित जाति एवं जनजाति के लिए स्थान आरक्षित करने की व्यवस्था करते हैं। यह व्यवस्था 79 वें संविधान संशोधन के अनुसार 2010 तक जारी रहेगी। वर्तमान लोकसभा में अनुसूचित जातियों के लिए 79 तथा जनजातियों के लिए 90 स्थान आरक्षित हैं।

32.2.10 अनुच्छेद 164 व 338–इनके कल्याण तथा हितों की सुरक्षा के उद्देश्य से राज्य में जनजाति सलाहकार परिषदों तथा पृथक विभाग की स्थापना और केन्द्र में ,क विशेष अधिकारी की नियुक्ति।

32.2.11 अनुच्छेद 244–अनुसूचित जाति एवं जनजाति क्षेत्रों के प्रशासन तथा नियंत्रण के लिए विशेष व्यवस्था।

32.2.12 अनुच्छेद 23–बेकारी प्रथा पर रोक तथा मनुष्य के क्रय–विक्रय निषेध घोषित करता है।

32.2.13 अनुच्छेद 275–अनुच्छेद 275 के अनुसार अनुसूचित जातियों के विशेष उद्देश्य से बनायी गई योजनाओं के लिए राज्यसरकारों के लिए विशेष अनुदान की व्यवस्था की गई है। अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के छात्रों को निःशुल्क शिक्षा, छात्रवृति देने, तकनीकी एवं व्यावसायिक शिक्षण संस्थाओं में स्थान आरक्षित करने का प्रावधान किया गया है।

32.3 आरक्षण के पक्ष में तर्क

आरक्षण के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं –

1. आरक्षण से लोकसेवाओं में पिछड़े वर्गों का प्रतिनिधित्व बढ़ा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

2. आरक्षण से कमजोर वर्गों की आर्थिक उन्नति सम्भव हो पायी है।
3. आरक्षण से कमजोर वर्गों की सामाजिक प्रतिष्ठा में परिवर्तन आया है।
4. आरक्षण से संविधान के सामाजिक और आर्थिक न्याय संबंधी अवधारणा का समुचित क्रियान्वयन हुआ है।
5. आरक्षण से पिछड़े वर्गों की गरीबी समाप्त करने में सहायता मिली है।
6. आरक्षण के कारण राजनीति में उच्च वर्ग के साथ निम्न वर्ग को अपनी हिस्सेदारी अदा करने का अवसर मिला है।
7. समान अधिकारों पर जोर देने की भावना बढ़ी है।
8. कमजोर वर्गों में शिक्षा के प्रति जागरूकता आयी है।
9. पिछड़े वर्गों में राजनीतिक चेतना का विकास हुआ है।

32.4 आरक्षण के विपक्ष में तर्क

आरक्षण के आलोचक निम्न तर्क देते हैं –

1. आरक्षण से प्रशासन एवं राजनीति में जाति का बोलबाला बढ़ा है।
2. आरक्षण से उच्च जातियों और पिछड़ी जातियों के बीच संघर्ष एवं टकराव की स्थिति उत्पन्न हुई हैं
3. आरक्षण से लोकसेवा के स्तर का ह्रास हुआ है।
4. आरक्षण का लाभ एक छोटे वर्ग ने ही उठाया है, बड़ा वर्ग आज भी इससे वंचित है जिसके कारण पिछड़ी जातियों की स्थिति में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ है।
5. आरक्षण, वोट बैंक का साधन बनकर रह गया है।
6. आरक्षण से अनुसूचित जातियों व जनजातियों की स्थिति सुधारने की बजाए उनकी निर्भरता बढ़ गयी है।
7. पदोन्नति की श्रेस्टर प्रणाली के कारण अन्य वर्गों के अधिकारियों में जबर्दस्त रोष पाया जाता है।
8. यह संविधान द्वारा प्रदत्त समानता के अधिकार के विरूद्ध है, जिसमें यह कहा गया है कि जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र, लिंग, रंग, वर्ण आदि के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा। लेकिन आरक्षण के कारण स्पष्ट भेदभाव देखा जा सकता है।
9. आरक्षण समाज में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों का पृथक समूह बना देता हैं, जिससे वे समाज की मूलधारा से कट गये हैं।
10. आरक्षण का लाभ उठाने के लिए समाज की अन्य जातियाँ भी संगठित होकर प्रयास कर रही है जिससे समाज में अनेक समस्याओं को बढ़ने का मौका मिल रहा हैं।

32.5 पिछड़ी जाति आयोग

भारतीय संविधान में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति के लिए आरक्षण की व्यवस्था पहले से ही की गई थी। इनके अलावा भी समाज का एक बड़ा वर्ग पिछड़ा ,वं शोषित है। उसका उत्थान होना भी जरूरी है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर 1953 में काका कालेकर की अध्यक्षता में आयोग गठित किया गया जिसने अपनी रिपोर्ट 1955 में दे दी। इसमें आयोग ने 2399 जातियों की पहचान पिछड़ी जाति के रूप में तथा सभी महिलाओं को शामिल करने की बात भी कही, लेकिन स्वयं आयोग में सहमति न होने के कारण इनकी ओर ध्यान नहीं दिया गया।

1978 में मुरारजी देसाई की जनता पार्टी सरकार ने बिहार के पूर्व मुख्यमंत्री बी.पी. मण्डल की अध्यक्षता में दूसरी पिछड़ी जाति आयोग का गठन किया। आयोग ने 1980 में अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को सौंप दी। इस आयोग का उद्देश्य भी सामाजिक शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों की पहचान करने, उनके उत्थान के लिए दिशा तय करना था। आयोग ने हिन्दू धर्म के साथ–साथ अन्य धर्मों की कुल 3743 जातियों को शामिल किया और कहा कि इनकी संख्या कुल जनसंख्या का 54 प्रतिशत है। अतः इन्हें सरकारी नौकरियों तथा शैक्षिक संस्थाओं में प्रवेश के लिए 27 प्रतिशत आरक्षण दिया जाना चाहिए।

9वीं लोकसभा चुनाव में राष्ट्रीय मोर्चा ने अपने घोषणा पत्र में मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू करने का जो वादा किया था, उसी के अनुरूप 1990 में इसे लागू कर दिया गया। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण भारत में इसकी व्यापक प्रतिक्रिया हुई और 237 छात्रों ने आत्मदाह कर लिया। वास्तव में रिपोर्ट लागू करने के पीछे पूर्व प्रधानमन्त्री वी.पी. सिंह की गहरी राजनीतिक चाल थी, ताकि पिछड़े वर्ग की जातियों को अपना वोट बैंक बना सके।

32.6 आरक्षण की राजनीति

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में आरक्षण की राजनीति गहरे रंग में रंग गया है। आरक्षण के नाम पर वोट बैंक की राजनीति की जा रही है। इसी के चलते आरक्षण का 10वर्षीय संवैधानिक प्रावधान आज तक जारी है और सम्भवतया आगे भी जारी रहेगा। केन्द्र में बनने वाली प्रत्येक सरकार इस प्रावधान को समाप्त करने से कतराती है, क्योंकि उन्हें इस बात का भय सताता है कि आरक्षण विरोधी कदम उठाने पर आरक्षण का लाभ प्राप्त वर्ग का वोट बैंक उनके हाथों से निकल जाएगा। आज एक तरफ समाज के कुछ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

लोग आरक्षण व्यवस्था को समाप्त करने की बात करते हैं, वहीं कुछ वर्ग अपने को आरक्षण के लाभ से जोड़ना चाहते हैं। इसके लिए वे संगठित होकर अपने जातीय मंचों के द्वारा सरकारों पर दबाव डालते हैं। पिछले कुछ समय से राजस्थान की राजनीति में आरक्षण का मुद्दा छाया हुआ है। जाट, विश्नोई, कायमखानी, मेव तथा अन्य जातियाँ, अन्य पिछड़ा वर्ग (ओबीसी) में शामिल होकर आरक्षण का लाभ उठा रही है। वहीं दूसरी ओर कुछ उच्च जातियाँ राजपूत, ब्राह्मण, राजपुरोहित आदि आरक्षण की मांग कर रही है। ये वे जातियाँ हैं जिनके कारण समाज में असमानता बढ़ी और आरक्षण का प्रावधान करना पड़ा । लेकिन इन्हीं जातियों द्वारा आज आरक्षण की मांग करना दुर्भाग्यपूर्ण है। जहाँ तक ओबीसी आरक्षण का लाभ प्राप्त कर रही जातियों का प्रश्न है तो यह भी राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से कमजोर नहीं मानी जा सकती है इनका हर क्षेत्र में व्यापक प्रतिनिधित्व है लेकिन दबाव की राजनीति के चलते वे भी आरक्षण का लाभ प्राप्त कर रही है।

32.7 सारांश

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आरक्षण का प्रावधान हमारे संविधान निर्माताओं ने जिस उद्देश्य से किया था, वह समाप्त हो गया है। समाज का वास्तविक कमजोर व पिछड़ा वर्ग आरक्षण से वंचित है। इसी के चलते समाज की दुर्दशा में सुधार नहीं हो पा रहा है। राजनीतिक दल दलित एवं पिछड़ों के नाम पर अपनी स्वार्थ सिद्धि कर रहे हैं। अपनी इच्छानुसार जातियों को आरक्षण देकर अपने वोट बैंक को मजबूत कर रहे है उन्हें भविष्य की कोई चिन्ता नहीं है कि इससे समाज पर क्या असर पड़ेगा। आरक्षण के कारण योग्य एवं प्रतिभाशाली लोगों को अवसरों से वंचित होना पड़ रहा है और अयोग्य एवं निकृष्ट प्रवृत्ति के लोग समाज पर हावी होते जा रहे हैं। उनसे समाज के उत्थान एवं विकास की कल्पना व्यर्थ है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हमारे राजनीतिक दल आरक्षण से संबंधित अपनी नीति पर गम्भीरतापूर्वक विचार–विमर्श करें, ताकि आरक्षण का लाभ वास्तविक हकदार को मिल सके। आरक्षण से बढ़ने वाली समस्याओं से समाज को मुक्ति दिलाने के लिए कुछ ठोस कदम भी उठाये जा सकते है, जैसे–

1. आरक्षण जाति के आधार पर न होकर आर्थिक आधार पर दिया जाय।
2. यदि किसी परिवार का एक सदस्य आरक्षण का लाभ प्राप्त कर लेता है तो अन्य सदस्यों को इसका लाभ न दिया जाय।
3. आरक्षण भर्ती एवं पदोन्नति दोनों में से एक ही स्तर पर होना चाहिए।
4. आरक्षण की नीति की बजाए शिक्षा की मौलिक अधिकार बनाया जाए ताकि समाज का गरीब व्यक्ति उच्च शिक्षा आसानी से प्राप्त कर सके।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

निबन्धात्मक प्रश्न

1. आरक्षण के संवैधानिक प्रावधानों पर प्रकाश डालते हुए आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
2. आरक्षण भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की जड़ो तक पहुँच चुका है। इसे समाप्त करना अब असम्भव है। सिद्ध कीजिए।

लघुत्तरात्मक प्रश्न

1. अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के कल्याण हेतु संविधान में किये गये प्रावधानों का उल्लेख कीजिए।
2. आरक्षण की राजनीति पर प्रकाश डालिए।
3. आरक्षण से सामाजिक न्याय की अवधारणा को प्रोत्साहन मिला है। टिप्पणी लिखिए।
4. राजस्थान में आरक्षण की राजनीति बताओ।

अतिलघुत्तरात्मक प्रश्न

1. छूआछूत निषेध कौन–से अनुच्छेद द्वारा किया गया है?
2. लोकसभा एवं विधानसभा में आरक्षण की व्यवस्था किस अनुच्छेद में है?
3. प्रथम पिछड़ी जाति आयोग के अध्यक्ष कौन थे?
4. मण्डल आयोग का संबंध किससे है?
5. मण्डल आयोग की रिपोर्ट किस सरकार ने कब लागू की थी?

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

डी.डी. बसु भारत का संविधान, वाधवा प्रकाशन, मेरठ

सुभाष कश्यप भारतीय सरकार और राजनीति नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया

सुभाष कश्यप राजनीति कोष नेशनल बुक ट्रस्ट, इण्डिया

रामअवतार शर्मा, सुषमा यादव, भारतीय राजनीति : ज्वलंत प्रश्न हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय , दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

बी.एल.फड़िया, भारतीय शासन एवं राजनीति, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) ...com

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ–341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

स्नातक (प्रथम वर्ष)

विषय : राजनीति शास्त्र

द्वितीय पत्र :

भारतीय राजनीति व्यवस्था

संवर्ग

संवर्ग–1	:	भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन
संवर्ग–2	:	भारतीय संविधान
संवर्ग–3	:	भारतीय संघीय व्यवस्था का स्वरूप
संवर्ग–4	:	संसद निधि निर्माण एवं राज्यों की शासन व्यवस्था
संवर्ग–5	:	भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्त्व

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विशेषज्ञ समिति

1. **प्रो. पी.सी. भाटी**
   जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर
2. **प्रो. रमेश दाधीच**
   राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
3. **प्रो. बेला भणोत**
   बीकानेर
4. **डॉ. धर्मचंद जैन**
   भोलवाड़ा
5. **डॉ. जुगल दाधीच**
   लाडनूँ

लेखक

डॉ. मुख्त्यार अली

संपादक

प्रो. धर्मचन्द जैन

कापीराइट

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ

नवीन संस्करण : 2017

मुद्रित प्रतियां : 2500

प्रकाशक

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ – 341 306 (राजस्थान)

Printed at

M/s Nalanda Offsets, Jaipur

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

पाठ्यक्रम (Syllabus)

स्नातक (बी.ए.) प्रथम वर्ष

विषय – राजनीति शास्त्र

द्वितीय पत्र – भारतीय राजनीति व्यवस्था

संवर्ग–1 भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास :1919–1935 तक, भारत शासन अधिनियम 1919 तथा भारत शासन अधिनियम, 1935 के अन्तर्गत शासन व्यवस्था एवं क्रियान्वयन। 1935–1947 की अवधि में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं राजनीतिक विकास ।

संवर्ग–2 भारतीय संविधान निर्मात्री सभा एवं भारतीय संविधान का निर्माण। प्रस्तावना (Preamble) का स्वरूप, भारतीय संविधान की विशेषताएँ, मौलिक अधिकार एवं कर्तव्य, राज्य के नीति निदेशक तत्व

संवर्ग–3 भारतीय संघीय व्यवस्था का स्वरूप, केन्द्र तथा राज्यों के बीच विधायी, प्रशासनिक एवं वित्तीय सम्बन्ध। राष्ट्रपति का पद एवं उसकी शक्तियाँ– सामान्य एवं आपातकालीन, प्रधानमन्त्री एवं मन्त्री परिषद, लोकसभा एवं राज्य सभा : संगठन एवं शक्तियाँ, सर्वोच्च न्यायालय : संगठन एवं शक्तियाँ, न्यायिक पुनरावलोकन

संवर्ग–4 संसद एवं विधि निर्माण, संसद एवं बजट, राज्यों की शासन व्यवस्था : राज्यपाल, मुख्यमन्त्री एवं मन्त्री परिषद, भारत में संविधान संशोधन ।चुनाव आयोग, योजना आयोग, दल–बदल की राजनीति, भारत में संयुक्त सरकारें (Coalition Government)

संवर्ग–5 भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्व–जाति, धर्म, भाषावाद । भारतीय राजनीति की प्रमुख समस्याएँ – क्षेत्रीयवाद, साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीय एकीकरण, दलीय व्यवस्था एवं संसदीय शासन, आरक्षण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun

विषय सूची

क्र.सं.	इकाई	पृष्ठ–संख्या
1.	भारतीय शासन अधिनियम 1919	1–8
2.	भारत शासन अधिनियम 1935 के अन्तर्गत शासन व्यवस्था एवं क्रियान्वयन	9–16
3.	1935–1947 की अवधि में भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं राजनीतिक विकास	17–24
4.	भारतीय संविधान निर्मात्री सभा एवं भारतीय संविधान का निर्माण	25–36
5.	प्रस्तावना का स्वरूप	37–41
6.	भारतीय संविधान की विशेषताएँ	42–45
7.	मौलिक अधिकार एवं कर्त्तव्य	46–52
8.	राज्य के नीति निदेशक तत्व	53–57
9.	भारतीय संघीय व्यवस्था का स्वरूप	58–63
10.	केन्द्र तथा राज्यों के बीच विधायी	64–71
11.	राष्ट्रपति का पद एवं उसकी शक्तियाँ	72–78
12.	प्रधानमन्त्री एवं मन्त्री परिषद्	79–87
13.	लोकसभा एवं राज्य सभा : संगठन एवं शक्तियाँ	88–94
14.	सर्वोच्च न्यायालय : संगठन एवं शक्तियाँ	95–100
15.	न्यायिक पुनरावलोकन	101–105
16.	संसद एवं विधि निर्माण	106–108
17.	संसद एवं बजट	109–111
18.	राज्यपाल	112–119
19.	मुख्यमन्त्री एवं मन्त्री परिषद्	120–125
20.	भारत में संविधान संशोधन	126–130
21.	चुनाव आयोग	131–135
22.	योजना आयोग	136–139
23.	दल–बदल की राजनीति	140–149
24.	भारत में संयुक्त सरकारें	150–154
25.	जाति	155–158
26.	धर्म	159–161
27.	भाषावाद	162–164
28.	क्षेत्रीयवाद	165–170
29.	साम्प्रदायिकता	171–174
30.	राष्ट्रीय एकीकरण	175–180
31.	दलीय व्यवस्था एवं संसदीय शासन	181–188
32.	आरक्षण	189–192

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University) Ladnun